वैदिक व्याख्यान माला - ग्यारवाँ व्याख्यान

वेदोंका अध्ययन
और
अध्यापन

लेखक

पं श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य वाचस्पति, गीतालङ्कार

मूल्य छः आने

ॐ
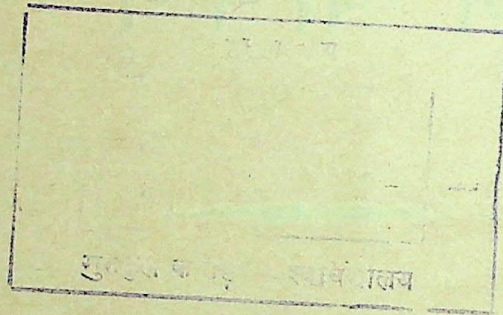
वेदोंका अध्ययन और अध्यापन

वेदका महत्त्व

भारत वर्षकी सभ्यता, संस्कृति और धर्ममर्यादा वेदके आधारपर खडी है यह सब जानते हैं। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं (मनु० २।६) अखिल वेद धर्मका मूल है, यह स्मृतिका कथन सत्य है। तथा—

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फला ज्ञेयास्तमोनिष्ठास्तु ताः स्मृताः॥
मनु० १२।९६

'जो वेदबाह्य स्मृतियां हैं, वे सब कुदृष्टियां हैं, वे सब तमोगुणवाली हैं, इसलिये वे सबकी सब निरर्थक हैं।' इतना तीव्र निषेध वेदबाह्य स्मृतियोंका मनुने किया है। वेदवचनोंकी इतनी उपयोगिता है और वेदविरुद्ध आज्ञाकी इतनी निरर्थकता है, इसलिये "वेदोंका अध्ययन करना सब कार्योंका परमधर्म है।" क्योंकि इस वेदमें ही श्रेष्ठ मानवधर्म कहा है, देखिये—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
मनु० १२।१००

'सेनासंचालन, राज्यका प्रबंध, दण्डनीयको योग्य दण्ड देना, तथा सर्व लोकोंके अध्यक्ष होकर कार्य करना आदि सब कार्य वेदशास्त्र जाननेवाले विद्वान पुरुषोंके करनेके कार्य हैं।' अर्थात् वेदशास्त्र जाननेवाला पुरुष उत्तम सेनाका सर्वोत्कृष्ट संचालन कर सकता है, राज्यशासन करनेका कार्य भी वेदशास्त्रज्ञ कर सकता है। न्यायधीशका कार्य तथा सब जनताकी उन्नतिके कार्य वेदज्ञ कर सकता है।' मनुस्मृति लिखनेके समय वेदशास्त्र जाननेवालोंकी योग्यता यह होती थी। आज हम वेदवेत्ता पंडितोंमें यह योग्यता नहीं देखते हैं, यह भी सत्य है, इसका कारण यही है, कि वेदाध्ययनकी पद्धति आज वह नहीं रही, जो मनुस्मृतिके समय थी, अथवा जिस रीतिसे गुरुकुलोंमें वेदाध्ययन अति प्राचीन समयमें होता था, वह रीति जाननेवाला आज हमारे पास कोई नहीं है। तथापि वेद वही है, कि जो मनुस्मृतिके समय था। इस वेदमें अर्थात् वेदके मंत्रोंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पर इन वेदमंत्रोंसे जो बोध उस समय पढनेवालोंके हृदयमें प्रकाशित होता था, वह वैसा आज नहीं होता। इसलिये आज हम वेदज्ञ पंडितको सेनापति, राज्यशासनाधिकारी, न्यायालयका अधिकारी अथवा लोक कल्याणके नाना कार्योंकी निग्राणी करनेके कार्योंको करनेके लिये नहीं रख सकते। आजकी यह स्थिति है। यह विपरीत स्थिति क्यों हो गयी है, इसका विचार करना चाहिये—

कण्ठस्थ वेद

प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंको विशेषतः और द्विजोंको सामान्यतः वेद कण्ठस्थ करना पडता था। प्रायः चारों वेदोंके २२००० मंत्र हैं। प्रतिदिन २५ मंत्र भी कण्ठ किये तो ३ वर्षोंमें चारों वेदोंके मंत्र कण्ठस्थ हो जाते हैं। यह कोई कठिन कार्य नहीं है। आज कल महाराष्ट्रीय वैदिक ब्राह्मण ऋग्वेदको कण्ठ करते हैं। प्राचीन समयमें चारों वेदोंको कण्ठ करते थे। आज भी गुरुकुलमें गया ब्रह्मचारी ८ वे वर्ष वेद कण्ठ करने लगे और प्रतिदिन ५।१० मंत्र भी कण्ठ करे, तो ५।७ वर्षोंमें चारों वेद कण्ठस्थ हो सकते हैं। यह असंभव नहीं है। पर इस कार्यको करनेकी इच्छा आज किसीके हृदयमें नहीं है।

पचास वार वेदपाठ

यदि सब वेद कण्ठ नहीं करना है, तो कमसे कम ५० वार वेदपाठ करना तो सरल बात है ना? पर यह भी आज

कल कोई नहीं करता। प्रतिघण्टा ५०० मंत्रोंका पाठ किया जा सकता है। इस हिसाबसे दो मासोंमें चारों वेदोंक एक वार पाठ होना असंभव नहीं है। एक वर्षमें छः वार और ४।५ वर्षोंमें २५।३० वार सहज ही से चारों वेदोंका पाठ होता है। जिनको वेदाक्षर पढनेका अभ्यास नहीं है, उनके लिये प्रथम डेढ दो गुना समय लगेगा, पर ३।४ वार पाठ होनेपर पूर्वोक्त समयमें वेदपाठ होना सरल बात है। दस वार पाठ होनेसे छोटे मंत्र कण्ठ होने लगते हैं और आगे वेदपाठ सुगम होता है। हमने घडी लगाकर देखा है कि, घण्टेमें ५०० मंत्र पढे जा सकते हैं। ३० वार वेदपाठ होनेसे बहुतसे मंत्र स्मरण होने लगते हैं। मंत्र-वचनोंका परस्पर संबंध आप ही आप अपने मनके सामने आने लगता है। और वेदका मन्तव्य वेदमंत्र सामने आनेसे स्पष्ट होने लगता है। और केवल पाठसे भी अद्भुत आनंद होता है। इस आनन्दका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता है। यह आनन्द तो वेही जानेंगे कि, जो वेदपाठ करेंगे। केवल पाठमात्रमें मन एकाग्र करनेका सामर्थ्य है। और मनकी एकाग्रता आनन्द देती है।

मनकी एकाग्रता

वेदके काव्यकी यह विशेषता है कि वह ठीक स्वरके साथ, अथवा मध्यम एक श्रुतिमें पठन करनेसे उस स्वरमें पाठकका मन तल्लीन हो जाता है। यह तल्लीनता तब आती है, कि जब विना रुके एक मध्यम स्वरसे वेदमंत्रोंका पाठ होने लगता है। जिन्होंने वेद कण्ठ किये हैं, उनके लिये तो यह मनकी एकाग्रता सहज साध्य होती है। पर जो ग्रन्थपाठक होंगे, उनको भी १० वार पाठ होनेके पश्चात एक स्वरमें बिना रुके पाठ करनेका अभ्यास होता है। तब मन वेदस्वरमें एकाग्र होने लगता है और सच्चा स्वरानन्द तो तब मिलता है।

जिनको थोडा संस्कृतका अभ्यास है, वे तो दस वारके पाठके पश्चात् बहुतसे मंत्रोंका अर्थ भी जानने लगते हैं और २५ वार पाठ होनेपर तो संस्कृतज्ञोंको आधेसे अधिक मंत्रोंका अर्थ स्वयं स्फुरण होने लगता है। अर्थात् केवल पाठ भी लगातार और प्रतिदिन करनेसे वेदार्थकी दृष्टीसे तथा मानसिक एकाग्रता होनेकी दृष्टीसे निःसंदेह लाभ होता है।

एक भ्रम

पाठकोंमें सामवेदके अंकोंके विषयमें एक भ्रम है। वे समझते हैं कि, साममन्त्रोंके स्वर-गानके स्वर हैं। पर वास्तविक वैसी बात नहीं है।

१ ऋग्वेद मंत्र—

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि।
धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ऋ. ३।६२।१०

२ सामवेद मंत्र—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

साम १४६२

यहां पाठक देख सकते हैं कि, जिस अक्षरके नीचे स्वर है उस अक्षरपर सामवेदमें ३ अंक है। जिस अक्षरके ऊपर खडा स्वर है उस अक्षरपर सामवेदमें २ अंक है और नीचे ऊपरके मध्य स्थानके अक्षरपर १ अंक है। अर्थात् ये अंक ऋग्वेदके ही स्वर दर्शानेवाले हैं और गानके साथ इन अंकोंका कोई संबंध नहीं है, इसी मंत्रका गान इस तरह होता है—

२ सामगायन—

तत्सवितुर्वरेणियोम् । भार्गो देवस्य धी--
माहीऽर । धियो यो नः प्रचोऽ१२-
१२ हिम् धिआऽर दायो आंऽ२३४५ ॥

यहां जहां अंक हैं वे गान स्वरोंके सूचक हैं। इसलिये यह गान गानेके लिये हैं और यह गाने चाहिये। पर सामवेदमें जो मन्त्र हैं और सामवेदके मंत्रोंपर जो अंक हैं, वे केवल उदात्तानुवाद स्वरके ही दर्शक हैं, गानस्वरोंके दर्शक नहीं है। यह स्पष्ट होनेपर भी लोग भ्रमसे अंकोंवाला सामवेद मंत्र देखते ही अशुद्ध रीतिसे अशुद्ध गान गानेके समान कुछ न कुछ आलाप लेने लगते हैं !!! यह जनताका भ्रम देखकर आश्चर्य होता है !!! इस तरह प्रमाद करना उचित नहीं है।

वेदमन्त्रोंका स्वरोच्चारण प्रत्येक वेदका विभिन्न है। ऋग्वेद, वाजसनेयी यजुर्वेद, तैत्तिरीय यजुर्वेद, काण्व यजु-

वेद, सामवेद और अथर्ववेदके वेदपाठमें विभिन्नता है। वह परंपरासे शाखाध्ययन करनेवाले जानते हैं। वह लेखनमें बताना अशक्य है। सर्व साधारणके लिये एक मध्यम स्वरमें एक श्रुतिसे मन्त्रपाठ करना योग्य है। प्रातःकालमें निम्न स्वरसे, मध्यदिनमें मध्यस्वरसे और साय समयमें ऊंचे स्वरसे वेदमंत्र बोले जा सकते हैं। 'सा रे ग' अथवा 'सा म नी' ये हार्मोनियमके स्वरोंके साथ पाठक वेद पाठ कर सकते हैं। साधारण मनुष्यके लिये केवल मध्यम स्वरमें मन्त्रपाठ करना योग्य है।

रागके आलापोंमें भी मंत्रोंका गान होता है। पर जो अर्थके ज्ञानके लिये वेदपाठ करना चाहते हैं, उनके लिये इसकी आवश्यकता नहीं है। वे अपने अनुकूल कष्ट न हो ऐसे स्वरमें वेदपाठ करें। अपने उच्चारे मंत्र अपने कानोंको सुनाई दें, इतना स्पष्ट उच्चारण बस है। जो नाना रागोंमें वेदमंत्रोंका गान करना चाहते हैं, वे गानविद्या जाननेवालेसे गान सीखें। यह विद्या सीखनेसे ही, अर्थात् गुरुमुखसे ग्रहण करनेसे ही आसकती है।

अर्थज्ञानके लिये वेद पाठ करनेवालोंको सामवेदका पाठ करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये मंत्र ऋग्वेदमें है, अर्थात् ऋग्वेदके पाठसे सामवेदका पाठ हो जाता है। इस ऋग्वेदमें नहीं है ऐसे ७०/८० मंत्र इस सामवेदमें हैं, वे शांख्यायन शाखाके ऋग्वेदमें प्रायः हैं। उतने लिखकर पाठ करनेसे सामपाठकी पृथक् आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुतः 'या ऋक् तत् साम' जो ऋग्वेदका मंत्र है, वही आलापके साथ गानेसे सामगान हो जाता है। इस लिये भी सामवेदका पाठ करनेकी पृथक् आवश्यकता नहीं है। अधिकसे अधिक जो साममंत्र ऋग्वेदमें नहीं हैं, उतने लिखकर उनका पाठ करना योग्य माना जा सकता है।

नित्यपाठके लिये वेद

वास्तवमें नित्यपाठके लिये चारों वेदोंके मन्त्र पुनरुक्ति न करते हुए प्रकरण बांध कर छापने चाहिये। इससे करीब १६००० मंत्र नित्य पाठके लिये मिलेंगे और प्रतिदिन एक घण्टा वेद पाठ करनेसे एक महिनेमें संपूर्ण वेदपाठ हो सकेगा। ऐसी पुस्तक बननेके लिये लिखवाई और छपाई मिलकर कमसे कम १५०००) रु. व्यय होगा और तीन हजार प्रतियां इतने व्ययसे बनेगीं। अर्थात् ७) रु. मूल्यसे ऐसी नित्य पाठकी पुस्तक लोगोंको मिलेगी।

*

मंत्र--पद--अन्वय

नित्य पाठके लिये चारों वेदोंके प्रकरण बनने चाहिये यह पहिली बात है। इसी तरह उपर मंत्र, बीचमें पदपाठ और नीचे अन्वय ऐसे वेदोंके पुस्तक छापकर तैयार मिलने चाहिये। उदाहरणके लिये एक मंत्र यहां हम देते हैं–

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा।
शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनां।
अरान् न नेमिः परिता बभूव॥ ऋ. १।३२।१५

पदपाठ — इन्द्रः। यातः। अवऽसितस्य। राजा। शमस्य। च। शृङ्गिणः। वज्रऽबाहुः। सः। इत्। ऊँ (इति)। राजा। क्षयति। चर्षणीनां। अरान्। न नेमिः। परि। ता बभूव॥

अन्वय पाठः— वज्रबाहुः इन्द्रः, यातः अवसितस्य, शमस्य शृङ्गिणः च, राजा (अस्ति)। सः इत् उ चर्षणीनां राजा (भूत्वा) क्षयति। ता (तानि सः) परि बभूव, अरान् नेमिः न॥

इसके नीचे थोडीसी टिप्पणी दी जाय तो अच्छा होगा। इसकी उक्त वेदमुद्रणसे चारगुणा लिखवाई और छपाई होगी। अर्थात् यह ६००००) साठ हजार रु. से बननेवाला ग्रंथ होगा और यह तीन भागोंमें प्रकाशित होगा और मूल्य कमसे कम १५) होगा। पर नित्यपाठके लिये यह अप्रतिम ग्रंथ होगा और साधारण संस्कृत जाननेवाला इस ग्रंथका २।३ वार पाठ करनेसे वेदज्ञाता बन सकेगा। तथा वेदकी कठिनाई की समस्या इसके बननेसे तत्काल दूर होगी।

वास्तवमें वेदके अर्थज्ञानकी कोई समस्या ही नहीं है। इस तरहके ग्रंथ निर्माण करनेकी ही बात है। ऐसे ग्रंथ हो जायगे, तो हरएक वेदधर्मी वेदपाठ करेगा और ४।५ वर्षोंमें वेदका ज्ञाता बनेगा। यदि किसीकी न्यूनता है, तो इस ग्रंथके लिये व्यय करनेवाले धनिकोंकी ही न्यूनता है। धनी लोग इसका महत्त्व समझते नहीं, और वैदिक-धर्मियोंमें भी वेदज्ञानकी उतनी आतुरता नहीं है कि जितनी

आतुरता ऐसे कार्य करनेके लिये आवश्यक होती है। केवल इस कारण ही वेद दुर्बोध रहा है।

सुबोध वेद

आधुनिक बाणभट्टकी कादबरीकी अपेक्षा वेद बहुत ही सुबोध है। वेदमंत्रोंमें लंबे लंबे समास नहीं हैं। जैसे आधुनिक ग्रंथोंमें होते हैं। बडे भारी कठिन पद नहीं। सीधे सादे पद हैं। इसलिये यदि वेद इस तरह पूर्वोक्त प्रकार मुद्रित किये गये, तो सबकी गति वेदमें हो सकती है। देखिये एक दो मंत्र वेदके कैसे सरल हैं—

त्वं महाँ इन्द्र तुभ्यं ह क्षाः
अनु क्षत्रं मंहना मन्यत द्यौः।
त्वं वृत्रं शवसा जघन्वान्
सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानान् ॥ ऋ. ४।१७।१

पदपाठ— त्वं। महान्। इन्द्र। तुभ्यं। ह। क्षाः। अनु। क्षत्रं। मंहना। मन्यत। द्यौः। त्वं। वृत्रं। शवसा। जघन्वान्। सृजः। सिन्धून्। अहिना। जग्रसानान् ॥

अन्वय— हे इन्द्र! त्वं महान् (असि)। क्षाः मंहना तुभ्यं ह क्षत्रं अनुमन्यत। द्यौः (च अनुमन्यत) त्वं शवसा वृत्रं जघन्वान्। अहिना जग्रसानान् सिन्धून् सृजः॥

अर्थ— हे इन्द्र! तू बडा है। पृथिवीने तेरे महत्व-पूर्ण क्षात्रबलके लिये अनुकूलता दर्शायी। द्युलोकने भी (अनुकूलता दर्शायी)। तूने अपने सामर्थ्यसे वृत्रका वध किया। शत्रुने ग्रस्त किये नदियोंके प्रवाहोंको तुमने खुला कर दिया।

कितना सरल अर्थ है देखिये। अब इस मन्त्रसे बोध इस तरह लिया जाता है।

१ त्वं महान् असि— तू बडा है। जैसा वह बडा है, वैसे हम बडे बनें। बडे बननेका यत्न करना चाहिये।

२ त्वं वृत्रं जघन्वान्— तूने वृत्रका वध किया। वृत्र नाम घेरनेवाले शत्रुका है। शत्रुका वध करना योग्य है। राजा राष्ट्रके शत्रुका वध करे; राष्ट्रको निर्भय करे। स्वयं बडा बलवान बने और शत्रुका नाश करे।

३ अहिना जग्रसानान् सिन्धून् सृजः— शत्रुने अपने आधीन किये जलप्रवाहोंको इन्द्रने सब लोगोंके हित करनेके लिये मुक्त किया। इसी तरह राष्ट्रका राजा शत्रुके आधीन हुए जलप्रवाहोंको राष्ट्रकी प्रजाका हित करनेके लिये शत्रुके अधिकारसे मुक्त करे और सबके हितार्थ खुले छोड देवे।

ऐसा करनेवाले वीरकी सब प्रशंसा गाते हैं। इस तरह अर्थबोध सरल है और सबके समझमें आ सकता है।

मंत्रके सरल अर्थको देखना और उस अर्थको व्यक्तिके जीवनमें तथा राष्ट्रके जीवनमें घटाना यह है वैदिक पद्धति और यह पद्धति अत्यंत सरल है। इन्द्रने वृत्ररूपी शत्रुको मारा। यह व्यक्तिके जीवनमें घटानेसे कामक्रोधरोगादि शत्रुओंको दूर करनेका भाव स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि ये ही व्यक्तिके क्षेत्रमें शत्रु है। और इन्द्र ही राष्ट्रीय क्षेत्रमें नरेन्द्र अर्थात् राजा है। वह अपने राष्ट्रीय शत्रुको, अन्तर्गत और बाहरके शत्रुको दूर करे यह भाव राष्ट्रीय क्षेत्रमें प्रकट होता है।

यह भाव मन्त्रके मननसे विदित हो जाता है। इसी लिये मन्त्रका मनन करना चाहिये, ऐसा अनादि कालसे कहते आये हैं। मनन करनेसे मन्त्रसे बोध मिलता जाता है। अब एक उदाहरण और देखिये—

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा
शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजाः
अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥ ऋ. ७।२०।३

(युध्मः) युद्ध करनेमें अपना मन रखनेवाला, युद्ध करनेमें तत्पर, (अनर्वा=अन्+अर्वा) युद्धमें कभी पीछे न हटनेवाला अतएव शत्रुरहित, (खज-कृत्) युद्ध करनेमें अत्यंत कुशल, (समद्वा) स्पर्धा करनेवाला, शत्रुसे विरोध करनेमें समर्थ, (शूरः) शूरवीर, (सत्रा+षाट्) सब शत्रुओंका पराभव करनेवाला, शत्रुओंको भगानेवाला, शत्रुका पूर्णनाश करनेवाला, (जनुषा ईं अषाळ्हः) जन्मसे ही सदा विजयी, शत्रुद्वारा कभी पराभूत न होनेवाला, जन्मस्वभावसे ही शत्रुका विनाश करनेमें प्रवीण, (स्वोजाः= सु+ओजाः) उत्तम बलवान, प्रभावी सामर्थ्यसे युक्त, ऐसा यह (इन्द्रः) शत्रुका विदारण करनेवाला वीर (पृतनाः वि आसे) शत्रुके सैनिकोंको तितर बितर करता है, भगा देता है। और (शत्रूयन्तं विश्वं जघान) शत्रुता करनेवाले सब दुष्टोंको मारता है।

यह मंत्र अत्यंत स्पष्ट है और अत्यंत बोध देनेवाला है। ये दो मंत्र उदाहरणके तौरपर यहां बताये हैं। ऐसे ही सरल अर्थवाले सहस्रों मन्त्र वेदमें हैं। इसका दूसरा कोई अर्थ नहीं होता है। अर्थ स्पष्ट है, सरल है, किसी तरह अधिक मननकी आवश्यकता नहीं है। वेद प्रायः ऐसे मंत्रोंसे भरा है। सरल मंत्रोंके उदाहरणके लिये और यहां एक मंत्र दिखलाते हैं--

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी।
ता देवाः समकल्पयन्नियं जीवातवा अलम्॥

अथर्व. ६।१०९।१

'पिप्पली औषधी (क्षिप्त-भेषजी) उन्मादरोगकी औषधी है, और (अतिविद्ध भेषजीः) अत्यंत वींधनेवाली बीमारीकी औषधि है (देवाः तां समकल्पयन्) देवोंने उस औषधिको संकल्पपूर्वक बनाया है। (इयं जीवातवै अलं) यह औषधि दीर्घजीवनके लिये पर्याप्त है।'

यह अर्थ भी अत्यंत सरल और अत्यंत स्पष्ट है। किसी तरह विशेष दूरान्वय की अथवा शब्दके गूढ अर्थ देखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो आयुर्वेद, वैद्यक, रोगनिवारण आदि विषयके मंत्र हैं, वे सब ऐसे ही सरल और सुबोध हैं। ऐसे मंत्र भी करीब एक हजार हैं कि जहां अर्थके विषयमें संदेह नहीं हो सकता।

इन मंत्रोंकी भाषा सरल, सुबोध, तत्काल समझमें आनेवाली है। ऐसे मंत्रोंके अनेक अर्थ भी नहीं होते हैं। इनका अर्थ एक ही होता है और वह भी सरल है।

वेदमें कई मंत्र कूटमंत्र भी होते हैं। इनमें भी दो प्रकारके मंत्र हैं। एक मंत्र ऐसे हैं कि, जिनका अर्थ सरल होने पर भी भाव समझमें आना कठिन है और दूसरे वे मन्त्र कि जिनका शब्दार्थ भी कठिन और भाव भी कठिन। ऐसे मंत्र चारों वेदोंके पांच छः सो मंत्रोंसे भी कम हैं। इनको सचमुच कठिन कह सकते हैं। पर इनकी संख्या बहुत नहीं है। इस प्रकारके मंत्रोंका एक उदाहरण देखिये—

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत
एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः
प्रवयाप वयेत्यासते तते। ऋ. १०।१३०।१

इस मंत्रके शब्द सरल अर्थवाले हैं। इनमें एक भी कठिन अर्थवाला पद नहीं है। पर इसका भावार्थ कठिन है। इस मंत्रका शब्दार्थ देखिये—

(यः यज्ञः) जो यज्ञ (तन्तुभिः विश्वतः ततः) अनंत धागोंसे सब ओर फैला है और जो (देवकर्मेभिः एकशतं आयतः) देवोंके लिये कर्म करनेवालोंके द्वारा एक सौ (वर्ष) पर्यंत विस्तार युक्त हुआ है। (ये पितरः आययुः) जो पितर आये हैं, (इमे वयन्ति) वे यहां कपडा बुन रहे हैं। (तते आसते) फैलाये तानेके पास वे बैठते हैं और कहते हैं कि (प्र वय) आगे बुनो, (अप वयय) बाजूमें बुनो।

इस मंत्रके शब्द अत्यंत स्पष्ट अर्थवाले हैं। एक भी कठिन पद यहां नहीं है। पर अर्थ गूढ है। यहां सौ वर्ष की आयुका वस्त्र बुनना है। यह सौ वर्ष दीर्घायुका कपडा बुनना है। दिव्य कर्म करनेवालोंके प्रयत्नसे यह कपडा बुना जाना चाहिये। सौ वर्षका जो आयुका काल है, वह इसकी लंबाई है। प्रतिदिन दिव्य कर्मोंके सूत्रोंसे तिरछे धागे भरे जाते हैं। इनमें रंगी बिरंगी धागोंसे सौंदर्य लाया जाता है। जो सत्कर्म करनेवाले हैं और जो संरक्षक हैं, वे इस वस्त्रके समीप बैठते हैं और वे कहते रहते हैं कि हां यहांतक हुआ है अब आगे इस तरह करो, इसके आगे इस रीतिसे करो। ऐसा वारंवार कहते हैं। संक्षेपसे यह भाव इसका है। इस पर जितना विचार होगा उतना थोडा है।

ऐसे मंत्र समझनेके लिये कठिन होते हैं। दूसरे मन्त्र जिनमें पदार्थ भी कठिन और अर्थ तथा भावार्थ भी कठिन होते हैं वे सचमुच कठिन हैं। पर ऐसे मंत्र बहुत थोडे हैं। अस्तु इस तरह विचार करनेसे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि, सचमुच वेदका अर्थज्ञान होना कठिन नहीं है। साधारण मनुष्य संस्कृत सीखे और वेदका पारायण करता जाय। दस पारायण होनेपर आधे वेदके मन्त्र समझमें आते जांयगे। और आगे जैसे पारायण होते जांयगे वैसे अधिक मंत्र समझमें आते जांयगे।

वेद पढनेवालोंकी सुविधाके लिये मन्त्र-पद-अन्वय-सरल अर्थ जिसमें क्रमपूर्वक छापे हैं ऐसे पुस्तक तैयार होने चाहिये। यदि ये बनेंगे तो वेदधर्मका प्रचार अतिशीघ्र हो जायगा। आजतक यह क्यों नहीं बना, यह बात समझमें नहीं आती है। वेद प्रचारपर इतना व्यय हुआ, पर ५०।६०

हजार रु. खर्च करके ऐसा ग्रंथ बनानेकी बात किसीके ध्यानमें भी आयी नहीं ! ! इसमें कुछ भी मुश्किल नहीं है। केवल थोडेसे प्रयत्नकी ही आवश्यकता है। पर यह कार्य अतिशीघ्र होना चाहिये।

धन होनेपर भी दारिद्र्य

वेद जैसा अपूर्व ग्रन्थ अपने पास हो और वह अति दुर्बोध ही बना रहे तो उसके अभिमानसे किसका क्या लाभ होनेवाला है ? साहुकारके घरकी तिजोरीमें करोडों रु. भरे हैं, पर उस पेटीकी चावी गुम हो चुकी है। नयी चावी नहीं बनती और पुरानी मिलती नहीं। तो जिस तरह वह धनी निर्धन जैसा होता है, वैसी ही भारत वर्षकी अवस्था बनी है। भारतीयोंके पास वेद है, पर वेद सरल होनेपर भी उसका समझनेवाला कोई नहीं है। वह वेद किसीके समझमें नहीं आता, यही उसकी महत्ता आज वर्णन की जाती है !!! भला इस तरहकी महत्ताका अर्थ ही क्या है ? यदि सचमुच वेद समझमें न आनेवाला है, तब तो वह मानवोंके लिये निकम्मा है। जो समझमें आ सकता है, और आचरणमें लाया जा सकता है, वह तो धर्मग्रंथ माना जा सकता है। पर जो किसीके समझमें ही नहीं आता, वह धर्मग्रंथ किस तरह माना जा सकता है ?

वास्तवमें बात यह है कि, वेद समझमें आनेवाला ग्रंथ है। हमने इसकी प्रक्रिया ऊपर बतायी है। वैसा ग्रंथ तैयार करनेपर वेद आसानीसे समझमें आ सकता है। आजतक वेदके विषयमें हिंदुओंने जो अत्याचार किये उसका फल आजकी हिन्दुओंकी अवस्था है। इसका थोडासा वर्णन अब हम करते हैं—

वैदिकोंकी वृत्ति

वास्तवमें वैदिकोंके प्रयत्नसे आजतक वेदकी सुरक्षा हुई है। इसलिये वैदिक ब्राह्मणोंके जगत् पर अनंत उपकार है। निःसंदेह इनके उपकार हैं, पर इन्होंने एक बडा प्रमाद भी किया, जिस कारण इनके उपकारका लाभ जितना होना चाहिये था, उतना नहीं हो सका। '**कलौ आद्यन्तावस्थितिः**' ऐसा एक वचन खडा करके कलियुगमें ब्राह्मण और शूद्र ही हैं, कलियुगमें क्षत्रिय और वैश्य नहीं है, ऐसा कह कर क्षत्रिय वैश्योंको भी शूद्रोंमें गिन लिया। इससे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ये तीन वर्ण वेदोंके अधिकारी थे और वेद पढते थे, अकेले शूद्र ही वर्जित थे। पर वे शूद्र भी '**अदुष्टकर्मणां उपनयनं**' सत्कर्म करनेवाले शूद्रोंका उपनयन होकर उनको भी वेदका अधिकार मिलता था, उस स्थानपर केवल ब्राह्मणोंको ही वेदका अधिकार रहा। स्त्रियोंको भी उपनयन न होनेसे वेदाधिकार रहा नहीं। जनसंख्यामें आधी स्त्रियां होती हैं, उनको वेदाधिकार नहीं। यद्यपि वेदमें मन्त्रद्रष्टी ऋषिकाएँ हैं, तथापि उनके मंत्रोंको पढनेका अधिकार भी स्त्रियोंको न रहा। क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंका तो वैसा ही अधिकार न रहा। केवल ब्राह्मणोंको ही वेदाधिकार रहा।

इसका परिणाम यह हुआ कि बहु जनसंख्याका वेदसे संबंध ही न रहा। और केवल ब्राह्मणोंके पास ही वेद रहा, उन्होंने वेदका रक्षण तो किया, पर बहुजन समाजसे वेदका संबंध तोड दिया। वेदमें मानवधर्म है, और मानवसमाजके तीन चौथाई भागको वेदका पता भी नहीं। यह अवस्था हितकारक नहीं है। इसका परिणाम बहुजनसमाज वेदसे दूर हुआ। आजतक यही अवस्था रही है। आज भी हिंदुओंमेंसे बहुजनसमाज वेदको जानता भी नहीं, फिर पढना, आचरण करना और उस वेद धर्मका पालन करना तो दूर ही रहा।

अच्छा केवल ब्राह्मणोंने वेदका संरक्षण किया। इसका अर्थ वेदके शब्दोंका उन्होंने संरक्षण किया। बडे परिश्रमसे संरक्षण किया। जगत्में इसके लिये दूसरी तुलना नहीं है, ऐसी युक्तिसे इन्होंने वेदोंका संरक्षण किया। पद अक्षर वर्ण स्वर मात्रा सबका उत्तम रीतिसे संरक्षण किया। यह सब यश ब्राह्मणोंको ही सर्वथा है। पर उन्होंने भी वेदका अर्थ जाननेका यत्न नहीं किया। वेदके अक्षरोंको वे कण्ठ करते रहे। १२ वर्ष अध्ययन करके एक वेदका संरक्षण ये करते थे। चारों वेदोंका संरक्षण करना कठिन कार्य था, एक एक वेदके पाठक तैयार किये गये और इन्होंने संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-सूत्र आदि ग्रंथोंके अक्षरोंका संरक्षण किया। स्वयं भी अर्थ देखनेका यत्न नहीं किया। यह भी एक आश्चर्य ही है !!! इतना अक्षरोंका भार उठाना, पर एक मंत्रका भी अर्थ न देखना, यह कितना आश्चर्य है ! इनका वर्णन निरुक्तकारने ऐसा किया है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं योऽभिजानाति नार्थम् ।
निरुक्त १।६।१९

'यह भार उठानेवाला खम्बा है, जो वेदोंका पठन करके मन्त्रके अर्थको नहीं जानता।' निरुक्तकारके समयमें भी ऐसे वेदपाठी होंगे, जिनके विषयमें उसने ऐसा लिखा है। आज सेकडों वर्षोंसे वेदपाठियोंका वेदाध्ययन ऐसा ही चला है। वेदरक्षण करनेके लिये इन सबको सहस्रशः धन्यवाद हैं। पर इन्होंने ब्राह्मण जातिको छोडकर किसी अन्यको वेद सिखाया नहीं। न वेदपाठके पास अन्योंको आने दिया। शूद्र वेदपाठ सुने तो उसके कानमें तहरस डालनेतक दुराग्रह बढाया! अन्य जातियां वेद पाठियोंकी निंदा इसी कारण करने लगी। बुद्धने अपना संप्रदाय पृथक् निर्माण किया और प्राकृत भाषामें उपदेश करना प्रारंभ किया। यह एक प्रकारका वैदिकोंका द्वेष ही था। ऐसी प्रवृत्ती क्षत्रिय, वैश्य शूद्रोंमें होनेका कारण ही यह ब्राह्मणोंकी वृत्ति था। अतिप्राचीन वैदिक समयमें त्रैवर्णिक अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ये वेदाध्ययन करते थे। अतः वे संघटित थे। पश्चात् 'कलौ आद्यन्तावस्थितिः' कलियुगमें ब्राह्मण और शूद्र ही हैं, बीचके क्षत्रिय वैश्य नहीं है। ऐसा कहनेसे जो वेदाध्ययनका लोप हुआ, उसीका फल आज हम भोग रहे हैं।

वेदसंरक्षणकी व्यवस्था

ऐसा भी मान सकते हैं कि क्षत्रिय, वैश्यादिकोंने ब्राह्मणोंकी आजीविका चलानेका भार उठाया और ब्राह्मणोंसे कहा कि तुम 'वेदोंकी सुरक्षा करो'। ब्राह्मणोंने अपना संपूर्ण जीवन वेदोंकी सुरक्षाके लिये लगाया। अपनी आजीविकाके लिये कुछ भी दूसरा धंदा नहीं किया, धन नहीं कमाया, सुख नहीं भोगा। सब जीवन वेदोंकी सुरक्षाके लिये अर्पण किया। और वेदोंको आज दिनतक सुरक्षित रखा। आज जो वेद मिल रहे हैं वे इनके उठाये कष्टोंके कारण ही मिल रहे हैं। यह सब यश ब्राह्मणोंके लिये ही है।

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मण जातिका यह उपकार जानते थे। इसीलिये उन वैदिक ब्राह्मणोंका वे मान रखते थे और उनकी आजीविका चलाते थे। पर अंग्रेजोंके इस देशमें आनेके पश्चात् यह बात नहीं रही। अंग्रेजोंकी हिन्दुओंमें फूट डालनेकी नीतिके कारण ब्राह्मण और अब्राह्मणोंमें फूट उत्पन्न हुई और वह बढ गयी। और अन्य जातियाँ मानने लगीं की ब्राह्मण केवल बैठकर खाते हैं और हम कष्ट करके अन्न उत्पन्न करते हैं। इस तरहकी विचारधारासे वैमनस्य बढ गया और वेदविद्याके विषयमें अब्राह्मणोंमें आदर तो था ही नहीं, वे तो वेदोंसे कोसों दूर ही रहे थे। इसलिये उनके मनमें वेदोंके विषयमें आदर कैसे रह सकता था? इस तरह वेदका आदर नष्ट हुआ, वेदकी सुरक्षा करनेवाली ब्राह्मण जातीका आदर भी नष्ट हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण जातिकी आजीविका चलना बंद हुआ, और ब्राह्मणोंको अपनी आजीविकाके लिये दूसरे व्यवसाय करने पडे। इससे यह हुआ है कि आज वेदकी सुरक्षा कैसी होगी यह चिन्ता उत्पन्न हुई है। जो ५० वर्षोंके पूर्व नहीं थी।

भविष्यकी चिन्ता

वेदपाठियोंकी संख्या कम हो रही है और भविष्यमें वेदपाठी नहीं रहेंगे ऐसा दीख रहा है। वेदपाठी वेदका अर्थ जानते नहीं थे, पर कण्ठस्थ तो रखते थे। आज वेद जाननेवाले करके नामधारी पैदा हुए जो वेदको कण्ठस्थ तो नहीं करते और वेदका अर्थ भी संपूर्णतया नहीं जानते। यह अवस्था बहुत ही भयानक है।

हिंदुधर्म, हिंदुजाति तथा हिंदुसंस्कृतिके प्राणके स्थानमें वेद हैं। तथापि संपूर्ण हिंदु जातिके मनमें वेदके लिये कोई आकर्षण नहीं है। इसका कारण इतना ही है कि हिंदु जातिका वेदोंके साथ संबंध छूटकर हजारों वर्ष बीत गये हैं और अन्यान्य आधुनिक संप्रदायके ग्रंथोंके साथ हिंदु जातिका आकर्षण बढ गया है। इस कारण हिंदुजातिकी बडी हानि हो रही है। पर इसकी पर्वा किसीको भी नहीं है। हिंदुजातिके पास ऐसा कोई एक ग्रंथ नहीं है कि, जिसके संमानके लिये हिंदुजाति उठ सकती है। यह अनेक वर्षोंकी उदासीनता आज हिंदु जातिके लिये बाधक हो रही है।

आधुनिक ब्रह्म समाज, प्रार्थनासमाज, देवसमाज तथा आर्य समाज इन संस्थाओंमें एक ही आर्यसमाजने वेदोंके ऊपर सब आर्यजातिका मन केन्द्रित करनेका बडा भारी ओजस्वी प्रयत्न किया। इसका संपूर्ण श्रेय श्री स्वामी ऋषि दयानन्द सरस्वतीजीको है। परंतु हिंदुजातिके कोने कोने

*

तक वेदका संदेश पहुंचानेका कार्य इस संस्थासे भी नहीं हो सका। अब भविष्यमें क्या होगा, वह आज कहना कठिन है। पर इस समय वेदके विषयकी श्रद्धा हिंदु मात्रमें बढजानेका दिन बडा दूर ही है यह स्पष्ट है। वेद विषयमें श्रद्धा बढानेके कार्यको करनेवाली संस्था आर्यसमाजसे भिन्न दूसरी आज नहीं है यह भी सत्य है।

याज्ञिक और यज्ञकर्ता

वेदका संरक्षण करनेवालोंमें वेदपाठियोंके कार्यकी समालोचना हमने की। दूसरे स्थानपर यज्ञकर्ता अथवा याजकोंका स्थान है। वेद यज्ञके लिये उत्पन्न हुए हैं। ऐसा ये मानते हैं और वेदके मंत्रोंको यज्ञके कर्ममें ये प्रयुक्त करते हैं। श्रौत, स्मार्त और पौराणिक कर्म जो उपनीत द्विज करते हैं, उनमें वेदमंत्र बोले जाते हैं। श्रौत यज्ञोंमें वेदमंत्र प्रयुक्त होते हैं। पौराणिक पूजामें भी पुरुषसूक्त जैसे सूक्त बोले जाते हैं। जिनका उपनयन नहीं हुआ, वह जो कर्म करेगा, उसमें वेदमंत्र नहीं बोले जाते, उनके स्थान पर संस्कृत श्लोक बोले जाते हैं। पर जो कर्म उपनयन हुआ हुआ मनुष्य करता है, उसमें वेदमंत्रोंका प्रयोग होता है। यह सार्थ अथवा अर्थानुकूल ही होता है ऐसी बात नहीं है। नवग्रहोंके मंत्र अन्वर्थक नहीं हैं, पूजामें १६ उपचारोंके लिये १६ मंत्र पुरुषसूक्तके बोले जाते हैं, ये भी अर्थानुकूल नहीं हैं। अर्थानुसारी हो या न हो, कर्ममें वेदके मंत्र अवश्य बोले जांयगे। इस परिपाटीसे वेदके मंत्रोंका संरक्षण हुआ इसमें संदेह नहीं है। चारों वेदोंके सब मंत्र किसी न किसी कर्ममें बोले जाते हैं। वेदके रक्षण करनेके लिये इन याज्ञिकोंके लिये ऐसा करना पडा है और इससे वेदमन्त्रोंका आदर बढ गया और रक्षण भी हुआ।

पर इसमें एक बात बनी वह यह कि उपनयनका अधिकार जन्मतः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंको था। सत्कर्मकर्ता शूद्रोंको विशेष प्रसंगसे वह अधिकार मिलता था। यह अपवाद था। इन तीन वर्णोंमें कलियुगमें क्षत्रिय-वैश्य न होनेसे उपनयनका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही रहा। अन्य सब लोग शूद्रोंमें संमिलित हुए, इस कारण उपनयनसे वंचित रहे, इसी हेतुसे वेदाधिकारसे भी वे दूर रहे।

शूद्रने वेदमंत्र सुने तो उसके कानमें (त्रपुजतु) लाख या सीसा पिघलाकर डालनेतक पराकाष्ठाका दण्ड ग्रंथोंमें लिखा है पर ऐसा बनता था ऐसा दीखता नहीं। वैदिक समयके कवष ऐलूषकी कथा भी देखने योग्य है।

> ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रं आसत। ते कवषं ऐलूषं सोमात् अनयन्। दास्याः पुत्रः कितवो अब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्ट इति। तं बहिः धन्वोदवहन्। अत्र एनं पिपासा हन्तु। सरस्वत्या उदकं मा पात् इति। स बहिः धन्वोदूळ्हः पिपासयावित्त एतदपोनप्त्रीयं अपश्यत्। ... तं सरस्वती समन्तं पर्यधावत् ... ते वा ऋषयोऽब्रुवन्, विदुर्वा इमं देवा, उप इमं ह्वयामहा इति।
>
> ऐ० ब्रा० २।१९

' ऋषियोंने सरस्वती तीरपर सत्र नामक यज्ञ प्रारंभ किया। उनमें कवष ऐलूष ऋषि बैठा था। ऋषियोंने वहांसे उसको बाहर निकाला और कहा, यह दासीपुत्र जुआरा हमारे अन्दर कैसे बैठ सकता है। उन ऋषियोंने उसको नदीसे दूर वालुका प्रदेशमें रखा। प्यास इसको मारे, सरस्वतीका जल भी इसे न मिले। इस तरह वह प्याससे दुःखी हुआ और वह अपोनप्त्रीय सूक्त गाने लगा।... सरस्वती नदी दौडती हुई उसके पास पहुंची... यह देखकर ऋषि कहने लगे कि, देवोंने इसकी प्रार्थना सुनी, इसलिये हम भी इस कवष ऐलूषको अपने सत्रमें बुलायेंगे।'

ऐसा कहकर उन ऋषियोंने उसे अन्दर बुलाया। इस ऋषिके सूक्त ऋ. १०।३०-३४ तक हैं। यह कथा ऐतरेय ब्राह्मणमें है। शांख्यायन ब्राह्मणमें यह शूद्र अथवा अब्राह्मण होनेका वचन है। कुछ भी हो इस ऋषिने देखे ये पांच सूक्त ऋग्वेदमें हैं। ऐसे सूक्त द्रष्टा ऋषिको भी इतने कष्ट हुए थे। दासीपुत्र, जुआरा ऐसी गालियाँ भी इसको सुनाई। शूद्रके लिये ये कष्ट होते रहे। फिर शूद्रोंका प्रेम वेदपर किस तरह हो सकता है? मन्त्र सुननेपर कानमें तप्त रस गिरानेका दण्ड मिले और मन्त्रज्ञ होनेपर भी यज्ञसे बहिष्कृत होनेका अपमान सहना पडे यह कोई माननीय बात नहीं हो सकती है। इस तरह संपूर्ण शूद्रजाति तथा

पञ्चम वर्णीय लोगोंको वेदसे दूर ही रखा था। यद्यपि ऐसे इतिहास हम देखते हैं, तथापि वेदमंत्रमें चारों वर्णोंकी उन्नतिकी प्रार्थनाएं हैं, देखिये—

चारों वर्णोंकी समान उन्नति

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।

यजु. १८।४८

'ब्राह्मणोंमें, क्षत्रियोंमें, वैश्यों और शूद्रोंमें तेजस्विता रखो। वह तेज मेरे अन्दर रहे।' इस तरह वेद सर्व मनुष्योंके विषयमें समभाव रखनेको कहता है। तथापि पूर्वस्थानमें बतायी रीतिसे वेद ब्राह्मणोंने यज्ञमें प्रयुक्त करके सुरक्षित रखे यह सत्य है, पर अन्य जातियोंको वेदोंसे दूर रखा। यह ठीक नहीं हुआ। इसका दुष्परिणाम हम भोग रहे हैं। आज हिंदुओंका प्रेम वेदोंपर नहीं है, इसका कारण यही है।

जिस समय क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वेदसे दूर रखे गये थे, उस समय ये लोग आचारभ्रष्ट हुए थे, संस्कृत भाषा जाग्रत नहीं रही थी, आर्थिक क्लेशोंके कारण वेदाध्ययनके लिये जितना समय चाहिये, उतना इनके पास नहीं था। ऐसे अनेक कारण इस संबंधमें दिये जा सकते हैं। ऐसे और भी कारण होंगे। पर इससे यह स्पष्ट है कि, हिंदुओंमेंसे बहुतसे हिंदु वेदसे दूर रहे, इस कारण इस समय वेद सब हिंदुओंकी उदासीनताका विषय हुआ है।

याज्ञिकोंका ध्येय

याज्ञिकोंका ध्येय बडा उच्च था। यज्ञद्वारा आध्यात्मिक ज्ञान लोगोंको देना यह अत्यंत उच्च ध्येय इन याज्ञिकोंका था। ब्राह्मणग्रंथों और कल्प ग्रंथोंमें अनेक यज्ञोंका वर्णन है और यज्ञ आर्योंका जीवन सुधारनेका कार्य करता था।
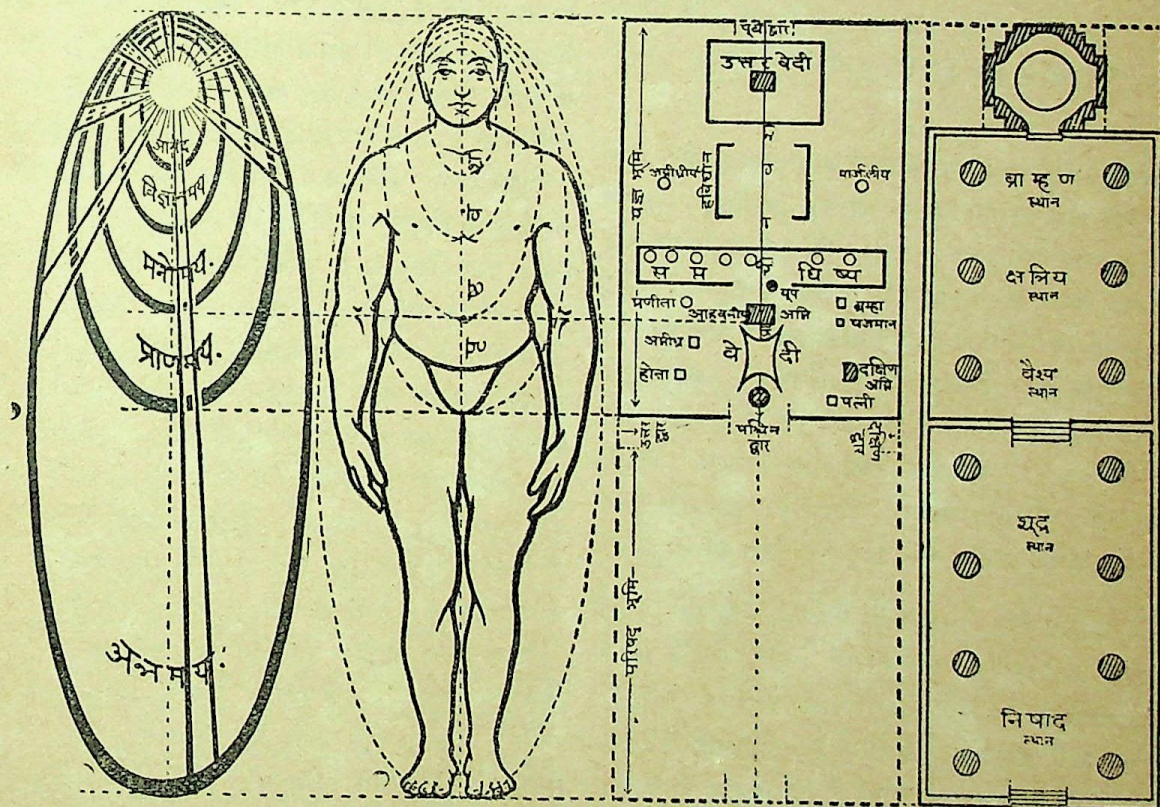
यज्ञशालाका चित्र मानव शरीरपरसे तैयार किया है। शरीरमें जो शक्तियां जहां है और वहां उनका जो संबंध है, वह यज्ञद्वारा बताना उनका उद्देश्य था।

सिरके स्थानपर उत्तरवेदी है, सप्त इंद्रियों (२ आंख, २ कान, २ नाक, १ मुख मिलकर सात इंद्रियों) के प्रतिनिधि सप्त धिष्ण्य हैं, पेटके स्थानपर आहवनीय आदि

अग्नि है। जिनमें अन्नका हवन होता है। उपस्थेन्द्रियके स्थानमें गार्हपत्याग्नि है, जिसमेंसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है। पात्रोंके स्थानपर सब सदस्य हैं। इस तरह शरीरका ही चित्र यज्ञशाला है। शरीरके अन्दरसे चलनेवाले कार्य यज्ञशालामें यज्ञद्वारा बताये जाते हैं। इस तरह यज्ञद्वारा शरीरके अन्दरकी अध्यात्मशक्तियोंका दर्शन होता है।

वेदका मुख्य विषय अध्यात्मज्ञान देना है, वह इस रीतिसे यज्ञद्वारा सिद्ध होता है। यज्ञ अनेक हैं और इष्टियाँ सेंकडों हैं। मानवी व्यवहारकी सुसिद्धता करनेके लिये इनका उपयोग है। उदाहरणार्थ देखिये, राष्ट्रपर राजाका निर्वाचन करनेके लिये राजसूय यज्ञ है, राष्ट्रको बढानेके लिये अश्वमेध है, सुपुत्र निर्माण करनेके लिये पुत्रकामेष्टि यज्ञ है, पर्जन्य लानेके लिये पर्जन्येष्टी है, मानवोंकी संघटना करनेके लिये नरमेध है, राष्ट्रमें गौओं और बैलोंका संवर्धन करनेके लिये गोमेध है। इस तरह अनेक यज्ञ और अनेक इष्टियाँ मानवोंका संगठन करके मानवोंकी उन्नति करनेके लिये हैं।

यज्ञमेंसे शूद्रोंको दूर रखा जाता था। इसका वर्णन इससे पूर्व किया है। पर 'नरमेध' में सब जातियोंके मानवों का संगठन करना मुख्य उद्देश्य होनेसे सभी जातियोंके मानवोंको यज्ञमण्डपमें लाकर बिठलाया जाता था, और सबका सत्कार किया जाता था। वन्य जातियोंको भी इस यज्ञमें स्थान था और सब जातिके लोग इस यज्ञमंडपमें आकर वेदमंत्र सुनते थे। शूद्रने मंत्र सुने तो उसके कानमें तप्त सीसेका रस डालनेकी क्रिया इस यज्ञमें नहीं हो सकती थी। और हमारे मतसे वैसा होता भी नहीं था। सर्व मानवोंका समभाव यहां प्रकाशित होता था।

इन सब यज्ञोंसे मानवोंकी उन्नति होती थी। जिस तरह राष्ट्रीय महासभा आज भारतमें होती है और उसमें राष्ट्रीय बातों और योजनाओंका विचार होता है, वैसा ही विचार यज्ञोंमें होता था। यज्ञमें सवेरे और शामको हवन होता था और बीचके ४।५ घण्टोंमें व्याख्यान होते थे। इस तरह ये यज्ञ राष्ट्रीय जीवनका सुधार करनेमें समर्थ थे। यद्यपि मन्त्रपाठ करनेमें शूद्रोंका अधिकार नहीं था, तथापि शूद्रोंकी भी उन्नति करनेके सब कार्यक्रम यज्ञोंद्वारा होते थे। सोमयाग ब्राह्मणोंका, अश्वमेध क्षत्रियोंके लिये, वाजपेय वैश्योंके लिये और नरमेध सब मानवोंके कल्याणके लिये होता था। इन यज्ञोंमें वेदमंत्र बोले जाते थे, इस कारण वेदोंकी सुरक्षा होती थी और साथ साथ मानवी कल्याणकी भी आयोजनायें होती थी। इस रीतिसे वैदिक आर्योंका जीवन यज्ञीय जीवन था, और जीवनकी उन्नति करनेके सब पहलु यज्ञोंद्वारा ही सचेत किये जाते थे, प्रतिदिनके यज्ञ, पाक्षिक यज्ञ, मासिक यज्ञ, चातुर्मास्य इष्टियाँ, वार्षिक यज्ञ, ऋतु यज्ञ, विशेष कारणके लिये यज्ञ ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञ होते थे, जिनसे आर्योंकी संघटना होती थी और सर्वांगीण उन्नति होती थी, तथा वेदकी सुरक्षा होती थी।

पौराणिकोंके प्रयत्न

वेदके संरक्षणके लिये जैसे वेदपाठियोंने तथा याज्ञिकों ने प्रयत्न किये, इसी तरह पुराण लेखकोंने भी प्रयत्न किये थे। वेदके अक्षरोंका रक्षण वैदिकों और याज्ञिकोंने किया। और पौराणिकोंने वेदके आशयका रक्षण किया, इतना ही नहीं, परंतु वेदके आशयको ब्राह्मणसे शूद्रतक पहुंचाया।

यज्ञमण्डपमें दो विभाग होते हैं। एक विभागमें हवन आदि यज्ञ क्रियाएं होती हैं और दूसरे विभागमें जन संमर्द जमा होकर बैठता है और वहां प्रवचन, धर्मचर्चा तथा शास्त्रार्थ होते हैं। यह स्थान हजारों मनुष्य बैठने योग्य होता है और शास्त्रचर्चाकी दृष्टिसे इसका महत्व होता है। पुराण गाथा सूत लोग गाते और जनताको कथाओंसे वैदिक धर्मका तत्त्व समझाते हैं। जो वेदमन्त्रोंमें गुह्य रीतिसे कहा रहता है, और जो यज्ञकी क्रियामें ओतप्रोत रहता है, वह तत्त्व तथा राष्ट्रीय उन्नतिके लिये आवश्यक अभ्यान्य ज्ञान इस सभामण्डपमें व्याख्यानों द्वारा, कथागानोंके द्वारा तथा प्रवचनोंद्वारा दिया जाता है।

वेदमन्त्रोंका गुह्यज्ञान सब लोग समझ नहीं सकते। इसके लिये उस ज्ञानको रोचक बनाकर कथाके रूपसे समझाया जाता है। 'सत्य बोलना' यह वेदोपदेश है, इसको समझानेके लिये राजा हरिश्चन्द्रकी कथा कहना और सत्य वचन, सत्य व्यवहार और सत्य विचारका महत्त्व सबको सुबोध रीतिसे समझाना पौराणिकोंका कार्य था। राष्ट्र उन्नति करनेमें इस कार्यका बडा भारी महत्त्व है। वेद गुह्य ज्ञान

कहते हैं तो थोडे पंडित इस विज्ञानको जान सकते हैं। इसी गुह्यज्ञानको कथाद्वारा समझानेसे सब लोग समझ सकते हैं। इस कारण यज्ञके मण्डपके एक विभागमें पुराण-कथा श्रवण तथा शास्त्रचर्चा होती थी। इस मण्डपमें शिल्पके प्रदर्शन, हस्तलाघवके प्रयोग, और चित्तके आकर्षण करनेवाले प्रसंग होते थे। जो सबके सब बोधप्रद और उपदेश करनेवाले होते थे।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।"

इतिहासों और पुराण कथाओंसे वेदके उपदेशको समझाना चाहिये ऐसा जो कहा है वह सत्य है।

इतिहास दो हैं, रामायण और महाभारत। पुराणें १८ हैं और उपपुराणें १८ हैं। ये पुराणोंके सब ग्रंथ मिलकर करीब चालीस लाख श्लोक हैं। इतना यह सब ग्रंथ विस्तार वस्तुतः वेदोंके सिद्धान्त जनतातक पहुंचानेके लिये था, परंतु लेखकोंने अपने अपने विचार बीच बीचमें घुसेड दिये और पुराणोंको बहुत ही बढा दिया है। इस कारण पुराणोंमें वैदिक और अवैदिक दोनों विचार इस समय दिखाई देते हैं। अतः आज इन इतिहास और पुराणोंसे वेदके सिद्धान्त प्रतिपादित हो रहे हैं ऐसा कहना अशक्य है। परंतु प्रारंभमें पुराण इसी कार्यके लिये थे।

इतिहास और पुराणोंसे वेदका आशय स्पष्ट करना चाहिये ऐसा स्मृति और शास्त्रोंका कथन है। वे इतिहास और वे पुराण अतिप्राचीन समयमें छोटे थे और पश्चात् वे पन्थाभिमानियोंने बढाये। इस कारण प्रक्षिप्त भाग पुराणोंमें बहुत है।

यद्यपि ऐसा है तथापि हम आज भी वेदकी व्याख्या करनेवाला भाग पुराणों और इतिहासोंमें कितना और कहां है इसका निर्णय कर सकते हैं। श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें वैदिक सूक्तोंके सूक्त अनुवाद करके दिये हैं। इसी तरह वैदिक मंत्रोंमें आये थोडेसे मूलसे बडी विस्तृत कथा पुराणोंमें दीखती है। इन्द्र-वृत्र युद्ध, अश्विनी कुमार, च्यवन, आदि कथाएं इसके उदाहरण रूपमें दी जा सकती है। अतः इनका मनन करके आज भी हम वेदमन्त्र और पुराणकी गाथाओंका परस्पर संबंध क्या है यह देख सकते हैं। यह विषय अत्यंत आवश्यक है और इसके ग्रंथ प्रकाशित होने चाहिये। यह विषय महत्त्वका है, अत्यावश्यक है, पर ४।५ पण्डित इसपर १०।२० वर्ष लगेंगे और इसपर पर्याप्त व्यय होगा, तब ये तुलनात्मक ग्रंथ लोगोंको मिल सकेंगे और इनसे जान सकेंगे कि कौनसे वेद भागसे कौनसे पुराणके भागका कैसा संबंध है।

वेदमें भी इतिहास पुराण हैं जैसा—

इतिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसी-श्चानुव्यचलन् ॥ ११॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १२॥

अथर्व. १५।६ ११-१२

ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥२४॥

अथर्व. ११।९ (७)।२४

यत आसीद् भूमिः पूर्वा या मद्धातय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥

अथर्व. ११।१० (८)।७

"उसके पीछे इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी ये सब चले। इतिहासका पुराणका, गाथाओंका और नाराशंसियोंका वह प्रिय धाम हो जाता है जो यह जानता है॥ (११-१२) ऋचाएँ साम, छन्द (अथर्व), यजुके साथ पुराण यह सब साहित्य उच्छिष्ट परमेश्वरसे बना है॥ (२४) पूर्व समयमें भूमि कैसी थी, यह ज्ञानी लोग जानते हैं, इसको (नाम था) नामके साथ जो जानता है उसको पुराण जाननेवाला कहा जाता है॥ (७)

इस तरह पुराणों, इतिहासों, गाथाओं और नाराशंसी अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंकी प्रशंसाके विषयमें वेदमें वचन हैं। यहां वेदमें इतिहास या पुराण है, ऐसा सुनने मात्रसे पाठकोंको चमकना नहीं चाहिये। यह इतिहास और पुराण आदिकी कल्पना ही पृथक् है।

इतिहास

युरोपीयन लोग विशेषतः ग्रीक लोग मानवोंका इतिहास विश्वसनीय रीतिसे लिखनेमें सुप्रसिद्ध है। आज ये मानवोंके इतिहास जगत्में सबोंके सामने हैं। भारतके ऋषिमुनि मानवी शरीरोंके हलचलको इतिहास नहीं कहते।

शरीरकी हलचल मानसिक विचारोंसे होती है। इसलिये मानसिक विचारों और भावोंका आन्दोलन कैसा होता है, यह देखकर हमारे ऋषिमुनि इतिहास या पुराण लिखते थे। इसलिये इसको शाश्वत इतिहास कहते हैं। यह शाश्वत इतिहास वेदमें हैं और इतिहास पुराणोंमें भी है।

इसीलिये "दशरथ × दशमुख" "धर्म × दुःशासन" ऐसे गुणबोधक नाम लिखे हैं। वास्तवमें लंकाके राजाका नाम 'रावण' (रोनेवाला) किस तरह होगा और भारतीय सम्राट् 'दुःशासन' (दुष्ट रीतिसे राज्य चलानेवाला) यह कैसा कौन बोल सकता है। वस्तुतः ये इतिहास मानवोंके ही हैं, पर ऐसे ढंगसे लिखे गये हैं कि जिससे उनकी मनोभूमिका पता पाठकोंको लगे और किस मनोविकारकी प्रबलता कहां होनेके कारण कौनसा युद्ध कहां हुआ। इस लिये ये इतिहास इस भूमिपर होनेपर भी ये सनातन और शाश्वत इतिहास हैं। और यूरोपके इतिहासोंके समान मानवोंके अशाश्वत इतिहास नहीं है। यह इतिहास पुराणकी भारतीय कल्पना समझना उचित है।

'पुराण' का अर्थ ही 'पुरा अपि नवं' प्राचीन समयमें हो जानेपर भी नवीन जैसा है। इसीलिये यह शाश्वत है। दुर्योधन, दुःशासन, दुर्मद, दुःशील ये धृतराष्ट्र पुत्रोंके नाम हैं। ये नाम ऐसे ही बुरे अर्थवाले धृतराष्ट्रने किस तरह रखे होंगे! कोई पिता अपने पुत्रोंके नाम इस रीतिसे दुष्ट भाववाले नहीं रखता। इसलिये हम कहते हैं कि ये कविके रखे नाम हैं। और मनोभाव बतानेके लिये यह रचना कविने की है। इस कारण यह इतिहास शाश्वत है।

पाठक हमारे भारतीय ऋषिमुनिरचित इतिहास-पुराणोंको इस शाश्वत दृष्टिसे समझनेका यत्न करें। तो उनमें इन्ही शब्दोंसे नवीन शाश्वतभाव प्रकट होगा और कोई किसी तरह भ्रम नहीं होगा। इतिहास पुराणका शाश्वत भाव ध्यानमें न आनेसे बडे विवाद व्यर्थ ही खडे हो गये हैं। वास्तवमें उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

इन इतिहास पुराणों गाथाओं और नाराशंसीयोंमें जितना शाश्वत भाव है, उससे वेदका तथा वैदिक ज्ञानका संरक्षण हुआ है। इसलिये ये भाग वेदकी सुरक्षा करनेवाले हैं।

आरण्यक

वेदमें अध्यात्मज्ञान है। अनेक रीतियोंसे यह ज्ञान वेदमें वर्णन किया है। इसका प्रकाश करनेके लिये आरण्यक और उपनिषद बने हैं। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञविधिका वर्णन करनेके लिये हैं, तथापि उनमें भी बीच बीचमें अध्यात्मका दर्शन कराया गया है। मूलतः यज्ञविधि भी अध्यात्मदर्शनके लिये ही है, तथापि उसका उद्देश्य राजकीय तथा सामाजिक अभ्युत्थान भी है। परंतु आरण्यकों और उपनिषदोंका उद्देश्य केवल अध्यात्मदर्शन ही है। वेदमें आत्मा बुद्धि मन इंद्रियाँ आदि शक्तियोंका जो वर्णन है वह प्रकट करके जिज्ञासुओंको बताना इनका कार्य है।

उपनिषदोंमें—

तत् एतत् ऋचा अभ्युक्तम्। छां. ३।१२।५
बृ. ४।४।२३; मुण्ड. ३।२।१०; प्रश्न १।७

तत्रैते द्वे ऋचे भवतः। छां ३।१७।६

तत् एतत् श्लोकेन अभ्युक्तम्। कौ. १।६

तत् एष श्लोकः। छां. २।२१।३; ३।११।१; ५।२।९;
५।१०।८ इ०। प्रश्न १।१०; ३।१० इ०

इति श्लोकाः। बृ० १।५।१

अथ एष श्लोको भवति। बृ० १।५।२३

तत् एष श्लोको भवति। बृ० २।२।३; ४।४।६।७

तत् एते श्लोका भवन्ति। बृ० ४।३।११

तत् अपि एष श्लोको भवति। तै. २।१।१

इस तरह अनेक स्थानोंपर अध्यात्मका प्रतिपादन करके उसकी पुष्टिके लिये वेद वचन दिये हैं। अर्थात् उस मंत्रके अध्यात्मज्ञानका वह विवरण है ऐसा समझना उचित है। इनमेंसे कई श्लोक या मंत्र आजकी उपलब्ध संहिताओंमें नहीं मिलते, उनका स्थान शाखा संहिताओंमें है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद मंत्रोंमें कहीं आत्मविद्याका प्रतिपादन आरण्यक और उपनिषद करते हैं। अर्थात् आरण्यक और उपनिषद वेदविद्याकी सुरक्षा करनेके लिये हैं। जितनी शाखाएँ हैं उतने उपनिषद हैं। आजकल इनकी संख्या थोडी है तो भी जो आरण्यक और उपनिषद हैं उनसे इस बातका स्पष्ट पता लगता है कि, वे नूतन विद्या बताते नहीं है, परन्तु जो विद्या वेदमंत्रोंमें है उसको प्रकटकर रहे हैं। इस विषयमें कहा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति
य इत् तद्विदुः त इमे समासते ।

ऋ. १।१६४।३९; अथर्व ९।१०।१८ तै. ब्रा. ३।१०।९।१४; तै. आ- २।११।१ नि. १३।१०

'ऋचाओंके-मन्त्रोंके अक्षरोंमें सब देव बैठे हैं। इस रहस्यको जो नहीं जानता है, वह मंत्र लेकर क्या करेगा पर जो इस ज्ञानको जानता है वह श्रेष्ठ होकर बैठता है।' यह रहस्य ज्ञान वेदमंत्रोंमें कैसा है, वह संक्षेपसे आरण्यकों और उपनिषदोंमें बताया है।

व्याकरण, छन्द आदि

वेदोंके संरक्षण करनेके लिये व्याकरण शास्त्र बनाया। शुद्ध पाठ कौनसा है, अशुद्ध पाठ कौनसा और क्यों है, इसका ज्ञान व्याकरणसे होता है। व्याकरणमें स्वर प्रकरण है। उदात्त अनुदात्त आदि स्वरोंसे अर्थज्ञान ठीक होता है। यह सब व्याकरणके अन्तर्गत विषय है। गर्ग, शाकटायन, आदि अनेक व्याकरणकर्ता हुए हैं। इनमें अन्तिम व्याकरण पाणिनी मुनिका अष्टाध्यायी नामक है। कात्यायनने वार्तिक बनाकर उसमें जो अपूर्णता थी वह दूर की है। पश्चात् इस-पर पतञ्जलिका महाभाष्य है। पाणिनी-कात्यायन-पतञ्जलि इन तीन मुनियोंके ग्रंथोंसे संस्कृत व्याकरण पूर्ण होता है। लौकिक और वैदिक भाषाका संपूर्ण व्याकरण यह है। जगत्में किसी भी भाषाका इतना उत्तम व्याकरण किसीने बनाया नहीं है जितना यह संस्कृत भाषाका व्याकरण बनाया गया है। इसमें लौकिक संस्कृत भाषाके रूप सिद्ध किये हैं वैसे ही वैदिक भाषाके भी सिद्ध किये हैं। वेदकी सुरक्षाके लिये इस व्याकरणकी अत्यंत आवश्यकता है।

छन्दः शास्त्रकी इसलिये आवश्यकता है कि कौनसे मंत्रका कौनसा छन्द है इसका पता लगे और उस मन्त्रके चरण कितने अक्षरोंके और कितने होते हैं, इसका ज्ञान हो। कई मंत्र दो चरणोंवाले, कई मंत्र तीन चरणोंवाले कई चार चरणोंवाले, इसी तरह कई मन्त्र अधिक चरणों-वाले होते हैं।

गायत्रीके ३ चरण, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहतीके ४ चरण, पंक्तिके ५ चरण, चार चरणोंकी भी पंक्ति होती है, त्रिष्टुप तथा जगतीके चार चरण, प्रगाथमें दो मंत्र, अतिजगती ५ चरण, शक्करी अष्टि, धृतिके ७ चरण, अतिधृतिके ८ चरण ऐसे चरणोंमें फरक है। गायत्रीके २४, उष्णिक्के २८, अनुष्टुप्के ३२, बृहतीके ३६, पंक्तिके ४०, त्रिष्टुप्के ४४, जगतीके ४८, प्रगाथके ६८, ७६, ८०; अतिजगतीके ५२, शक्करीके ५६, अतिशक्करीके ६०, अष्टिके ६४, अत्यष्टिके ६८, धृतिके ७२, अतिधृतिके ७६, कृतिके ८०, प्रकृतिके ८४, आकृतिके ८८, विकृतिके ९२, संकृतिके ९६, अभिकृतिके, १०० तथा उत्कृतिके १०४ अक्षर होते हैं। यह तो सर्व साधारण गणना है। इनमें भी विशेष भेद होते हैं। ऊपर गायत्रीके तीन पाद और २४ अक्षर होते हैं ऐसा सर्व साधारण नियम कहा है, पर इनमें ११ भेद हैं देखिये—

गायत्री	ह्रसीयसी	१९	अक्षर	६×६×७	अक्षरोंवाले	३ पाद
,,	विपरीता	,, ,,	,,	७×६×६	,,	,,
,,	अतिनिचृत्	२०	,,	७×६×७	,,	,,
,,	पाद ,,	२१	,,	७×७×७	,,	,,
,,	वर्धमाना	,,	,,	६×७×८	,,	,,
,,	प्रतिष्ठा	,,	,,	८×७×६	,,	,,
,,		२४	,,	८×८×८	,,	,,
,,	उष्णिग्गर्भा	,,	,,	६×७×११	,,	,,
,,	यवमध्या	,,	,,	७×१०×७	,,	,,
,,	पद पंक्तिः	२५	,,	५×५×५×४×६	,,	५ पाद
,,	,,	२६	,,	५×५×५×५×६	,,	,, ,,

इस तरह अन्य छन्दोंके भी अनेक भेद होते हैं। इतना सूक्ष्म विचार छन्दशास्त्रने किया है। इस कारण वेद मंत्रमें किस मंत्रके कितने पाद और प्रत्येक पादमें कितने अक्षर होते हैं यह निश्चित हुआ है। एक अक्षर भी इस कारण इधर उधर नहीं हो सकता। प्रत्येक मंत्रके अक्षर गिने गये हैं, इतना ही नहीं परंतु प्रत्येक पादके भी अक्षर गिने हैं। इतनी वेदकी सुरक्षा करनेके लिये ऋषियोंने बड़ा भारी प्रयत्न किया है। वह देखनेसे आश्चर्य प्रतीत होता है। हमने छन्दका ज्ञान देनेवाला लेख पृथक् मुद्रित किया है और हमारे मुद्रित ऋग्वेद आदि वेदोंमें ये चरण इस शास्त्रके अनुसार बताये हैं।

स्वरबोधके लिये स्वतंत्र पुस्तिका लिखी है जिसको देख-नेसे स्वरोंका भी ज्ञान हो सकता है। इन सबकी सूक्ष्मता

बहुत है। परंतु इन निबंधोंमें अत्यावश्यक ज्ञान दिया गया है। इसलिये पाठक ये निबंध अवश्य पढें और वेदकी सुरक्षा करनेके लिये प्राचीन ऋषि मुनियोंने कितने प्रयत्न किये थे। इसका ज्ञान प्राप्त करें। हमारे पूर्वजोंने इतना प्रयत्न किया था, यह देखकर हमें भी वेद संरक्षणके लिये कुछ यत्न करनेकी स्फूर्ति होनी चाहिये।

ज्योतिष

ज्योतिष शास्त्र खगोल विद्याका शास्त्र है। इसमें सूर्यादि गोलकोंकी गतिके गणित रहते हैं। वेदमें कई मंत्रोंमें ज्योतिष विषयक उल्लेख आते हैं। उनका अर्थ इस ज्योतिष शास्त्रसे विदित होता है। इसलिये वेद संरक्षणमें ज्योतिष शास्त्रकी आवश्यकता है। जो इस ज्योतिषको नहीं जानता वह ज्योतिष विषयक मंत्रोंका अर्थ केवल शब्दज्ञानसे ही नहीं जान सकता। और यदि ज्योतिष शास्त्रकी सहायता न लेते हुए वह उन मंत्रोंका अर्थ करेगा, तो वह अर्थ गलत होगा। इसलिये वेदानुसंधान करनेवालोंको इस ज्योतिष शास्त्रके अध्ययन करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इस ज्योतिष शास्त्रने कई वेदमंत्रोंका अर्थ निश्चित किया है और इस कारण वेदोंकी सुरक्षा हुई है।

निघण्टु और निरुक्त

वैदिक पदोंका कोश निघण्टु है और वैदिक पदोंका अर्थ, गुह्यार्थ किस रीतिसे जानना यह निरुक्तमें कहा है। उदाहरणार्थ कुछ पदोंका नैरुक्त अर्थ देखिये। इसके देखनेसे पता लगेगा कि निरुक्तका कितना उपयोग है—

अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। निरु०

'अग्नि किससे बनता है। अग्नि अग्रणी होता है।' अर्थात् पहिले 'अग्रणी' था उसका संक्षिप्त नाम अग्नि बना। यह कैसा बना देखिये—

अग्रणी=अग्र्नीः=अग्निः=अग्नि

अग्रणीका अर्थ अग्रतक ले जाता है। (अग्रं नयति, अग्रे नयति वा) नेता अग्रणी कहलाता है, इसका कारण यह है कि वह अपने अनुयायियोंको सिद्धितक पहुंचा देता है। बीचमें ही नहीं छोडता। यह अग्नि पदका रहस्यार्थ हैं। इस तरह कई पदोंकी व्युत्पत्तियां निरुक्तमें बतायी हैं जिनको देखनेसे वेदमंत्रके पदोंके रहस्यार्थसे मनुष्य प्रगति कर सकता है। निघण्टुमें पद दिये हैं और पदोंके गणोंका अर्थ दिया है और निरुक्तमें पदोंका गूढार्थ खोजनेको कूंजी बतायी है। वेदका अर्थदृष्टिसे संरक्षण इन दोनों शास्त्रोंने किया है।

निरुक्तमें जो अर्थ किये हैं, उनके सूचक मंत्र भाग वेदमें हैं। उनकी खोज करके निरुक्तका संपादन करना चाहिये और उन मंत्र भागोंको यथास्थान देकर यह निरुक्तका निर्वचन इस मंत्रके आधारसे किया गया है यह बताना चाहिये। निरुक्तका ऐसा संस्करण प्रकाशित होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

प्राचीन समयके ऋषि मुनि, वेद मूर्ति, पण्डित आदियोंने वेदका संरक्षण करनेके लिये इतने यत्न किये थे। इसके साथ अष्ट विकृति भी उन्होंने बनायी थी। इसका संक्षिप्त परिचय यहां कराते हैं—

१ मन्त्र पाठः

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा

ऋ० १०।९७।२२

२ पद पाठः

ओषधयः। सं। वदन्ते। सोमेन। सह। राज्ञा।

३ क्रमपाठः

ओषधयः। सं। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन। सोमेन सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा॥

४ पञ्चसन्धि

ओषधयः सं। सं सं। समोषधयः। ओषधय ओषधयः। ओषधयः सं॥ सं वदन्ते। वदन्ते वदन्ते। वदन्ते सं। सं सं। सं वदन्ते॥ वदन्ते सोमेन। सोमेन सोमेन। सोमेन वदन्ते। वदन्ते वदन्ते। वदन्ते सोमेन॥ सोमेन सह। सह सह। सह सोमेन। सोमेन सोमेन। सोमेन सह॥ सह राज्ञा॥ राज्ञा राज्ञा। राज्ञा सह। सह सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा॥

५ जटापाठः

ओषधयः सं, समोषधयः, ओषधयः सं॥ सं वदन्ते, वदन्ते सं, सं वदन्ते॥ वदन्ते सोमेन,

सोमेन वदन्ते, वदन्ते सोमेन ॥ सोमेन सह, सह सोमेन, सोमेन सह ॥ सह राज्ञा, राज्ञा सह, सह राज्ञा ॥ राज्ञेति राज्ञा ॥

६ माला पाठः

ओषधयः सं। राज्ञेति राज्ञा ॥ संवदन्ते राज्ञा सह ॥ वदन्ते सोमेन । सह सोमेन ॥ सोमेन सह । सोमेन वदन्ते । सह राज्ञा । वदन्ते सं। राज्ञेति राज्ञा । समोषधयः ॥

इस तरह वेदके प्रत्येक पदको यथास्थान सुरक्षित रखनेके लिये ऋषिमुनियोंने ये पदोंकी कृति और विकृतियां बनायीं थी। आज भी भारतमें ये विकृतियां विनाप्रमाद बोलनेवाले पंडित हैं। पर इनकी संख्या दिन प्रतिदिन कम हो रही है। ये विकृतियां इतनी ही हैं ऐसा कोई न समझे। इससे दुगुणी तो हैं। यहां केवल नमूनेके लिये ५।६ दी हैं। ये पद तथा क्रम ध्यानमें रखना कितना कठिन है इसकी कल्पना पाठकोंको इन विकृतियोंको देखनेसे हो सकती है।

पचास वर्षोंके पूर्व काशीमें इस तरह वेदपाठ करने वालोंकी संख्या हजार बारह सो थी, वहां अब दोसौ भी नहीं है। भविष्यमें इनकी संख्या नहीं रहेगी, ऐसे लक्षण दीख रहे हैं। आजतक इन ग्रंथोंने तथा इन वैदिकोंने वेदोंकी सुरक्षा की, आजतक इनकी आजीविका वेद विद्याके अध्ययनसे चलती थी। आज इनको कोई पूछता नहीं, इसलिये आर्थिक कठिनताके कारण इनकी संख्या न्यून हो रही है।

अब हमें क्या करना चाहिये ?

वेदको सुरक्षित रखनेके लिये अब हमें क्या करना चाहिये इसका विचार इस समय हमें करना चाहिये।

१ चारों वेदोंकी मुद्राएं (ब्लाक) अतिशुद्ध रीतिसे तैयार करनी चाहिये। एक भी अशुद्धि न रहे ऐसी व्यवस्था करके ये ब्लाक बनाये जांय। उत्तम तांबेके पत्रेपर ये ब्लाक बनाये जांय, तो इनसे लाख दो लाख प्रतियां अच्छी तरह छापी जा सकती हैं। अर्थात् ऐसा करनेसे वेदमुद्रणमें कुछ भी दोष होनेकी संभावना नहीं रहेगी।

२ दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि चारों वेदोंके ध्वनिमुद्राएं बनाना। इससे वेदपाठ किस तरह करते हैं इनका ज्ञान सबको होगा।

३ इसके पश्चात् मूल वेद, पदपाठ तथा अन्वयपाठ सहित शुद्ध छापना। यह नित्यपाठके लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। विश्वविद्यालयोंमें भी इससे अच्छी पढाई हो सकेगी। आजकी वेद पढाईकी कठिनता इससे दूर होगी।

४ अनुवाद समेत वेदोंका मुद्रण करना। ऊपर मंत्र, बीचमें अन्वय और नीचे अर्थ इस तरह ये पुस्तक चारों वेदोंके होने चाहिये। सर्व साधारण जनतातक ये ग्रंथ पहुंच सकते हैं। यदि वेदोंको सर्व साधारण घरतक पहुंचाना है, तब तो ऐसा मुद्रण करना अत्यंत आवश्यक है। ये अनुवाद हिंदी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजीमें छपने चाहिये।

५ इसके पश्चात् वेदमंत्र अथवा वेदवचन विषयवार छांटकर उनके संग्रह अर्थ और स्पष्टीकरणके साथ प्रकाशित होने चाहिये। वैयक्तिक जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन आदिके सभी विषयोंके संबंधमें जितने जहां वचन चारों वेदोंमें होंगे, वे सबके सब इस संग्रह ग्रंथमें मिलने चाहिये। एक भी वचन छूटना नहीं चाहिये। इस ग्रंथसे वेद धर्मके स्वरूपका ज्ञान यथार्थ रीतिसे हो सकेगा।

आजका जो वेदमंत्र संग्रह है वह विषयवार संग्रह नहीं है। प्राचीन समयमें मनुष्यके पास समय बहुत था, वैसा समय इस समय नहीं है। इसलिये जबतक एक एक विषयके मंत्र प्रकरणशः संग्रहित न किये जांयगे, तबतक वेदका धर्म प्रत्येक घरतक पहुंचनेकी कोई संभावना नहीं है। यह सब कार्य निष्पक्ष विद्वान ८।१० वर्षोंमें कर सकते हैं। और इस कार्यके लिये दस लाख रु. का एक 'वेदनिधि' बनना चाहिये। जिस निधिसे यह कार्य होता रहेगा।

इतना बननेके पश्चात् वेदकी पढाई-अध्ययन और अध्यापन-अच्छी तरह हो सकेगा और कोई कठिनता इसमें नहीं रहेगी। आज वेद पढाई न होनेका कारण यह है कि ये साधन ग्रंथ बने नहीं हैं। जब ये ग्रंथ बनेंगे, तब कोई कठिनता रहनेका संभव ही नहीं है।

जो वेदके प्रेमी हैं, वे इसका विचार करें और इस भारको उठावें। धनराशी बनेगी, तो बाकीका कार्य करनेवाले सुयोग्य पण्डित हमारे पास हैं और हम बाकीका ऊपर लिखा सब कार्य नियत समयमें करके देंगे।

प्रश्न

१ वेदका महत्त्व दर्शानेवाले मनुस्मृतिके वचन लिखो ।
२ वेदके मंत्र कितने हैं ?
३ वेद पाठ करनेसे क्या लाभ होनेकी संभावना है ?
४ सामवेदके स्वर और ऋग्वेदके स्वर कैसे हैं ?
५ सामगान किसका करना चाहिये ?
६ किसी एक मंत्रका पद और अन्वय लिखो ।
७ नित्य पाठके लिये वेद कैसे छपने चाहिये ?
८ वेद सुबोध है वा दुर्बोध ? वेदकी भाषा सरल है वा जटिल है ?
९ वेदके कौनसे मंत्र कठिन हैं ? सरल अर्थवाले मंत्र कितने हैं और कठिन मंत्र कितने हैं ।
१० वैदिकोंने वेदका संरक्षण कैसा किया ?
११ इससे क्या बना ?
१२ अब्राह्मणोंके अन्दर वेदका आदर क्यों नहीं ?
१३ वेद संरक्षणकी व्यवस्था अब किस तरह करनी चाहिये ।
१४ कौनसी संस्था वेदोंको पूर्णतया मानती है ?
१५ याज्ञिकोंने किस रीतिसे वेदका रक्षण किया ?
१६ कवष ऐलूषकी कथा कौनसा बोध देती है ?
१७ अध्यात्मकी शक्तियोंके आधारपर यज्ञकी रचना किस तरह हुई ?
१८ वेदके संरक्षणके लिये पौराणिकोंके प्रयत्न किस तरह हुए थे ? पौराणिकोंने वेदके संरक्षणार्थ क्या किया ?
१९ इतिहास और पुराणोंसे वेदके अर्थका स्पष्टीकरण कैसा होता है ?
२० ऋषियोंकी इतिहासकी कल्पना क्या थी ? शाश्वत इतिहासका अर्थ क्या है ?
२१ आरण्यकका स्वरूप क्या है ?
२२ व्याकरण छन्द आदिने क्या किया ?
२३ वेदमंत्रकी विकृतियां कैसी होती हैं ?
२४ अब हमें क्या करना चाहिये ?

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। 'वैदिक धर्म' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।≈)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ।॥), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् 'प्रकृतिगान' तथा 'आरण्यकगान' है। प्रकृतिगानमें अग्निपर्व (१८१ गान) ऐन्द्रपर्व (६३३ गान) तथा 'पवमानपर्व' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। आरण्यकगानमें अर्कपर्व (८९ गान), द्वन्द्वपर्व (७७ गान) शुक्रियपर्व ८४ गान) और वाचोव्रतपर्व (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल 'गानमात्र' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका संपूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≥) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२०" इंच मू० ।) रु, डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी.ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला - बारहवाँ व्याख्यान

वेद का
श्रीमद्भागवतमें दर्शन

लेखक

पं श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य वाचस्पति, गीतालङ्कार

मूल्य छः आने

ॐ

वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन

वेदोंका संरक्षण करने और वेदमंत्रोंमें जो ज्ञान है वह जनतातक पहुंचानेके लिये अनेक उपाय प्राचीन ऋषियोंने किये, उनमेंसे इतिहास पुराणोंका लेखन यह एक महत्त्व-पूर्ण कार्य है।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥२५॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः॥
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥२९॥
श्री० भागवत १।४

'स्त्री शूद्र और अज्ञानी द्विज इनको श्रुतिका-वेदमंत्रों-का ज्ञान नहीं होता, पर इनका भी कल्याण होना चाहिये, इसलिये व्यासदेवने महाभारतकी रचना की। भारतके मिषसे वेदका ही अर्थ बताया है। इस भारतसे स्त्री शूद्र आदि लोक अपने अपने धर्मोंको यथायोग्य रीतिसे जान सकते हैं।' जो भारतकी स्थिति है, वही अन्यान्य पुराणों-की भी है, इसलिये कहते हैं कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

इतिहास और पुराणोंसे वेदोंका अर्थ प्रकाशित करना चाहिये। वेदके अर्थको विशद करनेके लिये ही इतिहासों और पुराणोंमें कथाएं तथा अन्यान्य उपदेश लिखे हैं। महा-भारतके आख्यान वेदका अर्थ जनताको दर्शानेके लिये ही लिखे हैं। कई यहां कहेंगे कि, इन ग्रंथोंके अन्दर आख्यान और उपाख्यान हैं। इनका वेदोंके साथ क्या संबंध है? उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये कहा है—

अजन्माके जन्म

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते।
श्री. भागवत. १।३।३५

'अकर्ता और अजन्मा परमात्मा है, तथापि अलंकारसे उसके भी जन्म और कर्म, जो वेदमें गुप्त तथा गुह्यरीतिसे बताये हैं, कविलोग कथाओंमें प्रकट रूपसे वर्णन करते हैं।' यही वर्णन इतिहासों और पुराणोंमें है। इस तरह वेदके गुह्य वर्णन अलंकार रूपसे इतिहास पुराणोंमें हैं और इन कथाओंके वर्णनोंसे अनेक धर्मों और धर्मानुकूल व्यवहारोंको इन ग्रंथोंमें बताया है। इस कारण कहा जाता है कि इति-हास और पुराणोंसे वेदतत्त्वका उपबृंहण करना चाहिये। इस तरहका वेदोंका जो ज्ञाता होगा उसकी योग्यता कितनी होती है सो देखिये—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
श्री. भागवत ४।२२।४५; मनु १२।१००

'सेनापतिका कार्य, राज्यशासनका कार्य, दण्ड देनेका न्यायाधीशका कार्य, सब लोगोंका आधिपत्य ये सब कार्य वेद और शास्त्र जाननेवाला कर सकता है।' वेदशास्त्र जाननेवाला सेनापति बनाया जा सकता है, दण्ड देनेका न्यायाधीशका कार्य करनेके लिये उसकी नियुक्ती की जा सकती है, सब लोगोंके आधिपत्य संबंधी जो भी कार्य होंगे, वे सबके सब वेदशास्त्र जाननेवाला कर सकता है। वेदके ज्ञानका इतना महत्त्व था, वह आज रहा नहीं, इसका कारण इतना ही है कि वेदोंका जैसा अध्ययन होना चाहिये वैसा आजकल नहीं होता है। इसलिये वेदोंका अध्ययन उत्तम हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥
श्री. भागवत ३।२९।३७

'मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ, ब्राह्मणोंमें वेदज्ञ श्रेष्ठ और वेदज्ञोंमें वेदमंत्रोंका अर्थ जाननेवाला श्रेष्ठ है' इसका अर्थ वह सब प्रकारके श्रेष्ठ मानवी व्यवहार पवित्रतासे और उत्तमतासे कर सकता है। इसलिये वेदोंका अर्थ उत्तम

रीतिसे जानना चाहिये। यह अर्थज्ञान पुराणमें किस तरह दिया है यह इस लेखमें देखना है। आज इस निबंधमें हम वेदमंत्रोंका अर्थ श्रीमद्भागवतमें किस तरह दिया है वह देखेंगे।

ईश्वरकी व्यापकता

वासुदेवो वसत्येषु सर्वदेहेष्वनन्यदृक्।
येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेदसः ॥९॥
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१०॥
श्री. भागवत ८।१।९-

यह अनुवाद ईशउपनिषदका अथवा वा० यजुर्वेदके ४० वें अध्यायके प्रथम मंत्रका है। यह मंत्र देखिये- -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।
वा० यजु. ४०।१; काण्व यजु. ४०।१; ईश. १

यहां 'ईश' का अर्थ 'आत्मा' किया है। वेदमंत्रके ही पद यहां जैसे के वैसे लिये हैं।

ईशावास्यं इदं सर्वं।
आत्मावास्यं इदं विश्वं।
वासुदेवो वसत्येषु सर्वदेहेषु।

इस तरह यहां अर्थ किया है। आत्मा सर्व पदार्थोंमें हैं यह इसका भाव स्पष्ट हुआ। इसीका अधिक स्पष्टीकरण

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।

'आत्मा इस सब विश्वमें प्रेरणा करता है, परंतु विश्व इस आत्माको प्रेरित नहीं करता।' यह अधिक स्पष्टीकरण है। केन उपनिषद्में ऐसा ही कहा है—

यत् चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यन्ति।
(इत्यादि०) केन उ. १

'जो आत्मा इस आंखसे नहीं देखता, परंतु जिससे ये हमारे आंख देखते हैं।' यही भाव श्रीमद्भागवतके पूर्वोक्तमंत्रमें अधिक जोडकर यजुर्वेद मंत्रका अधिक सुबोध स्पष्टीकरण किया है। और देखिये—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
वा० य० ४०।६, काण्व० य० ४०।६; ईश ६

इसीका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें ऐसा किया है—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तं अवस्थितम्।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥
श्री भागवत. ३।२४।४६

'सब भूतोंमें आत्मा अथवा भगवान् है और आत्मामें अथवा भगवान्में सब भूत रहे हैं।' इस अनुवादमें आत्माके स्थान में भगवान् शब्द रखकर वेदमंत्रका भाव अधिक स्पष्ट किया है।

विष्णुका वर्णन

ऋग्वेदमें विष्णुका वर्णन इस तरह कहा है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि
विममे रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ ऋ. १।१५४।१

इस मंत्रके ही पद लेकर भागवत लेखक कैसी रचना करता है देखिये—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भयः स्वरंहसाऽस्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्॥
श्री. भागवत. २।७।४०

यहां शब्द भी वे ही लिये हैं। 'विष्णुके पराक्रमोंकी गणना कौन कर सकता है, जो पराक्रम उसने पृथिवीपर और अन्तरिक्षमें किये हैं' इस तरह सूक्तके सूक्त श्रीमद्भागवतमें अनुवादके साथ दिये हैं। इस अनुवादको देखकर हम इन सूक्तोंका अनुवाद श्रीमद्भागवतकारके समय कैसा किया जाता था, इसका पता लगा सकते हैं। निम्नलिखित श्लोक भी ऊपरके मंत्रके साथ संबंध रखता है—

उरुक्रमस्य चरितं श्रोतृणामघमोचनम्॥ २८॥
पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः॥ २९॥
श्री. भागवत ८।२३

यह श्लोक भी पूर्वोक्त मंत्रका ही अनुवाद है। इस रीतिसे वेदमंत्रोंके शब्दोंके शब्द लेकर भागवतमें अनुवाद किया दीखता है।

दो सुपर्ण

दो सुपर्णोंके विषयमें ऐसा ही अनुवाद है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-श्नन्न्यो अभिचाकशीति ।

ऋ. १।१६४।२०; अथर्व ९।९।२०

इसका अनुवाद देखिये—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे। एकस्तयोः खादति पिप्पला-न्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः। योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥७॥

श्री. भागवत ११।११

'दो उत्तम पंखवाले पक्षी हैं, वे दो समान दीखनेवाले मित्र हैं। इन्होंने अपनी इच्छासे वृक्षपर अपने घरोंने बनाये हैं। इनमेंसे एक मीठा फल खाता है। दूसरा फल नहीं खाता, पर बलसे बहुत बडा है। जो फल खाता नहीं वह अपने आपको पृथक् मानता है, परंतु फल खानेवालेको वह ज्ञान नहीं है। वह अविद्याके कारण बद्ध है, पर जो फल न खानेवाला ज्ञानी है, वह नित्य मुक्त है।' इस रीतिसे अर्थ करनेमें विवरण भी अधिक किया है अर्थका स्पष्टीकरण भी अधिक स्पष्ट समझमें आने योग्य है।

दशशत

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ ऋ. ६।४७।१८

इसमें इन्द्रके रथको दस शत अर्थात् एक सहस्र घोडे जोते हैं ऐसा लिखा है, वही वर्णन भागवतमें है—

ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः।
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः ॥

श्री भागवत ८।११।१६

'दशशत घोडोंसे घेरा हुआ रथ मातली नामक सारथीने लाया और उसपर इन्द्र चढकर बैठ गया।' 'दश शत हरि' ये पद जैसे वेदमें हैं, वैसे ही भागवतमें हैं। ऐसे पद जैसेके वैसेही रखे हैं, इसलिये कौनसा अनुवाद किस मंत्रका है यह ढूंढना सहज होता है। यहां घोडोंका अर्थ प्रकाश किरण है।

*

प्रभुके भयसे कार्य

प्रभुके भयसे सब अन्य देव अपने अपने कार्य करते हैं ऐसा उपनिषदोंमें कहा है—

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

तै. उ. २।८; नृ. पू. २।१०

'इसके भयसे वायु बहता है, सूर्य उदय होता है, अग्नि जलता और इन्द्र चमकता है, और पांचवां मृत्यु भी दौडता है।' यही भागवतमें देखिये—

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥४०॥
यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥४१॥
स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥४२॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ ४५ ॥

श्री. भागवत ३।२९

'इस प्रभुके भयसे वायु बहता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है, इन्द्र उसीके भयसे वृष्टी करता है, चन्द्र और नक्षत्र उसीके भयसे प्रकाशते हैं। वनस्पतियां समयपर फूल और फल देती हैं, नदियां उसीके भयसे भयभीत होकर बह रही हैं, समुद्र अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, अग्नि जलता है, पृथिवी जलमें डूबती नहीं। मृत्यु वध करता है। यह सब उसी प्रभुके भयसे हो रहा है।'

मूल उपनिषद्वचनमें पांच ही देवताओंके नाम थे, परंतु अनुवाद करनेके समय भागवतकारने बारह देवताओंके नाम लिखे हैं। इस अनुवाद पद्धतिसे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि, मूल वेद और उपनिषदमें जो कहा है, उसका अधिक विवरण भी करना चाहिये। यह एक नियमसा यहां दीख रहा है। ऊपर जितने अनुवाद दिये हैं उनमें कई स्थानोंमें इस तरह अर्थ बढाया है और पाठक आगे भी देखेंगे कि जो आशय मूल मंत्रमें संक्षेपसे था उसको अनुवादमें भागवतमें थोडा विशद तथा अधिक स्पष्ट किया है।

वत्स और दूध

अथर्ववेदमें कईयोंके वत्सों तथा उसके दूधका वर्णन है देखिये—

१ तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ।
तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ।
तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ १-२ ॥

२ तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ।
तस्या यमो राजा वत्स आसीद्रजतपात्रं पात्रम् ।
तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥६-७॥

३ तां मनुष्या उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ।
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम् ।
तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च
सस्यं चाधोक् ॥ १०-११ ॥

४ तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ।
तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ।
तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च
तपश्चाधोक् ॥ १४-१५ ॥

५ तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ।
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ।
तां देवः सविताऽधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ २-३ ॥

६ तां गंधर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ।
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्
पुष्करपर्णं पात्रम् ।
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव
गन्धमधोक् ॥ ६-७ ॥

तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ।
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ।
तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां
तिरोधामेवाधोक् ॥ १०-११

८ तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ।
तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स
आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ।
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् १४-१५

इसका कोष्टक ऐसा बनता है, इसमें किसका कौन वत्स और उसका दूध कौनसा है यह स्पष्ट होता है—

	जाति	वत्सः	दोहनकर्ता	दूध	पात्र
१	असुर	विरोचनः प्रा-ह्रादिः	द्विमूर्धा	माया	अयस्पात्रं
२	पितरः	यमोराजा	अन्तकः, मार्त्यवः	स्वधा	रजतपात्रं
३	मनुष्याः	मनुः वैवस्वतः	पृथी, वन्यः	कृषि, सस्यं	पृथिवी
४	सप्तऋषयः	सोमः राजा	बृहस्पतिः, आंगिरसः	ब्रह्म, तप	छन्दः पात्रं
५	देवाः	इन्द्रः राजा	सविता देवः	ऊर्जा	चमसः पात्रं
६	गंधर्वाप्सरसः	चित्ररथः सौर्यवर्चस	वसुरुचिः, सौर्यवर्चसः	पुण्यः गंध	पुष्करपर्णपात्र
७	इतरजनाः	कुबेरः वैश्रवणः	काबेरकः, रजतनाभिः	तिरोधा	आमपात्रं
८	सर्पाः	तक्षकः, वैशालेयः	धृतराष्ट्रः, ऐरावतः	विषं	अलाबुपात्रं

इस तरह जाती, वत्स, दोहनकर्ता, दूध और पात्रका वर्णन वेदमें है । इसका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें देखिये—

वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥ १२ ॥
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ॥ १३ ॥
ऋषयो दुदुहुर्देवीं इंद्रियेष्वथ सत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ॥१४॥
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् ।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ॥ १५ ॥

दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् ।
विधायादूदुहन् क्षीरमयः पात्रे सुरासवम् ॥ १६ ॥
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधुसौभगम् ॥ १७ ॥
वत्सेन पितरोऽर्यमणा कव्यं क्षीरमधुक्षत ।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥ १८ ॥
प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः संकल्पनामयीम् ।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ॥१९॥

अन्ये च मायिनो मायां अन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ॥ २० ॥
यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥ २१ ॥
तथाऽहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहु बिलपात्रे विषं पयः ॥ २२ ॥
पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन् मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ॥ २३ ॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे ।
सुपूर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥ २४ ॥
वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नाना धातून्स्वसानुषु ॥ २५ ॥
सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः ।

श्री. भागवत ४।१८

इस श्रीमद्भागवतके वर्णनसे कैसा कोष्टक बनता है सो अब देखिये—

	वत्स	दूध	पात्र
भूपति	मनु	औषधीः	पाणी
ऋषि	बृहस्पति	छन्द	इन्द्रियां
देवाः	इन्द्र	सोम वीर्य, बल, ओजः	हिरण्मयपात्र
दैत्याः दानवाः	प्रल्हाद	सुरा, आसवं	अयःपात्र
गन्धर्वाः अप्सरसः	विश्वावसु	मधुसौभगं	पद्मपत्रे
पितरः	अर्यमा	कव्यंक्षीरं	आमपात्रे
सिद्धाः	कपिलः	सिद्धिविद्या	
मायिनः असुराः	मय	माया	
पिशाचाः	भूतेश	क्षतजासवं	कपालं
सर्पाः नागाः	तक्षकः	विषं	बिलपात्रे
पशवः	गोवृषः	क्षीरं	अरण्यपात्रे
दष्ट्रिनः क्रव्यादाः	मृगेन्द्रः	क्रव्यं	कलेवरे
विहगाः	वत्साः	चरअचर	,,
पक्षिणः			
वनस्पतयः	वटः	रसः	कलेवरे
गिरयः	हिमवान्	धातवः	स्वासानुषु

इस तरह भूमिसे प्रत्येक जातीने अपना वत्स निर्माण किया और अपने लिये जो दूध चाहिये वह भूमिसे निकाला। यह वर्णन जैसा अथर्ववेदमें है वैसा श्रीमद्भागवतमें है। अथर्ववेदसे ही यह लिया है और थोडा बढा दिया है। दैत्योंने सुरा और आसव निर्माण किया और वह वे पीने लगे, ऋषियोंने वेदमंत्रोंका ज्ञानरूपी दूध लिया और वे मानवधर्मका मनन करने लगे, राजाओंने औषधियोंकी वाढ की और अन्न निर्माण किया, देवोंने सोमरसका पान किया और अपना बल बढाया, गन्धर्वोंने मधका पान किया, पितरोंने दूध पिया, कपटी असुरोंने कपट करनेका कार्य किया, पिशाचोंने रक्त पीना अच्छा मान लिया, सिद्धोंने नाना प्रकारकी विद्याओंकी सिद्धि प्राप्त की, सांपोंने विष निर्माण किया और उसका धारण किया, पशुओंने दूध निर्माण किया, मांस खानेवाले पशुओंने मांस खाना शुरू किया, वृक्षोंने नाना प्रकारके रस निर्माण किये, पर्वतोंने नाना प्रकारके धातु उत्पन्न करके धारण किये। इस रीतिसे एक ही पृथ्वीसे अनेकोंने अनेक रस लेनेका प्रारंभ किया।

यहां पाठक देखेंगे कि जो अथर्ववेदमें था वही यहां भागवतके लेखकने लिया और थोडा और भी बढाया है। और 'वेदं समुपबृंहयेत्' वेदके अर्थका उपबृंहण करना चाहिये ऐसा जो कहा था, वह उपबृंहण इस तरह किया गया है, भागवतकारने यह स्वयं करके बताया है। इस रीतिको स्वीकार करके हम भी इस पद्धतिसे वेदमंत्रोंका उपबृंहण कर सकते हैं।

वेद मुख्य विषयको संक्षेपसे कहता है, उसका मनन करके अधिक विस्तार करना चाहिये। यह विस्तार किस पद्धतिसे करना चाहिये वह पद्धति भागवतकारने यहां बतायी है।

द्वादशार चक्र

वेदमें द्वादशार चक्र अर्थात् संवत्सर चक्रका वर्णन इस तरह किया है—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।

अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर
आहुरर्पितम् ॥ ११ ॥
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि
विंशतिश्च तस्थुः ॥ ११ ॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि
विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न
शीर्यते सनाभिः ॥ १३॥

ऋ. १।१६४

पांच पांव, बारह आकृति, सात चक्र और छः आरे जिसमें हैं ऐसा यह एक विशाल चक्र है। यह कालचक्र है। सब भुवन इसी चक्रके आधारसे रहते हैं। इस संवत्सर चक्रका वर्णन इन मंत्रोंमें है। इसीका अनुवाद भागवतमें इस तरह है—

तस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवत् भ्रमन् मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति ॥

श्री. भागवत ५।२१।१३

'उस रथका एक चक्र बारह आरोंवाला छः नेमीवाला, तीन नाभीयोंसे युक्त है, इसीको संवत्सरचक्र कहते हैं। इस चक्रका अक्ष मेरुपर्वतके ऊपर मानससरोवरके उत्तरभागमें लगा है। तेल निकालनेके यन्त्रके चक्रके समान यह घूमता है।'

इस प्रकार वेदही वेदके पद लेकर अपना अनुवाद भागवत-कारने लिखा है। इस तरह यह अनुवाद मूल मन्त्रके साथ तुलना करके देखने योग्य है।

शरीर रथ

शरीरका रथरूपसे वर्णन वेदमंत्रमें है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभी-
शुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

वा. य. ३४।६

'उत्तम सारथी जैसा लगामोंसे रथके घोडोंको ठीक तरह चलाता है वैसा हृदयमें बैठा हुआ मन सब इंद्रियरूपी घोडोंको चलाता है, वह मेरा मन शुभसंकल्प करनेवाला हो।' तथा उपनिषदोंमें—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इंद्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

कठ ३।३-४

'आत्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथी, मन लगाम, इंद्रियाँ घोडे हैं। ये घोडे विषयोंके खेतमें विचरते हैं। आत्मा-इन्द्रिय-मन मिलकर भोक्ता होता है।'

इसका भागवतमें अनुवाद कैसा किया है सो अब देखिये-

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून्मन इन्द्रियेशम्। वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥ अक्षं दश प्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्। धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥४२॥ रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः। मानोऽवमानोऽसूया च मायाहिंसा च मत्सरः ॥४३॥ रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः। यावन्नृकायरथमात्मवशो-पकल्पं धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्। ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः स्वाराज्य-तुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥ ४७ ॥

श्री. भागवत ७।१५

'शरीर रथ है, इन्द्रियां घोडे हैं, लगाम मन हैं यह मन इंद्रियोंको चलाता है, इन घोडोंका मार्ग प्राकृतिक भोगोंका मार्ग है, बुद्धि सारथी है, दश प्राणोंका अक्ष बनाया है, अधर्म और धर्म ये चक्र हैं, अभिमानी जीव इस रथमें बैठनेवाला स्वामी है, इसके हाथमें ओंकारका धनुष्य है, बाण ही जीव है और परब्रह्म लक्ष्य है जिसपर जीवरूपी बाणने जाकर गिरना हैं। भोग प्रेम, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, गर्व, मान, अपमान, ईर्ष्या, कपट, हिंसा, मत्सर, भोगवृत्ती बढानेवाला रजोगुण; प्रमाद, क्षुधा, निद्रा, ये सब इसके शत्रु हैं जो इस पर हमला

करना चाहते हैं। जबतक इस शरीररूपी रथको अपने आधीन यह रखता है, श्रेष्ठ गुरुजनोंकी उपासना करता है, ज्ञानरूपी शस्त्र धारण करता है, तबतक बलवान होता है, शत्रुको परास्त करता है, अपना स्वराज्य प्राप्त करता है, उस स्वराज्यसे सन्तुष्ट होता है और आनन्दित होता है।

जो ऐसा नहीं करता है उसका नाश होता है। यह अनुवाद और भी है परंतु यहां इतना ही दिया है। मंत्रके भावको बढानेकी रीति यहां इस रीतिसे अच्छी तरह ध्यानमें आ जाती है। 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इतिहास और पुराणोंसे वेदोंके अर्थका अधिक विस्तार करके बताना चाहिये। इस कथनका यह अर्थ है। इस तरह वेदमंत्रोंका रहस्य अच्छी तरह खुल जाता है। और वेदका गौरव भी बढता है।

सहस्रशीर्षा पुरुष

विश्वरूपी परमेश्वरका वर्णन वेदमें अनेक स्थानोंपर है। परंतु पुरुष सूक्तमें वह विशेष स्पष्ट है। वह यहां प्रथम देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥ २ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन् ॥ १४
ऋ. १०।९०

'हजारों मुखोंवाला पुरुष अर्थात् परमेश्वर है। उसको हजारों आंख हैं, हजारों पांव हैं। जो कुछ भूतकालमें हुआ, जो भविष्यमें होगा और जो वर्तमान समयमें है, वह सब पुरुष ही है अर्थात् वह ईश्वर ही है। इसके तीन भाग ऊपर हैं और एक भागसे ही यह विश्व वारंवार बनता रहता है। इसका मुख ब्राह्मण है, बाहू क्षत्रिय हैं, वैश्य पेट या जांघें हैं और शूद्र पांव हैं। चन्द्रमा मन है, आंख सूर्य है, मुख इन्द्र और अग्नि है, प्राणवायु है। नाभी अन्तरिक्ष है, सिर द्युलोक है, पांव भूमि है और अन्य अवयवों की कल्पना अन्य लोकोंके स्थानमें की है।'

संपूर्ण विश्वमें जो प्राणी हैं उनके सिर बाहू पेट और पांव इस परमेश्वरके सिर, बाहू, पेट और पांव हैं। संपूर्ण प्राणी और सूर्यादि लोक इसके शरीरके अंग प्रत्यंग हैं। इसका वर्णन वेदमें और भी है वह अब देखिये—

सहस्रबाहुः पुरुषः। अथर्व १९।६

हजारों बाहुओंवाला पुरुष है। अर्थात् सब प्राणियोंके जो बाहु हैं वे इस ईश्वरके बाहु हैं। और भी देखिये—

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः ॥ १२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ॥ १५ ॥
यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि ॥ १८ ॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥२२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३४॥
अथर्व. १०।७

जिस परमेश्वरके विश्व शरीरमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक रहे हैं। जिसमें अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य तथा वायु रखे गये हैं, जिस परमेश्वरके विश्वरूप देहमें सब तैंतीस देव हैं, समुद्र तथा नदियां जिसके शरीरकी नाडियां हैं, जिस परमेश्वरका सिर वैश्वानर अग्नि हैं, आंख अंगिरस है और शरीरके विभाग सब प्राणी बने हैं वह सर्वाधार ईश्वर है। जिस परमेश्वरके विश्वदेहमें द्वादश आदित्य, ग्यारह रुद्र और अष्ट वसु रहे हैं। भूतकालमें जो हो चुका था, भविष्यमें जो होगा, और वर्तमानकालमें जो है, वह सब जिसमें

रहा है, जिसके शरीरके अंगोंमें तैंतीस देव विभक्त होकर रहे हैं, उन तैंतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। भूमि जिसका पांवका प्रमाण है, अन्तरिक्ष जिस ईश्वरका पेट है, द्युलोकको जिसने अपना सिर बनाया है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम है। जिस ईश्वरके देहका एक आंख सूर्य है, दूसरा आंख चन्द्रमा है, अग्नि जिसका मुख है उस श्रेष्ठ ब्रह्मको मेरा प्रणाम है। जिसके शरीरमें वायु प्राण बना है, आंख अंगिरस अग्नि बना है, दिशाएं जिसके कान है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम है।

इन अथर्ववेदके मंत्रोंमें ज्येष्ठ ब्रह्मके विश्वदेहका वर्णन है। इसका देह इन सब तैंतीस देवोंका ही बना है। इस ब्रह्मके शरीरमें पृथिवी पांव है, अन्तरिक्ष पेट है, नस नाडियां नदियां हैं, मुख अग्नि है, सूर्यचन्द्र आंख है, जल जिव्हा है, दिशाएं कान है, वायु प्राण है, द्यु सिर हैं और अन्य देव अन्य अवयवोंमें रहे हैं। ब्रह्मके विश्व शरीरका यह वर्णन है। विश्वरूपी पुरिमें रहता है इसलिये इसको विश्वरूप प्रभु कहते हैं। यह तो वेदमंत्रोंमें विराट् पुरुषका वर्णन है। इसी विराट् पुरुषका वर्णन अब श्रीमद्भागवतमें कैसा किया है सो देखिये—

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥

श्री. भागवत १।३

'परमेश्वरके स्थूल देहके नाना अवयवोंमें अनेक लोकोंका विस्तार है ऐसा कवि कहते हैं। यह भगवानका विश्वरूप विशुद्ध और सात्त्विकरूप है। इस भगवानका यह रूप निश्चल दृष्टीसे लोग देखते हैं, इसमें सहस्रों सिर, कान, आंख, नासिकाएं आदि अवयव हैं, इसमें सहस्रों मुकुट, वस्त्र, और कुण्डल चमक रहे हैं।'

सहस्रों सिरोंपर सहस्रों मुकुट होंगे और सहस्रों देहोंपर हजारों वस्त्र अवश्य होंगे ही। सहस्रों कानोंमें सहस्रों कुण्डल भी अवश्य होंगे। अर्थात् हजारों मानवोंका समुदाय ही इस भगवानके देहमें है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस भगवानके सिर बाहू उदर और हाथ हैं, इसलिये मुकुट वस्त्र आदि जो इन वर्णोंके लोगोंने पहने हैं, वे भगवानने ही पहने हैं। इस तरह यह विश्वरूपी भगवान का वर्णन है। और देखिये—

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
अत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतंभव्यं भवच्च यत् ॥ २४ ॥
आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥ २५ ॥ पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्। महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जंघे ॥ २६ ॥ द्वेजानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलं चातलं च। महीतलं तज्जघनं महीपते नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥ २७ ॥ उरस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य। ततो रराटं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥ २८ ॥ इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः। नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥ द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च। तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥ ३० ॥ कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसंघाः ॥ ३१ ॥ नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र। अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च सचन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥ ३४ ॥ ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः।

श्री भागवत २।१

'विशेष करके भगवानका स्थूल शरीर यह विश्व ही है। इसमें भूत भविष्य वर्तमानमें जो है वह सब आ जाता है। इस भगवानके शरीरमें सात आवरण हैं। पाताल इसके पांव हैं, रसातल पार्ष्णि हैं, महातल गुल्फ हैं, तलातल पिंडरियां है, सुतल दोनों जांघें हैं, वितल और अतल दोनों घुटने हैं, महीतल जघन है, नभस्तल नाभी है, छाती ज्योति मंडल है, महर्लोक गला है, जनोलोक मुख है, ललाट तपोलोक है और सत्य लोक सिर हैं। इन्द्रादि क्षत्र देव

परमात्माके बाहु हैं, दिशाएं कान हैं, श्रवण शब्द हैं, अश्विनीकुमार नासाछिद्र हैं, गन्ध घ्राण है, मुख अग्नि है, द्युलोक आंख है, सूर्य नेत्र है, दिनरात्र फरकें हैं। जल तालू है, जिह्वा रस है। ब्रह्मा शिश्न है, मित्रावरुण अण्ड हैं, कुक्षि समुद्र है, पर्वत हड्डियां है, नदियां नाडियां हैं, बाल वनस्पतियां हैं, अव्यक्त प्रकृति हृदय है, मन चन्द्रमा है, ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य ऊरु है और शूद्र पांव है ऐसा यह विश्व इस विश्वव्यापी भगवानका शरीर है।'

इसी तरह और भी देखिये—

सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥ ३५ ॥
यस्येहावयवैर्लोकान्कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥ ३६ ॥
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥ ३७ ॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥४१

श्री भागवत २।५

'सहस्रों ऊरु, पांव, नेत्र, मुख और सिर जिस भगवान के हैं। जिसके अवयवोंमें नाना लोकोंकी कल्पना की है। कटीसे नीचे सात लोक और ऊपर सात लोक हैं। इस भगवान्‌के मुख बाहु ऊरु और पांव क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र हैं। भूलोक पांव, भुवर्लोक नाभी और स्वर्गलोग सिर है इस तरह भी परमेश्वरके शरीरमें सब लोकोंकी कल्पना की है।

और भी इसी विराट् पुरुषका वर्णन देखिये—

सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ॥ १३ ॥
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः।
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ॥ १४ ॥
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितस्तनयित्नवः।
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥ १५ ॥
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥ १६ ॥
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥
सोऽमृतत्वस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ॥१७॥

श्री भागवत २।६

'सुर, असुर, नाग, पक्षी, मृग, जलजन्तु, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूतगण, उरग, (सर्प) पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष, जो अन्यान्य जीव हैं, जो जलस्थल और आकाशमें रहते हैं, जो ग्रह, नक्षत्र, तारागण हैं, बिजालियां और प्रकाशवाले पदार्थ हैं, यह सब जो तीनों कालोंमें रहता है वह सब (पुरुषः एव) पुरुष अर्थात् परमेश्वर ही है। यह सब विश्व उसके वितस्तिपरिमित स्थानमें है ऐसा समझो। यह ईश्वर सर्वत्र व्यापकर रहा है। यह अन्दर और बाहर सर्वत्र प्रकाशता है। यह अमृतत्वका और अभयका स्वामी है।'

इसमें पुरुषसूक्तके ही मंत्रभाग जैसेके वैसे लिये हैं। पुरुष सूक्तमें ये मंत्र भाग हैं—

१ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं।
२ अमृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। (ऋ. य.)
अमृतत्वस्येश्वरो यदन्नेनाभवत्सह। (अथ.)
३ अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्।

ये मंत्र भाग थोडे हेरफेरसे इन श्लोकोंमें हैं। तथा—

४ गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।

गौवें घोडें और भेड, बकरियां उस ईश्वरसे बनी अथवा इन रूपोंको ईश्वरने धारण किया ऐसा कहा है, वही अधिक नामोंको लिखकर भागवतकारने अधिक स्पष्ट किया है। ये सब रूप ईश्वरके हैं अर्थात् यह विश्वरूप ईश्वरका रूप है। और देखिये—

एवं सहस्रवदनांघ्रिशिरः करोरुनासास्यकर्ण-
नयनाभरणायुधाढ्यम्। मायामयं सदुपल-
क्षितसंनिवेशं दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः।

श्री भागवत ७।९।३६

'सहस्रों मुख, पांव, सिर, हात, जंघा, नाक, कान, नेत्र जिसके हैं, उस महापुरुष परमेश्वरका मायामय शरीर देखकर ब्रह्मदेवको बडा आनंद हुआ।' अर्थात् परमेश्वरका यह विश्वरूप शरीर है और उसमें हजारों प्राणियोंके मुख आदि अवयव हजारों हैं यह परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन है।

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्रहि भूतसर्गः। स वै महापुरुष आत्मतन्त्रः प्रसीदतां ब्रह्ममहाविभूतिः॥ ३२ ॥ अम्भस्तु यद्रेत

उदारवीर्यं सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ॥
लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः प्रसीदतां
ब्रह्ममहाविभूतिः ॥ ३३ ॥ सोमं मनो यस्य
समामनन्ति दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः॥३४
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा जातः क्रियाकाण्ड-
निमित्तजन्म ॥३५॥ यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ॥ ३६ ॥
प्राणादभूद्यस्य चराचराणां प्राणः सहो
बलमोजश्च वायुः ॥ ३७ ॥ श्रोत्राद्दिशो यस्य
हृदश्च खानि प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ॥३८
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं राजन्य आसीत्
भुजयोर्बलं च ॥ ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेद शूद्रो
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४१ ॥

श्री. भागवत ८।५

'परमेश्वरके पांव पृथिवी हैं, जल रेत है, चन्द्र मन है, अग्नि मुख है, आंख सूर्य है, प्राण वायु है, कान दिशा हैं ब्राह्मण मुख हैं, क्षत्रिय बाहू हैं, ऊरु वैश्य और पांव शूद्र हैं। ऐसा यह महाविभूति परमेश्वर विश्वरूपी है।' इसको ऐसा समझकर इसकी उपासना इसे विश्वरूप मानकर करनी चाहिये। अर्थात् विश्वमें जो वस्तु अपने सामने आ जाय उसे परमेश्वरका देहांश मानकर उसके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये। तथा और देखिये—

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो, नभो नाभि-
रथो दिशः श्रुतिः। द्यौः सुरेन्द्रास्तव बाहवो-
ऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १३ ॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्या-
स्थिनखानि तेऽद्रयः। निमेषणं रात्र्यहनी
प्रजापतिर्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥
त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः
सपाला बहुजीव संकुलाः। यथा जले संजिहते
जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये॥१५॥

श्री भागवत १०।४०

'भगवान्का मुख अग्नि है, भूमि पांव है, नेत्र सूर्य है, अन्तरिक्ष नाभी है, कान दिशा है, द्युलोक सिर है, इन्द्रादि देव बाहु हैं, समुद्र कुक्षि है, वायु प्राण है, बाल औषधि वनस्पतियां हैं, हड्डियां पर्वत हैं, आंखोंकी पलकें दिनरात हैं, प्रजापति शिस्न है, जलवृष्टि वीर्य है। इस तरह ईश्वरके अव्यय आत्मामें इन लोकोंकी कल्पना की है। सब जीव ईश्वरके विश्व शरीरमें ऐसे हैं कि जैसे जलमें जलकृमि और उदुम्बरमें मक्खियां होती हैं।'

इस तरह भगवान्के विश्वरूप देहका वर्णन जैसा वेदमें किया है वैसा ही श्रीमद्भागवतमें किया है। और भी देखिये—

हरिका शरीर

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि
दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

श्री भा. ११।२।४१

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्यादि तेजो गोल, दिशा, वृक्ष, नदियां, समुद्र यह सब ईश्वरका शरीर (हरेः शरीरं) है, इसलिये जिस वस्तुको देखा जाय, वह अपनेसे पृथक् नहीं (अन्-अन्यः) ऐसा समझकर, उसको परमेश्वरका शरीर मानकर प्रणाम करना योग्य है।' अर्थात् जो जो वस्तु इस विश्वमें है वह सब परमेश्वरका देह है ऐसा समझकर उसका आदर करना चाहिये। 'विश्वरूप ईश्वर' है इसका यही तात्पर्य है। इसको वैसा ही जानना चाहिये। प्रत्येक वस्तु इस तरह परमेश्वरका स्वरूप है, इस कारण प्रतिवस्तुका सुयोग्य आदर करने योग्य हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेय मितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

भ. गीता ७

'पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और जीव यह नौ प्रकारकी मेरी शरीर प्रकृति है।' अर्थात् यह पंचभूतात्मक सब विश्व परमेश्वरका शरीर है ऐसा मानना योग्य है। गीताका यही मन्तव्य है जो वेदानुकूल है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

सर्वभूतात्मविग्रहम्। भजस्व।

श्री भागवत ४।१२।५

" सब भूत-सब पंचमहाभूतोंसे जो विश्व बना है वही जिसका शरीर है। उसकी भक्ति कर। " यहां ' विग्रह ' का अर्थ ' शरीर ' है। इसी विराट् पुरुषका वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार लिखा है—

वह्निर्वाचा मुखं भेजे। घ्राणेन नासिके वायुः।
अक्षिणी चक्षुरादित्यः। श्रोत्रेण कर्णौ च दिशः।
त्वचं रोमभिरोषध्यः। रेतसा शिश्नमापस्तु।
गुदं मृत्युरपानेन। हस्ताविन्द्रो बलेनैव।
विष्णुर्गत्यैव चरणौ। नाडीर्नद्यो लोहितेन।
क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुः। हृदयं मनसा चन्द्रः।
बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं। रुद्रोऽभिमत्या हृदयं।
चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशत्तदा।
विराट् तदेव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥

श्री. भागवत ३।२६।६३-७०

इन श्लोकोंमें जो देवता जहां रहे ऐसा कहा है उससे ऐसा कोष्टक बनता है—

अग्नि	वाणीके रूपसे	मुखमें प्रविष्ट हुआ।	
वायु	प्राण ,,	नासिका ,,	
आदित्य	चक्षु ,,	आंखों ,,	
दिशा	श्रोत्र ,,	कर्ण ,,	
ओषधियां	रोम ,,	त्वचा ,,	
आपः	रेतः ,,	शिस्न ,,	
मृत्युः	अपान ,,	गुदा ,,	
इन्द्रः	बल ,,	हाथों ,,	
विष्णु	गति ,,	चरण ,,	
नदियां	लोहित ,,	नाडियों ,,	
समुद्र	क्षुधातृषा,,	उदर ,,	
चन्द्र	मन ,,	हृदय ,,	
ब्रह्मा	बुद्धि ,,	,, ,,	
रुद्र	अभिमान,,	,, ,,	
चैत्यः	चित्त ,,	,, ,,	

यहां १५ देवताएं इस तरह इन स्थानोंमें शरीरमें रहने लगी ऐसा कहा है। वास्तवमें ३३ देवताओंका निवास शरीरमें हुआ है और ३४ वां आत्मा है। पर यहां १५ ही देवताओंका निर्देश है। इसके विपरीत वर्णन भी है वह अब देखिये—

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ॥
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोऽतो घ्राण एतयोः ॥५४॥
प्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः।
तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥५५॥
निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः।
तत ओषधयश्चासन् शिस्नं निर्बिभिदे ततः ॥ ५६ ॥
रेतस्तस्मादाप आसन् निरभिद्यत वै गुदम्।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयंकरः ॥ ५७ ॥
हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट्।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ॥५८॥
नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम्।
नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥ ५९ ॥
क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥ ६० ॥
मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः।
अहंकारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥ ६१ ॥

श्री भागवत ३।२६

इन श्लोकोंमें जो कहा है उससे जो कोष्टक बनता है वह ऐसा है—

मुख	उत्पन्न हुआ,	उससे	वाणी और	उससे	अग्नि हुआ
नाक	,,	,,	प्राण	,,	वायु
नेत्र	,,	,,	चक्षु	,,	सूर्य
कान	,,	,,	श्रोत्र	,,	दिशा
त्वचा	,,	,,	रोम	,,	औषधियाँ
शिस्न	,,	,,	रेत	,,	आपः
गुदा	,,	,,	अपान	,,	मृत्यु
हाथ	,,	,,	बल	,,	इन्द्र (स्वराट्)
पांव	,,	,,	गति	,,	हरि (विष्णु)
नाडियां	,,	,,	रुधिर	,,	नदियाँ
उदर	,,	,,	क्षुधाप्यास	,,	समुद्र
हृदय	,,	,,	मन	,,	चन्द्रमाः
बुद्धिः	,,	,,	ज्ञान	,,	बृहस्पतिः
अहंकार	,,	,,	चित्त	,,	रुद्र

इस तरह वही चित्रपट यहां उलटा रखा है। ऐतरेय उपनिषदमें यही कहा है, पर इतना ही फरक है कि

ऐतरेयमें देवताएं थोडी हैं और यहां अधिक हैं। देखिये ऐतरेय का वचन ऐसा है—

मुखं निरभिद्यत, मुखाद्वाक्, वाचो अग्निः, नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः, अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षिभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः, कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद्दिशः, त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः, हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनः, मनसश्चन्द्रमाः, नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानो, ऽपाना-न्मृत्युः, शिस्नं निरभिद्यत, शिस्नाद्रेतः, रेतस आपः॥ ऐ. उ. १।१

यहां विराट् पुरुषके मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण, त्वचा, हृदय, नाभि और शिस्नसे क्रमपूर्वक वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, लोम, मन, अपान और रेत हुए और इनसे क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, दिशा, वनस्पतियाँ, चन्द्रमा, मृत्यु और आप् उत्पन्न हुआ ऐसा कहा है। यहां आठ देवताओंका वर्णन है। इसके अंश पुरुषके शरीरमें कैसे जाकर वसे इसका वर्णन अब देखिये —

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्,
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन्। ऐ. उ. १।२

अग्नि वाणी बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बन कर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, सूर्य आंख बनकर नेत्रमें प्रविष्ट हुआ, दिशा श्रोत्र बनकर कानमें प्रविष्ट हुई, ओषधि वनस्पतियां बाल बनकर त्वचामें प्रविष्ट हुई, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान बनकर नाभिमें प्रविष्ट हुआ, आप रेत बनकर शिस्नमें प्रविष्ट हुआ। इस तरह विश्वमें जो देवताएं हैं वे सब देवताएं अंशरूपसे इस शरीरमें प्रविष्ट हुई हैं और इन देवताओंके अंशोंसे यह शरीर बना है।

यह जो वर्णन इस ऐतरेय उपनिषद्में है वही ऊपरके श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें है, केवल और अधिक देवताओंके नाम वहां अधिक लिखे हैं। यही वर्णन वेदमंत्रमें ऐसा ही है देखिये—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा॥ ३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं अक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनः ते वा आकूतिमावहन्॥४॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोकमासते॥ १०॥
अथर्व ११।८

दस देवोंसे पूर्व समयमें दस देव उत्पन्न हुए। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक्, मन ये शरीरमें कार्य करनेवाले देवोंसे उत्पन्न हुए इंद्रिय गण हैं, अवयव हैं। ये बाह्य वायु सूर्य आदि देवोंके अंश अथवा पुत्र हैं। विश्वमें रहनेवाले बडे दस देवोंने शरीरमें रहनेवाले इन दस देवों-इंद्रियोंको उत्पन्न किया और अपने इन पुत्रोंको शरीरमें योग्य स्थान दिया और वे बडे विशाल देव अपने अपने स्थानमें जाकर रहने लगे।

इसीका वर्णन पुरुष सूक्तमें भी है जैसा—

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
ऋ० १०।९०

'मनसे चन्द्रमा हुआ और आंखसे सूर्य हुआ।' इसीको हम ऐसा भी कह सकते हैं—'चन्द्रमासे मन हुआ और सूर्यसे आंख बना।' यह उलटा और सुलटा दोनों ओरसे कहा जा सकता है। वैसे वर्णन सर्वत्र हैं भी।

अर्थात् जो वेदमंत्रोंमें है, वही उपनिषदोंमें है और वही श्रीमद्भागवतमें है। फरक इतना ही है कि वेद मंत्रोंकी अपेक्षासे उपनिषदोंमें अधिक देवताएं ली हैं और उससे भी अधिक देवताएं श्रीमद्भागवतमें हैं। पर तत्त्वदृष्ट्या वेदकी ही बात उपनिषदोंमें है और उपनिषदोंकी ही श्रीमद्भागवतमें है।

वास्तवमें देवताएं ३३ हैं, उन सब ३३ देवताओंका वर्णन न वेदमंत्रमें है, न उपनिषदोंमें है और ना ही श्रीमद्भागवतमें है। पांच, दस, पंद्रह इतने ही देवोंका वर्णन किया है और इस संक्षिप्त वर्णनसे हमने ३३ देव अंशरूपसे शरीरमें वसते हैं ऐसा तर्कसे जानना चाहिये। यह

जाननेके लिये श्रीमद्भागवतका वर्णन सहायता करता है इसमें संदेह नहीं है।

ऊपरके भागवतके वचनमें 'पाद' के स्थान पर 'हरि, विष्णु' रखा है। इस विषयमें पाठकोंमें संदेह उत्पन्न हो सकता है, पर इसके लिये वेदमें वचन है—

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः ॥ अथर्व ३।२७।५

'ध्रुवा दिशाका विष्णु अधिपति है।' यहां ध्रुवा दिशा पृथिवीकी दिशा है और उसका अधिपति विष्णु है। इसी वेद वचनको लेकर उक्त भागवतके श्लोकमें पृथिवी पांवके स्थानमें है और पांवका अर्थात् पृथ्वी स्थानका संबंध विष्णुसे बताया है। 'पद्भ्यां भूमिः' (ऋ. १०।९०); 'पद्भ्यां पृथिवी' (मुण्डक २।१।४); 'पृथिव्येव पादौ' (छां. उ. ५।१८।२) इस तरह विराट् पुरुषके पांवका संबंध पृथिवीके साथ बताया है। द्युलोक उसका सिर है, अन्तरिक्ष उदर है और पृथिवी पांव है। इतने वचनोंका विचार करके श्रीमद्भागवतकारने पांवोंका संबंध विष्णुसे बताया है। इतना विराट् पुरुषका वर्णन वेद, उपनिषद और भागवतमें समान ही है।

नव नवति

वेदमें 'नवतीर्नव' ऐसे प्रयोग हैं। देखिये ऋग्वेदमें—

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य ॥ ऋ० ४।२६।३

अवाहन् नवतीर्नव। ऋ० ९।६१।१

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव ॥ अथर्व २०।४१।१

"मैंने शंबरके निन्यानवे नगर एक साथ तोड दिये। 'इन्द्रने दधीचीके अस्थियोंसे बने वज्रसे निन्यानवे वृत्रोंको अर्थात् वृत्रके नगरोंको तोड दिया। अथवा निन्यानवे वृत्रों का वध किया।" इस प्रकार 'निन्यानवे' इस संख्याका उल्लेख वेदोंमें कई वार आ गया है। वही संख्या श्रीमद्भागवतमें वैसीही आगयी है—

नवतिं नव चाध्वनः। श्री. भागवत ३।३०।२४

'निन्यानवे मार्गोंके' विभाग नरकमें भोगता है। कष्ट भोगता है। यहां केवल संख्या का ही साम्य है।

वृत्रासुरका वध

वृत्रासुरकी कथा वेदमें है। इस कथाके मंत्र इस तरह वेदमें हैं—

घनो वृत्राणामभवः। ऋ० १।४।८

घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः ॥ ऋ० ३।४९।१

श्रेष्ठो घने वृत्राणाम्। ऋ० ६।२८।८

घनो वृत्राणां तविषो बभूथ। ऋ० ८।९६।१८

हन्ता वृत्राणामसि। ऋ० ९।८८।४

वृत्रस्य अभिनत् शिरः ॥ ऋ० १।५२।१०

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं रणाय। वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥ ऋ० १।६१।६

इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः। महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वान् असृजत्। ऋ० १।८०।१०

इन्द्रो वृत्रस्य संजितो धनानाम्। ऋ० ५।४२।५

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। शिरो बिभेद वृष्णिना ॥ ऋ० ८।६।६

अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः। वज्रेण शतपर्वणा ॥ ऋ० ८।७६।२

नि षीं वृत्रस्य मर्मणि वज्रमिन्द्रो अपीपयत् ॥ ऋ० ८।१००।७

वृत्रस्य हनू रुज। ऋ० १०।१५२।३

ऐसे इन्द्रवृत्रके युद्धके सेकडों मंत्र हैं। इन मंत्रोंमें कहा है कि 'इन्द्रने वृत्रका वध किया। वृत्रके सब अनुयायियोंका नाश किया। वृत्रका सिर इन्द्रने काटा। त्वष्टा देवोंका शिल्पी था, उसने इन्द्रको सौ धारावाला वज्र बनाया, इस शतपर्ववाले वज्रसे वृत्रका सिर इन्द्रने काटा। वृत्रके सब मर्म काटे, वृत्रकी हनु काट दी। इस तरह वृत्रके टुकडे टुकडे करके उसका वध किया।' यह कथा वेदके मंत्रोंमें है जो ऊपरके मंत्रमें दीखती है। यही कथा ऐसी ही श्रीमद्भागवतमें विस्तारसे दी है देखिये—

महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशोदश ॥ १७ ॥
येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥ १८ ॥
अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम्।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥ ४४ ॥
मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चं ऋषिसत्तमम्।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरं ॥ ५१ ॥

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात्॥ ५२॥
दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वाष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम्।
विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः ॥ ५३॥
युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः॥ ५४॥
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेज उपबृंहितः॥ ५॥

श्री भागवत ६।९

स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम्।
चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा॥ २५॥
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः॥२६॥

श्रीभागवत ६।१२

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद।
सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः॥१॥

श्री भागवत ६।१३

"त्वष्टाका पुत्र वृत्र था। इस वृत्रने सब लोक पराभूत किये। और सब लोकोंपर अन्धकार छा दिया। सब लोक भयभीत हुए और ईश्वरकी प्रार्थना करने लगे। 'हे ईश्वर! इस त्वष्टा पुत्र असुरका नाश कर, इसने सबके शस्त्र खाये हैं और सबको परास्त किया है।' ईश्वरने सब देवोंसे कहा कि 'हे देवो! तुम दधीची ऋषिके पास जाओ और उसकी हड्डियाँ मांगो। वह ऋषि बडा ज्ञानी है वह तुम्हें हड्डियां देगा। उन हड्डियोंसे विश्वकर्मा वज्र बना देगा और उस वज्रसे इन्द्र वृत्रका वध करेगा।' इस तरह वज्र सौ धारा-ओंसे युक्त विश्वकर्माने बनाया, और इस वज्रसे इन्द्रने उस वृत्रका नाश किया। उस वृत्रके हाथपांव तोडे गये और वह भूमिपर मर कर गिर गया। वृत्रका वध होनेके बाद तीनों लोक दुःख रहित हो गये।"

यह कथा जैसी वेद मंत्रोंमें है वैसी ही श्रीभागवतमें है। इस कथामें आये नामोंको वेदमंत्रोंमें अब देखिये—

दध्यङ्ङथर्वा ऋषि

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत।

ऋ० १।८०।१६

दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदी-मुवाच॥ ऋ० १।११६।१२

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिः वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव॥ ऋ० १।८४।१३
आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्॥
स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद् दस्रावपि कक्ष्यं वाम्॥ ऋ० १।११७।२२

इस तरह अथर्वपुत्र दधीचीका वर्णन वेद मंत्रोंमें है। अश्वका सिर उसको लगाया और उसने अश्विदेवोंको मधुविद्या कही। दधीचीने अपनी हड्डियां दी, इन हड्डियोंका वज्र बनाया और उस वज्रके द्वारा इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया।' यह कथा आलंकारिक तो है। क्योंकि ऋषिको घोडेका सिर लगाना, फिर उसने मधुविद्याका उपदेश देना आदि बातें आलंकारिक होनेमें संदेह ही नहीं है। जिस युक्तिसे वेदमंत्रोंका अलंकार खुलेगा, उसी युक्तिसे इन रोचक कथा-ओंका भी अलंकार खुल जायगा। यही यहां बताना है।

शंबरासुर

शंबरासुर भी वृत्रका साथी था। इस विषयमें वेदके मंत्र देखिये—

अदर्दर्मन्युना शंबराणि वि। ऋ० २।२४।२
दिवोदासं शंबरहत्ये आवतं। ऋ० १।११२।१४
अधूनोत् काष्ठा अव शंबरं भेत्। ऋ० १।५९।६
यः शंबरं यो अहन् पिप्रुमव्रतम्। ऋ० १।१०१।२
यः शंबरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविंदत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ ऋ० २।१२।११
अवाहन्निन्द्र शंबरम्। ऋ० ४।३०।१४
वृणक् पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः। ऋ० ६।१८।८

ये मंत्र शंबरके हैं, पर इनमें पिप्रु, अहि, दानु, शुष्ण आदि वृत्रके साथियोंके नाम हैं। और यह शंबर पर्वतोंपर रहा था, ये शंबर अनेक थे, आदि वर्णन यहां स्पष्ट रीतिसे है। अब नमुचि देखिये।

नमुचि

निवर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्॥ ऋ० १।५३।७
यः पिप्रुं नमुचिं यो रुधिक्रां। ऋ० २।१४।५
अहञ्च वृत्रं नमुचिमुताहन्। ऋ० ७।१९।५

इस तरह नमुचिका वर्णन वेदमंत्रोंमें है। इस नमुचिको यहां (मायी) कपटी कहा है, इसके साथी रुधिका, वृत्र पिप्रु ये हैं। यह (मख-स्यु) यज्ञका नाश करता था, यह (दास) हीन था, नाश करने योग्य था। ऋषिको कपटजालसे मुक्त करनेके लिये, इन्द्रने नमुचिका वध किया। यह सब ऐसा ही वर्णन श्रीमद्भागवतमें है। ये ही शब्द ऐसे ही वहां है।

इतिहास और पुराणोंमें वेदमंत्रोंकी संक्षिप्त वर्णनमय आलंकारिक कथाएं विस्तारसे और मनोरंजक ढंगसे लिखी हैं। इनको यह रूप इसलिये दिया गया कि इससे लोगोंका मनोरंजन हो और वेदमंत्रोंका आशय जनताको सुबोध रीतिसे समझे। इसलिये इतिहास और पुराण रचे हैं।

यह देखकर आज हमें यह उचित है कि हम यह सब देखें। एक एक विद्वान एक एक पुराण लेकर एक वर्षतक उसका अध्ययन करेगा, तो उसके सामने कथाएं आजांयगी और उनका वैदिक रूप भी उसके सन्मुख आ जायगा। दोनोंकी तुलनासे वेदमें कौनसी कथा कैसी है और पुराणोंमें वह कैसी बनायी गयी। यह रूपान्तर अच्छा हुआ या बुरा हुआ है। बुरा हुआ होगा तो उसमें कहांतक बुराई है यह सब देखना चाहिये। और निष्पक्ष होकर निर्णय करना चाहिये कि इस पुराण कथा संग्रहमें लेने योग्य अंश कितना है और छोडने योग्य कितना है।

वेदमंत्रोंका आशय समझानेके लिये इतिहास और पुराण लिखे हैं। इसलिये वेदमंत्रोंके साथ इतिहास और पुराणोंकी तुलना करनी चाहिये।

ऐसी तुलना करनेसे कमसे कम यह ज्ञान तो अवश्य होगा कि उस पुराण लेखकके समय इन वेदमंत्रोंका आशय किस तरह समझा जाता था। यदि इस तुलनासे वेदमंत्रोंका अर्थ करनेमें हमें सहायता हुई तो वह ले ली जाय। और न हुई तो वह भी इस कारण सहायता नहीं होती है। ऐसा सब विद्वानोंके सामने प्रकट हो जायगा।

संपूर्ण इतिहासों और पुराणोंका इस तरह तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये। यह एक वेदाध्ययनका पद्धति है अतः इसका उपयोग करना चाहिये।

इस लेखमें हमने श्रीमद्भागवतके साथ तुलना की है। यह भी संपूर्णतया नहीं है। दिग्दर्शन मात्र है। संपूर्णतया करनेसे इसके बीस गुणा लेख बढेगा। इसलिये दिग्दर्शन मात्र यहां किया है।

वेदमंत्रोंके सैंकडों टुकडे एक साथ जोडकर उस श्रृंखला की तुलना पौराणिक कथाके साथ करनी चाहिये। यह कार्य बडे परिश्रमकी तथा बडे धनराशीकी अपेक्षा करता है। आशा है वेदप्रेमी एक बार ये परिश्रम लेकर वेदके पौराणिक रूपान्तरका स्वरूप यथार्थ रूपसे जनताके सामने रखेंगे।

प्रश्न

१ पुराणोंकी रचना किस हेतुसे की थी ?

२ 'इतिहासों और पुराणों' से वेदका उपबृंहण करना चाहिये इसका भाव क्या है ?

३ अजन्माके जन्मोंका वर्णन सत्य है वा आलंकारिक ?

४ वेदशास्त्रवेत्ताकी नियुक्ति राज्यशासनके किन अधिकारोंके स्थानों-पर की जाती थी ? आज वैसा क्यों नहीं होता ?

५ वेदार्थ जाननेवालेकी योग्यता कितनी है ?

६ ईश्वरकी व्यापकता बतानेवाले वचन वेद और भागवतसे बताइये ।

७ विष्णुके वर्णनके वचन वेद और भागवतसे अर्थ सहित बताइये ।

८ दो सुपर्ण कहां रहते, वह वृक्ष कहां है ? इनका वर्णन कीजिये ।

९ प्रभुके भयसे कौन कार्य करते हैं ?

१० वृत्स और दूधके अलंकारसे कौनसा तत्वज्ञान दिया है सो बताइये ।

११ कालचक्रका वर्णन वेदमें और भागवतमें कैसा किया है ?

१२ शरीरको रथ मानकर वर्णन कीजिये, इससे कौनसा बोध मिलता है वह बताइये ।

१३ सहस्रों मस्तकोंवाला पुरुष कौन है उसके स्वरूपका वर्णन कीजिये ।

१४ अशरीरी परमेश्वरका शरीर कौनसा है, उसका वर्णन कीजिये और उसके शरीरके किस भागमें कौनसी देवताएं रहती हैं यह बताइये ।

१५ मानव शरीरमें कौनसी देवताएं कहां रहती हैं वह बताइये । किस तरह यह शरीर देवतामय है वह समझाइये ।

१६ दधीची ऋषिके कार्यका वर्णन कीजिये ।

१७ वृत्र, नमुची, शंबर आदि राक्षसोंके नाशका कार्य किसने किया था ?

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≠)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी.ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला - तेरहवाँ व्याख्यान

प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

वैदिक व्याख्यान माला
१३ वाँ व्याख्यान

प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन

वैदिक समयमें राज्यशासनोंके अनेक प्रकार थे। उनमें 'प्रजापति' नामक जो राज्यशासन था, वह महत्त्वपूर्ण था। इस राज्यशासनमें प्रजाके अधिकार अधिक थे। राष्ट्रपतिको राज्यशासकके स्थानपर नियुक्त करना, अथवा नियुक्त हुए प्रजापालकको अन्याय्य राज्यपद्धतिका अवलंबन करनेपर राज्यगद्दीपरसे हटाना, और दूसरे राष्ट्रपालको राष्ट्रपर स्थापन करना, यह अधिकार उस समय प्रजाको था और प्रजा इस अधिकारका उपयोग कर भी सकती थी।

यहां यह समझना चाहिये कि, प्रजा कर सकती थी, इसका अर्थ प्रजाके प्रतिनिधि यह सब करते थे। जनताका यह कार्य नहीं था। इस विषयमें हम इस लेखके अन्तमें विशेष विचार करेंगे।

प्रजा और प्रजापति

यहां 'प्रजा' और 'प्रजापति' ये दो विभाग हैं। इनमें मुख्य कौन है और गौण कौन है, इसका निर्णय करना चाहिये। प्रजापति अर्थात् शासकके न होनेपर भी प्रजा रह सकती है और रहती भी है। परंतु राजा, शासक, राष्ट्रपति अथवा प्रजापति प्रजाके रहनेपर ही आ सकते हैं। प्रजा न होनेपर शासककी आवश्यकता ही क्या है? इसलिये 'प्रजा' स्वयंभू है और 'प्रजापति' प्रजापर सर्वथा अवलंबित है। यह बात हरकोई जान सकता है। इसलिये 'प्रजापति संस्थाके राज्यशासन' में प्रजाका अधिकार विशेष होता था यह योग्य ही है।

व्यक्ति और संघ

प्रजाका सर्वाधिकार है, ऐसा माननेपर भी व्यक्तिका क्या अधिकार है और संघका क्या अधिकार है, इसका विचार करनेकी आवश्यकता रहती है। संघ अमर है और व्यक्ति मरनेवाली है यह बात सब जानते हैं। हिंदुसमाज या आर्यसमाज अमर है, जैसा वह दो हजार वर्ष पूर्व था, वैसा ही आज है और भविष्यमें भी रहेगा। पर हिंदुसमाजकी प्रत्येक व्यक्ति मरेगी ही। व्यक्तिकी आयु सो, सवासो या डेढसो वर्ष होती है। कोई व्यक्ति कुछ अधिक भी जीवित रहेगी, पर व्यक्ति अमर नहीं रह सकती। इसलिये कहा है—

संभूत्या अमृतमश्नुते। वा. य. ४०।११; ईश० ११

'(संभूत्या) संघभावसे (अमृतत्वं) अमरत्व (अश्नुते) प्राप्त होता है।' व्यक्तिभावका नाम ही इस अध्यायमें 'विनाश' लिखा है। व्यक्तिभाव जहां प्रबल है और जहां संघभावकी प्रबलता नहीं है, वहां उस मानव समुदायका विनाश ही होगा। वैसा बिखरा आपसकी फूट रखनेवाला समाज भी विनष्ट हो जायगा। अर्थात् सर्वात्मभावको अपने अन्दर जाग्रत रखनेवाला समाज उन्नत और अमर हो सकता है। समाजमें संघटन चाहिये और वह संघटन जीवित और जाग्रत चाहिये। केवल कुछ व्यक्तियां इकट्ठी रहनेसे समाज बनेगा, परंतु वह जीवित और जाग्रत तथा उन्नतिशील नहीं बनेगा। वेद ऐसे जाग्रत उन्नतिशील समाजको 'संभूती' नामसे पुकार रहा है। (सं इति एकीभूय) एक होकर, संघटित बनकर, एक ध्येयकी ओर जानेकी प्रेरणासे, मिलकर जो (भूतिः) ऐश्वर्यमय अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये उद्यमशील संघटना होती है, उसका नाम 'संभूती' है। यह संघटना जीवित भी रहती है, जाग्रत रहती है और अभ्युदयको भी प्राप्त करती है। यही संभूति अमर होती है।

जगत्यां जगत्। वा. य. ४०।१; ईश १

'हलचल करनेवाली एक व्यक्तिको 'जगत्' कहते हैं। (गच्छति इति जगत्) जो हलचल करता है वह व्यक्ति जगत् कहलाता है। इस तरह अनेक हलचल करनेवाली व्यक्तियाँ इकट्ठी हुई, संघटित हुई तो उस संघका नाम 'जगती' होता है। 'जगत्' और 'जगती' को ही 'व्यक्ति और समष्टी' अथवा 'व्यक्ति और समाज' कहते

हैं। (जगत्यां) समष्टीके आधारसे (जगत्) व्यक्ति रहती है। समाजके आधारसे एक व्यक्ति रहती है। मनुष्य उत्पन्न होते ही पराधीन रहता है। दूसरोंके द्वारा उसका प्रतिपालन होना चाहिये। घरमें माता, पिता, भाई बहिन आदि जो रहते हैं, वे इस बालकका पालन करते हैं। घरमें कोई न रहे तो उस बालकका पालन समाज करता है, अथवा राष्ट्रशासन द्वारा उसका पालन होता है। १५।२० वर्ष तक समाजद्वारा पालन होकर जब यह तरुण तैयार होता है तब इस मनुष्यको कुछ स्वातंत्र्य प्राप्त होता है।

समाजकी सेवाका धर्म

स्वातंत्र्य प्राप्त होनेपर, सामर्थ्ययुक्त तरुण होनेपर भी व्यक्ति मरनेवाली ही रहती है और सहस्रों बातोंमें वह समाजपर अवलंबित होती है। इसीलिये समाज श्रेष्ठ है, आदरणीय है और संसेव्य है। समाजकी सेवा इसी कारण व्यक्तिको करनी चाहिये। यही व्यक्तिका धर्म है। जिस कारण समाजपर व्यक्ति आश्रित रहती है, इसी कारण व्यक्तिको अपना तन मन धन अर्पण करके समाजकी सेवा करनी चाहिये। जो व्यक्ति समाज सेवा नहीं करेगी, वह अपने धर्मसे, अपने कर्तव्यसे, भ्रष्ट होगी।

'अंग अंगीकी भलाईके लिये अपना समर्पण करे' यह नियम है। शरीरमें देखिये प्रत्येक इंद्रिय सब शरीरकी भलाईके लिये अपनी शक्ति लगाता है। इस कारण सब शरीर स्वस्थ रहता है। आंख देखता है तो वह सब शरीरकी भलाईके लिये देखे, मुख खाता है तो वह अन्न ऐसा खाये कि जिससे सब शरीर स्वस्थ रहे। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियां भी अपने अपने कार्य सब शरीरकी भलाईके लिये ही करते रहें। इसीसे सब शरीर स्वस्थ, बलवान् और दीर्घजीवी रह सकता है। मुखने बुरा खाद्य खाया या विषरूप पेय पीया, अथवा पेटने अन्नको पचानेका कार्य नहीं किया तो शरीर रोगी होकर नष्ट हो जायगा। जबतक प्रत्येक अंग और अवयव सब शरीरकी भलाईके लिये अपनी शक्ति लगाता है, तब तक ही शरीर स्वस्थ रहता है, और शरीरमें निजानन्दकी अनुभूति होती है। तात्पर्य यह है कि 'अंगको अंगीकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये।' दुष्टोंके संघमें भी जो एकात्मता दुष्ट भावसे होती है, वही आत्मीयता ज्ञानियोंको शुभभावनासे अपने समाजके अभ्युदयके लिये करनी चाहिये।

समाज अंगी है और व्यक्ति उसका अंग है। इसीलिये व्यक्तिको समाजके अभ्युदय-निःश्रेयसकी सिद्धिके लिये, समाजको सुसंघटित और बलवान बनानेके लिये अपनी सेवाका समर्पण करना चाहिये। ज्ञानी लोग अपने ज्ञानके प्रचारसे, शूरवीर अपने संरक्षणके सामर्थ्यसे, धनी व्यापारी अपने धनसे, वाणिज्य व्यवहारसे अथवा कृषिकर्मसे तथा कर्मचारी अपने कर्मसे राष्ट्रका अभ्युदय सिद्ध करनेका प्रयत्न करें। अपनी शक्तिको राष्ट्रदेवके लिये समर्पित करें। इसका कारण यही है कि समाज वा राष्ट्रने इस व्यक्तिका रक्षण, पालन तथा पोषण किया है। इसका ऋण व्यक्तिपर है। इस ऋणको उतारनेके लिये व्यक्तिकी सेवा समाज पुरुषकी प्रीतिके लिये समर्पण होनी चाहिये।

इस तरह व्यक्तिका कर्तव्य नियत हुआ। और समाजका भी कर्तव्य इसीसे नियत हुआ। समाज व्यक्तिको सुरक्षित रखे, उन्नत करे और व्यक्ति अपनी शक्तिको समाजकी भलाईके लिये समर्पित करे। सब प्रकारका मानवधर्म इसमें आगया है। यही यज्ञ है। यही यज्ञ समाजको सुस्थितिमें रखता है।

व्यक्तिकी सब शक्तियां समाजके कल्याणके लिये जो आवश्यक सेवा हो उसमें लगनी चाहिये, इसमें व्यक्तिका धन भी आगया है। व्यक्ति अपने पास धन रखे, पर वह समाजका विश्वस्त निधि करके रखे। आवश्यकता होनेपर वह धन समाजके कल्याणके लिये लगे। क्योंकि धन समाजका है, राष्ट्रका है व्यक्तिका नहीं है। वह उसको समर्पित होना चाहिये।

इसीका नाम यज्ञ है। इसीलिये कहा है कि यज्ञके लिये सबका धन है। यह सब होनेके लिये उत्तम शासन व्यवस्था चाहिये, वह शासन व्यवस्था प्रजाके लिये अनुकूल चाहिये, प्रजाके हितके लिये चाहिये, वह प्रजाकी संमति द्वारा बनायी होनी चाहिये। ऐसी शासन संस्था '**प्रजापति संस्था**' नामसे वेदोंमें प्रशंसित हुई है। इसका स्वरूप इस निबंधमें देखना है।

समाजमें एक समय ऐसा आता है कि जिस समय सब प्रजा ज्ञानी, प्रबुद्ध, कर्तृत्व शक्तिसे युक्त, अनुशासनशील

होती है। ऐसी प्रजा स्वयंशासित होती है। किसीका दुष्ट शासन वह कदापि नहीं मानती। ऐसी प्रजा अपना शासन स्वयं निर्माण करती है, इसलिये कहा है कि 'काल ही प्रजा और प्रजापतिको निर्माण करता है। देखिये—

कालद्वारा प्रजापतिका निर्माण

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः।
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्॥

अथर्व १९।५३।८-१०

'काल प्रजा उत्पन्न करता है, काल प्रजाजनोंके पालन कर्ताको उत्पन्न करता है, इस कारण काल प्रजापालकका पिता है और वह काल ही सबका शासक है।'

समय पर प्रजा उन्नत होती है, प्रजा उन्नत होनेपर उनके पालनकर्ताको वह चुनती है और शासकके स्थानपर उसको बिठलाती है। इस तरह काल ही सब करता है। प्रजा ज्ञान विज्ञान संपन्न होती है, तब वह अपने शासकके स्थानके लिये प्रजापालक संस्थाका निर्माण करती है और स्वयं ही अपना राज्यशासन किस तरह होना चाहिये, इसका निर्णय करती है, और वैसा शासन तथा उसके योग्य शासक निर्माण करती है और वैसा राज्यशासन चलाती है। राज्यशासनके प्रत्येक अधिकारीके लिये कैसे पुरुष चाहिये वैसे चुने जाते हैं और वैसे सुयोग्य पुरुषोंको अधिकारके स्थान दिये जाते हैं इस हेतुसे कहा है—

प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्।

वा. य. १४।२८

'प्रजा उत्पन्न हुई, पश्चात् उनका शासक प्रजापति हुआ।' प्रथम प्रजा होती है, वह कुछ अनुभव लेती है, शासकके विना कार्य ठीक नहीं हो सकता इसका अनुभव प्राप्त होता है, पश्चात् वह शासकका निर्माण करनेका प्रयत्न करती है। इसमें अनेक प्रकारके राज्यशासन उत्पन्न होते हैं। छोटे मोटे क्षेत्रोंमें विविध प्रकारके शासन चलते हैं, अनेक अनुभव लिये जाते हैं। राज्य, महाराज्य, साम्राज्य, जानराज्य आदि अनेक शासनतंत्र बनते हैं। और 'प्रजापति संस्था' की निर्मिती होती है। इसमें प्रत्येक अधिकारके स्थानके लिये उत्तमसे उत्तम सुयोग्य मनुष्य चुना जाता है और उसको वह अधिकारका स्थान दिया जाता है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

प्रजापालककी अद्वितीयता

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।

ऋ. १०।१२१।१०; अथर्व. ७।८०।३; वा. य. १०।२० तै. सं. १।८।१४।२; ३।२।५।६; तै. ब्रा. २।८।१।२; ३।५।७।१; निरु. १०।४३

"हे (प्रजापते) प्रजापालक! (त्वत् अन्यः न) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई ऐसा नहीं है कि जो (एतानि विश्वा जातानि) इन सारी प्रजाओंको (परि बभूव) घेर सके। (यत्कामाः ते जुहुमः) जिस ऐश्वर्यकी इच्छासे हम यज्ञ कर रहे हैं (तत् नः अस्तु) वह हमारी कामना सफल बने और (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके स्वामी; बनें।"

राष्ट्रपति ऐसा बनाया जाय कि जिससे अधिक बलवान और योग्य कोई दूसरा न हो। सब प्रजाजनोंके मनोंको आदरभावसे व्यापनेवाला जो हो वही प्रजापालक बने। सबको घेरकर रहनेकी शक्ति जिसमें हो, वही राष्ट्रपतिके स्थानपर नियुक्त किया जावे। वह राष्ट्रपति बनकर सबका ऐश्वर्य बढावे।

'**वयं स्याम पतयो रयीणां**' हम सब ऐश्वर्यके स्वामी बनें। प्रजाके पास धन ऐश्वर्य तथा सुखके साधन बढें यह प्रजाकी इच्छा होती है। सुख आनंद और शान्ति सबको चाहिये। इसीलिये तो राज्यशासन चलाना है। राज्य-शासनका उद्देश्य दुःख निर्माण करनेका नहीं हो सकता, परंतु सुख आनन्द और शान्ति प्राप्त हो यही हो सकता है। इसलिये राष्ट्रशासनका प्रत्येक अधिकारी ऐसा होना चाहिये कि जो उस कार्यके लिये उत्तमसे उत्तम हो। 'तेरेसे भिन्न दूसरा कोई इस कार्यको करनेके लिये योग्य नहीं है।' इस लिये तुमको इस कार्य करनेके स्थानपर नियुक्त किया है। (त्वत् अन्यः न) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है, तू ही इस कार्यके लिये सर्वथा सुयोग्य हो, इसलिये तेरी नियुक्ति

इस कार्यके लिये हम कर रहे हैं। राष्ट्रमें राष्ट्रपति, मंत्री, सेनापति, सेनाधिकारी, शिक्षक, संरक्षक आदि अनेक कार्य-कर्ता आवश्यक होते हैं। जिस कार्यके लिये जैसा अधिकारी चाहिये वैसा चुनना चाहिये यह इसका तात्पर्य है। (यत्कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु) जिस कामनाकी सिद्धिके हेतुसे शासन व्यवस्थाके लिये हम कर रूपसे धनादि देते हैं, वह सुख आनंद और शांति हमें प्राप्त हो और हम (रयीणां पतयः वयं स्याम) ऐश्वर्य संपन्न हों, ऐसा राज्यशासन बने इसलिये हमारा यह प्रयत्न हो। ऐसी व्यवस्था निर्माण होनेके लिये कैसे अधिकारी चाहिये इसका वर्णन करनेवाला यह मंत्र है—

अधिकारी ब्रह्मचारी हों

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥

अथर्व ११।५।१६

राज्यशासनके अधिकारी ब्रह्मचर्य पालन किये हुए हों। (आचार्यः) शिक्षक वर्ग भी ब्रह्मचारी हों और (प्रजापतिः) प्रजापालनका कार्य करनेवाले भी ब्रह्मचारी ही हों। अर्थात् ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक गुरुकुलवासमें रहकर विद्याध्ययन किये हुए सत्त्वशील चारित्र्यसंपन्न पुरुष शासनाधिकारी हों। ऐसे (प्रजापतिः) प्रजापालक होनेपर वे (वि राजति) विशेष शोभते हैं, विशेष प्रशंसित होते हैं। (विराट् वशी) इस तरहके प्रजापालक अधिकारी जब संयमी होते हैं, तब उनको इन्द्र कहते, अर्थात् शासनके मुख्य अधिकार में रहने योग्य माने जाते हैं।

यह कितना आदर्श शासन यहां कहा है कि जिसमें विद्या पढानेवाले और शासन और रक्षण करनेवाले ये दोनों प्रकारके अधिकारी ब्रह्मचारी हों। गुरुकुलमें रहकर विद्याध्ययन किये हुए हों। ब्रह्मचर्य पालन करके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुचिता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्तिका जिन्होंने अनुष्ठान किया है ऐसे अधिकारी जहां राज्यशासनके कार्यमें नियुक्त हुए हों। वहांका राज्यशासन कितना उत्तम हो सकता है, इसकी कल्पना पाठक अपने मनमें कर सकते हैं। जो अहिंसा पालन करते हैं, सत्य मानते, सत्य बोलते और सत्याचरण करते हैं, जो चोरी नहीं करते, जो विवाह पूर्व ब्रह्मचर्य पालन करके ऊर्ध्व-रेता बने हैं और विवाह करनेपर भी जो ऋतुगामी रहकर गृहस्थधर्ममें पालन करने योग्य नियम पालन करते हैं, जो परिग्रह वृत्ती नहीं धारण करते, परंतु अपरिग्रह वृत्तीसे रहते हैं, जो विचार उच्चार आचारमें पवित्र हैं, जो संतोष वृत्तीके हैं, जो धर्माचरण और अपना कर्म करनेमें होनेवाले कष्ट आनंदसे सहते और अपना कर्म उत्तम करते हैं, जो नित्य नियमसे स्वाध्याय करते हैं और जो ईश्वरकी भक्ति करते हैं। इस तरहके इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह और शमदमके अभ्यासी राष्ट्रशासनके अधिकारी हों।

शिक्षा विभाग, न्यायविभाग, संरक्षण विभाग और युद्ध विभागके अधिकारी इसी तरह संयमशील हों और हिंसाप्रिय और घातपात करनेवाले न हों। पर जहां जितना शत्रुदमनके लिये कार्य करना आवश्यक हो वहां उतना कर्तव्य समझ कर करें। सदा घातपात करते न रहें।

इस तरहके शासनाधिकारी होंगे तो आदर्श राज्यशासन हो सकता है। अधिकारी कैसे हों इस विषयमें देखिये—

शासनाधिकारीके गुण और कर्म

धाता मित्रः प्रजापतिः। अथर्व ११।९।२५
अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥

अथर्व १४।२।१३

शं प्रजापतिः। अथर्व १९।९।६

' प्रजापालक प्रजाके साथ मित्र जैसा आचरण करे और प्रजाका (धाता) धारण पोषण करे। (शं) प्रजापालक प्रजाका सब प्रकारसे कल्याण करे। अश्विदेव अर्थात् वैद्य और प्रजापालक प्रजाके ऐश्वर्यको बढा देवें। ' अर्थात् शासन ऐसा हो कि जिससे प्रजाको शान्ति मिले, प्रजाका पोषण हो, रक्षण हो और प्रजाका ऐश्वर्य बढता जाय।

(प्रजापतिः प्रजया) प्रजाके शासन करनेवाले अधिकारी प्रजाके साथ मिलजुलकर रहें, उनके साथ मित्र जैसा आचार व्यवहार करता है वैसा व्यवहार करें, (धाता) प्रजाका धारण, संघटन और पोषण हो ऐसी शासनव्यवस्था हो। प्रजाजनोंमें (शं) शान्ति रहे, गुण्डेलोग उपद्रव न मचावें ऐसा सुप्रबंध करें।

प्रजापतिर्निधिपतिर्नः ॥ अथर्व ७।१८।४
सत्यधर्मा प्रजापतिः ॥ अथर्व ७।२५।१

"सत्य धर्मका पालन करनेवाला प्रजाओंका पालक राजा हो और ऐसा राष्ट्रपति हमारे धनोंका रक्षक हो।" (निधि-पतिः) धनोंका रक्षक सत्यधर्मा हो, असत्य व्यवहार करनेवाला न हो। यहां राष्ट्रपतिके दो कर्तव्य बताये हैं। (१) राष्ट्रपति सत्यका पालक हो और (२) वह प्रजाके धनोंका संरक्षक हो।

'सत्य-धर्मा' अर्थात् जो शासनके नियम, विधानके नियम हैं, उनका पालन करनेवाले शासनाधिकारी हों। सत्य विचार, सत्यभाषण और सत्य आचार करनेवाले अधिकारी हों, असन्मार्गमें कभी न जांय। बुरे कर्म न करें और गुण्डोंको सहाय्य न करें। प्रजाजनोंके धनका (निधि-पतिः) संरक्षण करनेवाले अधिकारी हों। धनीके धनका रक्षण करें और प्रजाके ऐश्वर्यका पालन करें। ऐसे शासन कार्यमें नियुक्त अधिकारी हों।

प्रजापतिः निधिपा देवः। वा० य० ८।१७
प्रजापतिर्वृषा असि। वा० य० ८।१०

'प्रजा पालक (वृषा) बलशाली हो और वह प्रजा-जनोंके ऐश्वर्योंका संरक्षण करनेवाला हो।' (वृषा) बल-वान्, वीर्यवान् होनेका अर्थ यह है कि, शासन करनेवालेके अन्दर शासन कार्य करनेके लिये जितना बल चाहिये उतना बल उसमें हो, वह अपना कार्य-अपना कर्तव्य करनेमें असमर्थ न हो, निर्बल न हो। अधिकारी जिस अधि-कारके स्थानपर रखा होगा, उस स्थानके कार्य यथायोग्य करनेमें वह तत्पर हो, उसके कर्तव्यमें विघ्न करनेवाले कोई उत्पन्न हुए तो उनको दूर करके अपना कर्तव्य कर्म उत्तम रीतिसे निभानेवाला वह अधिकारी हो।

ऐसे अधिकारी ही (निधि-पः) प्रजाजनोंके ऐश्वर्यका उत्तम रीतिसे संरक्षण कर सकते हैं। पहरेदारके पासके शस्त्रोंकी ही चोरी हो जाय, ऐसे पहरेदार न हों, यह तात्पर्य इस मंत्रका है। प्रजापालकके और कर्तव्य अब देखिये—

इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः।
ऋ० ९।५।९

प्रजापति स्वयं (पवमानः) पवित्र बने और पवित्रता चारों ओर करे, (हरिः हरति दुःखं) प्रजाजनोंके दुःखोंको दूर करे, और उनको सुख देवे। (वृषा) प्रजापति बलवान बने, कभी निर्बल न बने। अपना बल बढाकर शत्रुको दूर करे और प्रजाको निर्भय बनावे। (इन्द्रः इन् शत्रून् विदार-यति) प्रजापालक शत्रुओंका विदारण करे, उनको छिन्न भिन्न करे और शत्रुओंको दूर करे। तथा प्रजापालक (इन्दुः उनत्ति क्लेदयति) प्रजा जनोंको शान्ति दे, अर्थात् अशान्ति दूर करे। प्रजाको ऐश्वर्ययुक्त करे, आनन्द प्रसन्न रखे।

१ वृषा—प्राजपालक बलवान बने,
२ इन्द्रः—परम ऐश्वर्यवान बने, शत्रुओंको अपनी शक्तिसे दूर करे, शत्रुको छिन्न भिन्न करे।
३ हरिः—प्रजाके दुःखोंको दूर करें,
४ पवमानः—स्वयं पवित्र रहे और प्रजाको पवित्र मार्गपर चलावे,
५ इन्दुः—प्रजाको शान्ति और प्रसन्नता देवे,
६ प्रजापतिः—प्रजाका पालन करके प्रजाको निर्भय करे और सुखी करे।

प्रजाका पालन करनेके कार्यमें जो नियुक्त होते हैं उनमें ये गुण और ये कर्म होने चाहिये।

न्यायदान

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
वा० य० १९।७७

'प्रजापालकने सत्य और असत्य ये दोनों रूप देखे और उनका निर्णय उसने किया। असत्यपर उन्होंने श्रद्धा नहीं रखी, परंतु सत्यपर ही श्रद्धा रखी।' अर्थात् सत्यका पक्ष उसने लिया और असत्यको दूर किया, दण्ड दिया।

सत्य और असत्य ये दो पक्ष रहते हैं और इन दो पक्षोंमें विवाद होता है। इस विवादका निर्णय शासनव्यवस्था द्वारा होना चाहिये। प्रजापालक सत्यासत्यका निर्णय करनेके कार्यके लिये एक 'न्यायाधीश' नामक चतुर तथा विधिज्ञ अधिकारी नियुक्त करता है। इसके सामने सत्य और असत्य ये दोनों पक्ष आते हैं। कौनसा पक्ष सत्य है और कौनसा असत्य है इसका निर्णय यह अधिकारी करता है। सत्यपर श्रद्धा और असत्य पर अश्रद्धा रखता है। अर्थात् सत्यको राजमान्यता देता है और असत्यके प्रतिकूल वह रहता है। इस तरह प्रजाको न्यायदान देनेका कार्य

प्रजापालक करता है। अब कोश व्यवस्थाके संबंधमें देखिये--

राष्ट्रके कोषाध्यक्ष

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहु भूमानमक्षितम् ॥
अथर्व ३।२४।७

हे (प्रजापते) प्रजापालक ! (उपोहः समूहः च) धन लानेवाला और संग्रह करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) कोषाध्यक्ष हैं। ये दोनों (तौ इह) यहां (बहुं भूमानं) बहुत विशाल (अक्षितं स्फातिं आवहतां) अक्षय संपत्ति लावें।

' उप-ऊहः '—धनादिको पास लानेका विचार करनेवाला। ' सं-ऊहः '—मिलकर विचार करनेवाला अथवा धनको इकट्ठा करनेवाला। एक धन लानेवाला और दूसरा उस धनको जमा करनेवाला ये दो राष्ट्रपालकके अधिकारी हैं। ' क्षत्ता '—कुशल कारीगर, सुतार, लकडीका काम करनेवाला, अधिकारी, द्वारपाल, रक्षक, सारथी, रथी वीर, कोषका अध्यक्ष। राष्ट्रपालने राष्ट्रमें रखे ये धनरक्षक अधिकारी इस राष्ट्रमें ऐश्वर्यकी बहुत समृद्धि लावें और राष्ट्रको धनधान्यसंपन्न बना देवें। ' क्षत्ता ' कारीगर है। ' उपोह ' प्रजासे कर वसूल करनेवाला है और ' समूह ' सब लाया धन इकट्ठा करके खजानेमें रखनेवाला है। ये अधिकारी राष्ट्रकी समृद्धि बढावें।

राष्ट्रपति राष्ट्रमें बल बढावे

प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि ॥
अथर्व ९।१।१०

' हे (प्रजापते) राष्ट्रपालक ! तू (भूम्यां अधि) मातृभूमिमें अपने (शुष्मं) प्रभावी बलको (वृषा क्षिपसि) अपने पूरे बलसे फेंकता है, बढाता है। ' प्रजापालक प्रजाकी ऐसी पालना करता है कि जिससे प्रजाजनोंमें बलकी वृद्धि होती रहती है।

राष्ट्रपति अपने प्रजापालनकी पद्धतिसे राष्ट्रके प्रजाजनोंमें बलकी वृद्धि करे। बल अनेक प्रकारका होता है, ज्ञानबल, वीरताका बल, धनबल, कर्मबल, कृषिबल, वन्य वनस्पतियोंका बल, भूमिमें मिलनेवाला खनिज पदार्थोंका बल, प्रजाकी संघटनासे होनेवाला बल, ऐसे सेंकडों प्रकारके बल होते हैं। ये सब बल प्रजामें बढने चाहिये।

मेघ प्रजापति है वह अपना वृष्टि जलरूप बल भूमिमें फेंकता है। इस बलको भूमि और वृक्षवनस्पतियाँ अपने अन्दर धारण करती हैं और उस बलसे बढती हैं, फल फूल वाली होकर प्रजाको आनंद देती हैं। इस तरह राष्ट्रशासक प्रजाजनोंको अपना शासनका बल देवें और प्रजाका बल बढावें। उत्तम राज्यशासनसे प्रजा भी सामर्थ्यशालिनी होती है।

तेज यश और अन्न प्रजाजनोंको मिले

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥
अथर्व ६।६९।३

' तेज, यश और यज्ञसे प्राप्त होनेवाला दूध आदि खाद्यपेय अर्थात् अन्न, जैसा द्युलोकमें तेज ईश्वर बढाता है वैसा, प्रजापालक मुझमें बढा देवे। ' अर्थात् मैं तेजस्वी बनूं, मैं बलवान् बनूं, यशस्वी बनूं और अन्नदान द्वारा यज्ञ करूं और उससे खान पानके लिये अन्नको बढाऊं; यह मेरी इच्छा है। हमारे राष्ट्रका पालक अपने राष्ट्रशासनके सुप्रबंधसे ऐसी व्यवस्था करे कि जिससे मेरी यह इच्छा सफल हो।

प्रजाजनोंमें ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि ' मैं बल, तेज, यश और अन्न प्राप्त करके आनन्दयुक्त बनूं। और अपने इस सामर्थ्यसे अन्य प्रजाजनोंको सामर्थ्यवान बनाऊं। ' राष्ट्रपति अपने शासनके सुप्रबंधसे प्रजाजनोंमें ऐसी सदिच्छा निर्माण करे, प्रजाजनोंमें उत्पन्न हुई यह सदिच्छा बढती जाय और सब प्रजा तेजस्विनी, यशस्विनी और बलशालिनी बन कर पर्याप्त खानपान प्राप्त करके आनंद प्रसन्न हो जाय।

मातृभूमिको उपजाऊ बनाना

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना। यत्त ऊनं तत्त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ अथर्व १२।१।६१

हे मातृभूमि ! (त्वं जनानां आवपनी) तू इस राष्ट्रकी बीज बोने योग्य भूमि है, (अदितिः कामदुघा) अन्न देने-

वाली कामधेनु जैसी (प प्रथाना) यशस्विनी फैली हुई भूमि जैसी तू है । (ऋतस्य प्रथमजा प्रजापतिः) सत्य नियमोंका पहिलेसे पालन करनेवाला प्रजापालक (यत् ते न्यूनं) जो तुझमें न्यून है, उसको (तत् ते आपूरयाति) वह परिपूर्ण करता है, तुझमें कुछ भी और कहीं भी न्यून रहने नहीं देता ।

अर्थात् भूमिकी उपजाऊ शक्तिमें जो जहां न्यून है उस को प्रजापालक खाद आदि देकर, तथा अन्यान्य आयोजनाएं करके भूमिकी उपजाऊ शक्ति बढा देता है । भूमिमें रहनेवाले जितने लोग होंगे, उनके लिये भरपूर अन्नकी उपज अपनी भूमिमें ही होनी चाहिये । धान्यके लिये दूसरे देशपर अवलंबित रहनेकी दुरवस्था प्राप्त न हो, ऐसी सुव्यवस्था प्रजापालकको अपने राष्ट्रमें करनी चाहिये । खान पानके लिये देश स्वावलंबी रहना चाहिये । यह उपदेश यहां है ।

मातृभूमिपरका अन्न प्रजाजनोंको मिले

यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते सं प्रयच्छ प्रजापते ॥
अथर्व १०।५।४५

' हे (भुवः पते प्रजापते) मातृभूमिके पालक और हे प्रजाजनोंके पालक ! (यत् अन्नं) जो अन्न (पृथिवीं अनु आक्षियति) हमारी मातृभूमिपर रहता है, (तस्य) उस अन्नका विभाग (त्वं नः सं प्रयच्छ) तू हम सबको योग्य रीतिसे प्रदान कर । ' अर्थात् हमारी मातृभूमि पर जो अन्न उत्पन्न होता है, वह प्रथम हमें मिले ऐसा शासन प्रबंध कर । हमारे लिये जितना चाहिये उतना मिलने पर, जो बचेगा, उसका उपयोग तू योग्य रीतिसे कर । पर प्रथम हम सब प्रजाजनोंके खानेके लिये यह मिलना चाहिये और वह भी सब प्रजाजनोंको योग्य विभागमें बंट कर मिलना चाहिये । प्रजाजन भूखे मरते रहें और अन्न बाह्यदेशमें जाता रहे ऐसा कदापि नहीं होना चाहिये । माताका दूध प्रथम उस माताकी संतानको मिलना चाहिये, और उसका पेट भरनेपर अन्यके संतानोंको माता चाहिये तो देवे । पर प्रथम पुत्रका अधिकार माताके दूधपर है । यही नियम मातृभूमिसे उत्पन्न हुए धान्यके विषयमें है ।

*

तैंतीस अधिकारियोंका अन्नसे पोषण

एतस्मात् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः । अथर्व ११।३।५२

' इस अन्नसे (प्रजापतिः) प्रजा पालकने तैंतीस लोकोंको (निरमिमीत) निर्माण किया है । ' आधिदैवतमें विश्वमें सूर्य चन्द्रादि तैंतीस देवगण विश्वका संचालन करनेके कार्यमें नियुक्त किये हैं । अधिभूतमें राष्ट्र संचालनके लिये तैंतीस अधिकारी गण प्रजापतिने नियुक्त किये हैं । अध्यात्ममें शरीरमें नेत्र कर्ण नासिकादि तैंतीस शक्तियां, अर्थात् देवतांश, शरीरके संचालनमें लगे हैं । तीनों स्थानोंके नियम एक ही हैं ।

यहां हमें राष्ट्र संचालनका ही विचार करना है । इसलिये प्रजापालक राष्ट्रपतिने तैंतीस अधिकारिगण राष्ट्रसंचालनके तैंतीस कार्यालयोंपर नियुक्त किये हैं और उनको (ओदनात्) अन्न-खाद्यपेय-योग्य प्रमाणमें मिले ऐसा प्रबंध किया है ।

विश्वके तैंतीस देवोंको यज्ञसे अन्नभाग मिलता है, शरीरान्तर्गत इन्द्रियगणोंको खाये अन्नमेंसे भाग मिलता है और राष्ट्रसंचालक अधिकारी गणोंको राष्ट्रमें उत्पन्न होनेवाले अन्नका योग्य भाग और कर रूपसे आनेवाले धनमेंसे वेतन रूपसे मिलता है । अर्थात् ओदनसे अन्नसे तैंतीस देवोंका पोषण होता है, यह तीनों स्थानोंमें समान रीतिसे सत्य है । इसी ओदनसे तैंतीस देवोंका निर्माण होता है ।

यहां यह बताया है कि राष्ट्रमें जो अन्न है, उससे जैसा प्रजाजनोंका पोषण होना चाहिये, वैसा ही राष्ट्रके शासनका कार्य करनेवाले अधिकारियोंका और राष्ट्रीय स्वयंसेवकोंका भी पोषण होना चाहिये । यदि अधिकारियोंके पोषणकी उपेक्षा हुई तो उनसे राष्ट्ररक्षणका कार्य यथायोग्य रीतिसे नहीं हो सकता । यदि स्वयंसेवकोंकी उपेक्षा हुई तो वे अपना सेवाका कार्य ठीक तरह नहीं कर सकेंगे । ऐसा होनेपर राष्ट्र रक्षण नहीं होगा और प्रजाजनोंके कष्ट बढ जायंगे । इसलिये राष्ट्रपतिका यह कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्रमें प्रजाका पालन करनेका कार्य करें, इस कार्यके करनेका सामर्थ्य आनेके लिये राष्ट्रशासनके कार्यमें नियुक्त हुए अधिकारियोंका भी यथायोग्य पालन पोषण होना चाहिये अर्थात् उनको पर्याप्त वेतन मिलना चाहिये ।

यहां 'ओदन' पद है। 'ओदन' का अर्थ 'पके चावल' है। और पके चावलोंसे सब ३३ देवताएं हुईं ऐसा कहा है। यह अलंकारका वर्णन है। ये ३३ देव विश्वके अधिकारी हैं, वैसे ही राष्ट्रके ३३ अधिकारी हैं और शरीरमें भी ३३ दैवी अंश हैं। ये सब अन्नसे कार्य करते हैं। यह आलंकारिक वर्णन है। इससे राष्ट्रकी व्यवस्था मननपूर्वक जाननी चाहिये।

राष्ट्रपति प्रजाजनोंके लिये घर बनावे

प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ।
अथर्व ९।३।११

'हे (शाले) घर! (परमे-ष्ठी प्रजापतिः) उच्च आसन पर विराजनेवाले राष्ट्रपतिने (प्रजायै त्वा चक्रे) प्रजाजनोंका हित करनेके लिये तुझे-इस घरको-बनाया है।'

अर्थात् राष्ट्रपति अपने शासन प्रबंधसे प्रजाजनोंके रहनेके लिये राष्ट्रमें घर बनावे। जिनमें जाकर प्रजाजन रहें। जो धनी अपने रहनेके लिये घर बना सकते हैं वे अपने लिये घर बनावें और उनमें रहें। पर जो लोग अपने धनसे अपने रहनेके लिये घर नहीं बना सकते, उनके लिये राष्ट्रके शासक शासनप्रबंधसे घर बना देवें और वे उनमें जाकर रहें।

साधु, संन्यासी, उपदेशक, परिव्राजक, तथा अन्य कम धनवाले लोग अपने लिये घर नहीं बना सकते। ऐसे लोगोंको रहनेके लिये घर शासनप्रबंधसे बनाये जांय, यह इस मंत्रका भाव है। राष्ट्रमें कोई मनुष्य घरके विना न रहे। सब प्रजाजनोंको रहनेके लिये घर मिलें यह प्रबंध शासन संस्थाद्वारा होना चाहिये।

जनहितके लिये जलस्थानकी स्थापना

अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥
अथर्व १०।५।७-१४

'हे दिव्य जलो! (अस्मासु वर्चः धत्त) हम सबमें तेजस्विताकी धारणा करो। (अपां शुक्रं) जलोंसे बल आकर हमारे अन्दर रहे। (प्रजापतेः धाम्ना) राष्ट्रपतिके धामके नियमोंसे (अस्मै लोकाय) इस जनताकी सुख प्राप्तिके लिये (वः सादये) आप जलोंको मैं यहां स्थापन करता हूं।'

राष्ट्रपतिके स्थानसे आज्ञापत्र निकले और उसमें कथित नियमोंके अनुसार लोगोंके हितके लिये जलोंका उपयोग हो ऐसा प्रबंध किया जाय। कूएं, तालाब, नहर आदि बनाकर जलोंका उपयोग जनताको हो ऐसी व्यवस्था की जाय। राष्ट्रमें राष्ट्रपतिकी आज्ञानुसार जलके प्रबंध योग्य रीतिसे किये जांय।

जलोंमें रोगनिवारण करनेका गुण है। "आपो विश्वस्य भेषजीः, आपो अमीवचातनीः।" (ऋ०)

जल सब रोगोंकी औषधी है। इस कारण जलमें एक तरहकी शक्ति है। वह प्रजाजनोंको प्राप्त हो इसलिये जनताको उत्तम जल जितना चाहिये उतना मिले।

मातृभूमिको रमणीय बना दो

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा
आशामाशां रण्यां नः कृणोतु ।
अथर्व० १२।१।४३

"जिस मातृभूमिके अन्दरके (पुरः देवकृतः) नगर देवताओंके द्वारा बनाये हैं, जिस मातृभूमिके (क्षेत्रे विकुर्वते) अनेक लोग विविध प्रकारके कार्य करते रहते हैं, वह हमारी मातृभूमि (विश्व-गर्भा) अनेक वस्तुओंको अपने गर्भमें धारण करती है। प्रजापालक राष्ट्रपति उस हमारी मातृभूमिको (आशां आशां) प्रत्येक दिशामें (नः रण्यां कृणोतु) हमारे लिये रमणीय बनावे।"

मातृभूमिमें प्रजाजन जहां चले जांय वहां उनके लिये मातृभूमि रमणीय है ऐसा आनन्द उनके अनुभवमें आजाय। चारों ओर रमणीयता हो। चारों ओर सुन्दर उद्यान, उपवन, पुष्पवाटिकाएं, जलके निर्झर, तथा अन्य प्रकारकी रमणीयता बनायी जाय। जिनको देखकर लोग आनन्दित और प्रसन्न हो जांय। सर्वत्र मार्ग निष्कंटक और अरेणु हों, मार्गमें भी जलस्थान हों। तात्पर्य सर्वत्र राष्ट्रभरमें रमणीयता रहे। राज प्रबंधके द्वारा चारों ओर रमणीय स्थान बनाये जांय।

व्यापार व्यवहारके लिये पर्याप्त धन और उसमें रुची

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥ ५ ॥

तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमदधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥ अथर्व० ३।१५।५-६

' हे देवो ! (धनेन धनं इच्छमानः) अपने पासका धन लगाकर व्यापार व्यवहारसे अधिक धन प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस मूल धनसे व्यापार व्यवहार करनेकी इच्छा करता हूँ, (तत् मे भूयः भवतु) वह धन मेरे व्यापार व्यवहारके लिये जितना चाहिये उतना पर्याप्त होवे, और कभी (मा कनीयः) कम न होवे । हे (अग्ने) मार्गदर्शक तेजस्वी प्रभो ! (सातघ्नः देवान्) लाभकी हानि करनेवाले कुव्यवहार कर्ताओंको दूर करो। वे हमारे पास न रहें और हमारे व्यवहारमें रहकर हमें हानि न पहुंचावें । जो व्यवहार मैं कर रहा हूं उस (तस्मिन्) व्यापार व्यवहारमें प्रभु (मे रुचिं आ दधातु) मेरी रुची लगावे, मेरा मन उस धंदेमें लगे ऐसा करे । (सोमः) चन्द्रमाके समान शान्त, (अग्निः) अग्निके समान प्रकाश करनेवाला (सविता) सबको प्रेरणा देनेवाला (प्रजापतिः) प्रजाजनोंका पालक शासन-कर्ता व्यापार व्यवहार करनेवालोंके लिये व्यापार व्यवहारमें रुची बढावे । और हानि करनेवालोंको दूर करे ।

राष्ट्रका ऐश्वर्य बढानेके लिये राष्ट्रमें छोटे मोटे कारखाने और कारोबार होने चाहिये और बढने चाहिये। राष्ट्रमें बेकारोंकी संख्या बढनी नहीं चाहिये। प्रत्येक मनुष्यके लिये काम और जो कार्य करेगा उसको उस कार्यके बदले में योग्य दाम मिलना चाहिये । यह सब तब हो सकता है कि जब राष्ट्रमें व्यापार व्यवहार उत्तम रीतिसे चलते रहेंगे । इसलिये राष्ट्रशासकोंपर यह भार है कि उसके शासन क्षेत्रमें व्यापार व्यवहार उचित रीतिसे चल रहे हैं या नहीं इसका निरीक्षण वे करें ।

जहां काम धंदे चलते हैं वहां मूल धन पर्याप्त प्रमाण में लगा है वा नहीं, उन धन्दोंमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले वहां घुसे हैं वा वे क्या कर रहे हैं ? उन धंदेवालोंका क्रय विक्रय ठीक रीतिसे होकर उनको लाभ हो रहा है वा हानि हो रही है। इत्यादि बातोंकी जांच शासक प्रबंधसे होनी योग्य है । और शासकोंके प्रयत्नसे ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि ये कामधंदे राष्ट्रमें बढें, उनको लाभ हो, उनसे जनताका लाभ हो, राष्ट्रका धन तथा सुख बढे । उनको उपद्रव देनेवाले उत्पाती लोग उनसे दूर रहें, उनके कार्यमें विघ्न करनेवालोंको योग्य दण्ड मिले । प्रजापालकोंका यह कर्तव्य इन मंत्रोंमें वर्णन किया है ।

प्रजाके साथ मिलकर रहनेमें आनन्द

तानग्रे प्रमुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः । वा० य० ८।३६, ३२।५; अथर्व २।३४।४

' प्रजाके साथ मिलकर रहनेमें आनन्द माननेवाला प्रजाका पालनकर्ता राजा अथवा शासनकर्ता (तान् अग्रे) उन प्रजाजनोंको (अग्रे) सबसे प्रथम (प्रमुमोक्तु) प्रतिबंधसे मुक्त करें । ' प्रजाजनोंको अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे करनेका स्वातंत्र्य देवे । (प्रजया संरराणः) प्रजाके साथ मिलजुल कर रहनेमें आनन्द माननेवाला शासनाधिकारी हो । शासक अपने आपको प्रजासे पृथक् न समझे, वह प्रजासे पृथक् और दूर रहनेमें आनंद न माने । वह प्रजाके साथ रहे, प्रजाजनोंमें मिले, उनके सुख दुःखोंको जाने और प्रजाजनोंमें मिलकर रहनेमें आनन्द माने ।

इसी तरह वह शासनकर्ता प्रजाजनोंको स्वातंत्र्य देकर उनको अपनी उन्नतिके कार्य करनेके लिये प्रतिबंध न करे प्रत्युत प्रजाजनोंको आगे बढावे । वे आगे बढकर अपनी उन्नतिके कार्य करते रहें ऐसा शासनका सुप्रबंध करे । राज्य शासक भी प्रजामेंसे ही होते हैं, इसलिये उनको प्रजाजनोंमेंसे पृथक् मानना अयोग्य है। परदेशी शासक ऐसा मानते हैं। उससे विरोध खडा होता है । परंतु अपने देशके शासकोंको ऐसा पृथग्भाव मानना उचित नहीं है ।

उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुक्रेण वाजिना । अथर्व ४।४।१२

' (वृषा प्रजापतिः) बलवान प्रजापालक-राष्ट्रपति- (शुक्रेण वाजिना) शक्तिशाली सामर्थ्यसे (उत् एजतु) तुम सब प्रजाजनोंको ऊपर उठावे । ' अर्थात् उन्नत करे, अभ्युदयके पास ले जावे ।

प्रजापालक अपने सामर्थ्यसे, अपने चातुर्यसे और प्रभावसे प्रजाजनोंको ऊपर उठावे । मनुष्यका जन्म अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेके लिये ही हुआ है । समाज और राष्ट्रका भी उद्देश्य अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना है । केवल अभ्युदय हुआ तो कार्य नहीं समाप्त होता। निःश्रेयस भी अवश्य प्राप्त होना चाहिये । इस

मंत्रमें 'उदेजतु' (उत्-एजतु) पद विशेष महत्वका है, ऊपर उठनेका भाव इसमें हैं। ऊपर उठनेका अर्थ ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना हैं।

प्रजापालक प्रजाके साथ मिलजुलकर रहे और उनकी प्रवृत्ति ऊपर उठनेकी है या नहीं यह देखे। और ऐसा प्रबंध करे कि वे ठीक मार्गसे ऊपर उठें।

परस्पर ध्यान देना

प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति।
प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्व। अन्वेनं प्रजा अनु
प्रजापतिर्बुध्यते। अथर्व ९।१।२४

'(प्रजापतिः एव) प्रजाका पालनकर्ता ही (प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति) प्रजाजनोंके हितके लिये प्रकट होता है, बाहर आकर कार्य करता है। हे (प्रजापते) प्रजाके पालक! (मा अनुबुध्यस्व) मेरी ओर ध्यान दे, (प्रजाः एनं अनु) प्रजाजन इस प्रजापालककी ओर ध्यान दें और (प्रजापतिः प्रजाः अनुबुध्यते) प्रजापालक प्रजाजनोंकी ओर ध्यान दें।

राष्ट्रपति प्रजाजनोंमें आकर विराजे, प्रजाजनोंके साथ मिलकर रहनेमें आनन्द मानें। वह राष्ट्रपति प्रत्येक प्रजाजनकी परिस्थितिको जाने, प्रत्येक प्रजाजन राष्ट्रपालककी ओर प्रेमसे देखे और प्रजापालक सब प्रजाजनोंका उत्तम निरीक्षण करें। इस तरह राष्ट्रपालक सब अधिकारी और प्रजाजन परस्पर सहानुभूतिसे रहें, बर्तें, मिलजुलकर उन्नति करें। परस्पर सहानुभूतिके साथ रहें, दूसरेकी बातें ध्यानसे सुनें, विचारें और उसकी सहायतार्थ जो हो सकता है करें। परस्पर सहानुभूतिसे ही सबका कल्याण होता है।

प्रजापति द्वारा नगरीका निर्माण

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत्, तां पुरं प्रणयामि वः। तामाविशत, तां प्रविशत, सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ अथर्व १९।१९।११

'(प्रजापतिः प्रजाभिः उदक्रामत्) प्रजापालक प्रजाजनोंके साथ उत्क्रान्त हुआ, ऊपर उठा, उन्नतिको प्राप्त हुआ। उसके द्वारा बसाये (तां पुरं वः प्रणयामि) उस प्रसिद्ध नगरके प्रति तुम्हें मैं ले जाता हूं, तुम (तां आविशत) उस नगरीमें जाकर बसो, (तां प्रविशत) उस नगरीमें प्रवेश करो, (सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु) वह नगरी तुम्हें शान्ति और संरक्षण देवे। उस नगरीमें आनन्दसे रहो।'

राष्ट्रपति नये नगर बसावे, वहां सुरक्षाका प्रबंध करे, लोग वहां जाकर बसें और शान्ति सुख प्राप्त करें। आनंदसे रहें। नगरियां प्राकारोंसे परिवेष्टित हों। शत्रुके आक्रमण सहजहीसे न हों, ऐसा नगररक्षाका प्रबंध हो। सब द्वार सुरक्षित हों। नगर सुरक्षित हुए तो अन्दरके प्रजाजन आनंदसे अन्दर रह सकते हैं और अपना अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन कर सकते हैं।

भुवनका धारण करनेवाला

…धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः। ऋ० ४।५३।२

'भुवनका धारण करनेवाला प्रजापति है।' अर्थात् जो प्रजापालन करनेके कार्यमें नियुक्त होता है, उसका कार्य यह है कि वह पृथिवीका धारण पोषण करे। धारण पोषण करनेका अर्थ यह है कि वह राष्ट्रका शत्रुसे संरक्षण करे, शत्रुको अन्दर घुसने न दे। प्रजाको निर्भय करे और प्रजाकी उन्नतिके साधन करनेके लिये राष्ट्रमें सुयोग्य परिस्थिति निर्माण करें।

प्रजापतिने भुवनका धारण करना चाहिये। राष्ट्रको आधार देना चाहिये। राज्यशासनका आधार या आश्रय मिला तो राष्ट्रमें अभ्युदयके कार्य अच्छी तरह शुरू होकर बढ सकते हैं। शासन शक्तिका विरोध रहा तो शुरू हुए कार्य भी बिगड जाते हैं और विनाशको प्राप्त होते हैं। भुवनका धारण केवल जमीनका ही धारण यहां अपेक्षित नहीं है, जमीन तो जहां है वहीं रहेगी। भुवनका धारणका मुख्य अर्थ 'मातृभूमिपर रहनेवाले लोगोंका धारण, पोषण और अभ्युदय।' इसकी साधना प्रजापतिको करनी चाहिये,

विविध कार्य करनेवाला

प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु। वा० य० १२।६१

'प्रजापालक (विश्व-कर्मा) प्रजाजनोंकी उन्नतिके सब कार्य करनेवाला हो, वह प्रजाजनोंको कष्टोंसे मुक्त करें।

प्रजापतिः तपसा वावृधानः। वा० य० २९।११

'प्रजापति तप करके अपनी शक्ति बढाता है।' प्रजापालक जब वह प्रजापालनके कर्म करनेके कष्ट सहन करता है, तब उसका सामर्थ्य बढता है।

' विश्व-कर्मा ' का अर्थ ' सब कर्मोंको करनेवाला । ' प्रजापतिका मुख्य कार्य प्रजाका पालन और रक्षण करना है । इस पालन और रक्षण संबंधके जितने भी आवश्यक कार्य होंगे, उन सब कार्योंको करना यहां ' विश्व-कर्मा ' पदसे बोधित होता है । राष्ट्रपालन संबंधके सब कार्य करनेवाला प्रजापति हो । तथा वह (तपसा वावृधानः) तपसे बढनेवाला अर्थात् अपने प्रजापालनके कर्म करनेमें यदि कष्ट हुए तो उन कष्टोंको सहन करनेवाला । यदि वह इन कष्टोंको नहीं सहेगा, तो उनसे प्रजापालनका कार्य नहीं होगा । इसलिये उसको पालनके सब कर्म करने चाहिये और उनमें होनेवाले कष्ट भी सहन करने चाहिये ।

प्रजाका संरक्षण

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापति-
र्मातरिश्वा प्रजाभ्यः । प्रदिशो यानि वसते
दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥

अथर्व १९।२०।२

(भुवनस्य यः पतिः प्रजापतिः) मातृभूमिका पालन करनेवाला जो प्रजापालक है, उसने (प्रजाभ्यः यानि चकार) प्रजाजनोंकी सुरक्षाके लिये जो जो संरक्षणके साधन राष्ट्रमें निर्माण किये हैं, जो (दिशः प्रदिशः यानि वसते) दिशा और उपदिशाओंमें हैं, (तानि वर्माणि मे बहुलानि सन्तु) वे संरक्षणके साधन हम सब प्रजाजनोंके रक्षणके लिये बहुत अर्थात् पर्याप्त हों । वे सब प्रकारके शत्रुओंसे हमारा संरक्षण करें । उनके कारण प्रजाजन सुरक्षित हों और वे राष्ट्रमें शान्तिसे रह सकें ।

राष्ट्रपति अपने राष्ट्रमें प्रजाका संरक्षण करनेके लिये अनेक साधन निर्माण करे । कीले बनावे, भूदुर्ग, जलदुर्ग, गिरिदुर्ग, नगरदुर्ग बनावे, उन कीलोंपर शत्रुका नाश करनेके सब साधन रखे । इसके अतिरिक्त नौकादल, वायु दल, सेना, रक्षकोंका दल, उनके सब साधन चारों ओर रहें । तैयार रहें, सज्य रहें । शत्रु आते ही उसका नाश वे करें अथवा उनको दूर करें । ये सब साधन रक्षाकार्यके लिये पर्याप्त हों, न्यून न हों ।

राष्ट्रपतिका आधार

यस्मिन्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वां अधारयत् ।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व १०।७।७

' जिसमें (स्तब्ध्वा) रहकर प्रजापालक सब लोगोंका धारण करता है, वह उसका आधारस्तंभ कौनसा है ? कहो । '

परमेश्वर सर्वाधार है, (क-तमः) वह अत्यंत आनन्द स्वरूप है । उसके आधारपर रहकर राष्ट्रपति सब प्रजा-जनोंको धारण करता है । राष्ट्रशासक अपने शासनको परमेश्वरका आधार है वह जाने और ईश्वरके सामने पापी न बने ।

' स्कंभ ' का अर्थ ' स्तंभ ' है । सर्वाधार परमेश्वर ही है । राष्ट्रपति जाने कि सबका आधार स्तंभ परमेश्वर है । यह आधार उसको मिलता है कि जो पवित्र रहता है, सदाचारी रहता है । यह जानकर राष्ट्रपतिको उचित है कि वह पवित्र रहे, सदाचारी रहे । निष्ठापूर्वक प्रजाका पालन करता रहे, उसमें पापभावना न रखे । अपना स्वार्थ साधन करनेके लिये दूसरेका नाश करनेका विचार भी न करे । परमेश्वर पर श्रद्धा रखकर पवित्र भावसे अपना कर्तव्य करता जाय । ईश्वरके आधारको पकड कर, निर्भय होकर प्रजापालक अपना कर्तव्य करता रहे ।

ज्ञान तेज बल और संरक्षण प्राप्त करके दीर्घायु बनना

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य
ज्योतिषा वर्चसा च । जरदष्टिः कृतवीर्यो
विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥

अथर्व १७।१।२७

' (प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः) प्रजापालकके ज्ञान और संरक्षणसे सुरक्षित हुआ हुआ, तथा (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) द्रष्टाके तेज और बलसे युक्त होकर मैं (जरदष्टिः) अतिवृद्ध (कृत-वीर्यः) पराक्रमके कार्य करके, (सुकृतः) पुण्यात्मा और (सहस्रायुः) सहस्र आयुवाला होकर (विहायाः चरेयं) सुदृढ शरीरवाला होता हुआ मैं विचरूं । '

(कश्यपः पश्यकः) देखनेवाला, द्रष्टा, दूरदर्शी, ठीक ठीक देखनेवाला । (सहस्र-आयुः) अतिदीर्घ आयुवाला (विहायाः) बलवान्, सामर्थ्यवान । प्रजापालकके सुप्रबंध से प्रजा ज्ञान तेज और बलसे युक्त होती है, दीर्घ आयु, प्राप्त करती है, कृतकृत्य होती है, उत्तम पुरुषार्थ करती

है और बलशालिनी होकर विश्वमें विचरती है। प्रजापालक अपना प्रजाके पालनका कार्य करके प्रजाकी कहांतक उन्नति करे यह सब इस मंत्रमें दर्शाया है। प्रजापतिके ये कर्तव्य हैं।

हम ऐसे प्रजापालकी प्रजा हों

प्रजापतेः प्रजा अभूम। वा० य० ९।२१;१८।२९

'जो प्रजाका पालन उत्तम रीतिसे करता है उसकी प्रजा हम लोग बनेंगे।' जो अच्छीतरह पालन नहीं करता उसका शासन हम पर नहीं होगा। इस विषयमें यजुर्वेदके प्रारंभमें ही कहा है कि—

मा वः स्तेन ईशत, मा अघशंसः। वा० य० १।१

'प्रजापर चोरका और पापीका शासन न हो' परंतु जो पूर्वमंत्रमें कही रीतिसे प्रजाका पालन करता है ऐसे प्रजापतिका ही शासन हो। प्रजाजन भी यही कहते हैं कि 'हम ऐसे प्रजापतिकी प्रजा बनेंगे।' हमपर ऐसे ही उत्तम प्रजापतिका राज्यशासन हो। उत्तम राज्यशासनसे प्रजाका आयुष्य और आरोग्य बढे, प्रजाकी पराक्रम करनेकी शक्ति बढे, प्रजा पुण्य कर्म करनेवाली हो, पाप कर्मसे दूर हो, प्रजा उत्तम ज्ञानसंपन्न हो, उत्तम सुरक्षित हो, तेज और प्रभावसे युक्त हो, प्रजामें दिव्यदृष्टीका प्रकाश हो, अदूरदृष्टि न हो। राज्यशासन ऐसा होना चाहिये। ऐसे राज्यशासकोंपर प्रजा प्रेम करती है इस कारण ऐसे शासक का राज्य स्थायी होता है।

प्रजापतिकी पुत्रियाँ

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ अथर्व ७।१२।१

राजा या राष्ट्रपति कहता है कि "राष्ट्रपतिकी पुत्रियाँ ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति ये दो हैं। ये राजाको (संविदाने) सत्यज्ञान देती है और ये (मा अवतां) मेरा संरक्षण करें। हे (पितरः) पितृस्थानीय सदस्यो! (येन संगच्छै) जिस सदस्यके साथ मैं मिलूं (सः मा उप शिक्षात्) वह मुझे उत्तम रीतिसे समझा देवे, राष्ट्रहितकी बातें वह सभासद मुझे समझा देवे। मैं (संगतेषु चारु वदानि) सभाओंमें सुन्दर हितकारी भाषण करूंगा।"

राष्ट्रपति ग्रामसभा और राष्ट्रसमितिका अपनी पुत्रीके समान रक्षण करे, ये दोनों सभाएं राजाका संरक्षण करें। अर्थात् राष्ट्रहितकी आयोजनाओंके विषयमें सत्य ज्ञान देकर राष्ट्रपालकका रक्षण करें। राष्ट्रपालक जिस सदस्यसे मिले वह सदस्य उसको योग्य संमति देवे। इस तरह यह प्रजापालक ग्रामसभा तथा राष्ट्रसमितिकी स्थापना करके राज्य शासन चलावे।

प्रत्येक ग्राममें ग्रामसभा स्थापन की जावे। ग्रामके प्रजाजन ग्रामसभाके सदस्य चुने। वह सभा ग्रामका कार्य करे। ग्रामके कार्यमें शिक्षण, संरक्षण, न्यायदान, आरोग्य, आदिका समावेश रहे। ग्रामके सब कार्य करनेका अधिकार इस ग्रामसभाको रहे।

ग्रामसभाके सदस्य राष्ट्रसमिति अथवा राष्ट्रसंसदके सदस्योंको चुनें। यह राष्ट्रसमिति राष्ट्रका शासन करे। इस राष्ट्रसमितिके सभासद मन्त्रीमंडलका निर्वाचन करें। इस मंत्रीमंडल द्वारा सब राज्यका शासन होता रहे। राष्ट्रसमिति प्रजापतिको चुने और वह राष्ट्रका अध्यक्ष हो।

प्रत्येक ग्रामकी ग्रामसभा ग्रामके कार्य करे और राष्ट्रसमितिकी अनुमतिसे मंत्रीमण्डल राष्ट्रशासनका कार्य करे। राष्ट्रपति अथवा प्रजापति सब कार्यका निरीक्षण करे। जहां न्यूनता हो वह उस न्यूनताको दूर करे और वहां परिपूर्णता करे।

इस तरह यह प्रजापति संस्थासे होनेवाला राज्यशासन है। यहां ग्रामसभासे प्रारंभ होता है और राष्ट्रसमिति तक सब प्रजाके प्रतिनिधि ही कार्य करते हैं। प्रजापति भी प्रजा द्वारा चुना हुआ ही होता है। अर्थात् सब प्रजा ही अपने अधिकारियोंको अधिकारके स्थानोंके लिये नियुक्त करती है जो अयोग्य होगा उसको प्रजा दूर भी करती है। इस विषयमें देखिये—

प्रजापतिका वध

अयोग्य प्रजापतिका वध भी ऋषियोंने किया था, इसका वृत्तान्त ब्राह्मणग्रन्थोंमें है वह अब देखिये—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्...तां ऋश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तं देवा अपश्यन्। न कृतं वै प्रजापतिः करोतीति। ते तमैच्छन्, य एनमारिष्यति, एनमन्योन्य-

स्त्रिन्नाविदंस्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्; ता एकधा समभरन्, ताः संभृता एष देवोऽभवत्...तं देवा अब्रुवन्, अयं वै प्रजापतिरकृतं अकः, इमं विध्येति । स तथेत्यब्रवीत्... तमभ्यायत्याविध्यत्, स विद्ध ऊर्ध्वं उदप्रपतत् ।

ऐ० ब्रा० ३।३३

" प्रजापतिने अपनी पुत्रीके ऊपर—ग्रामसभा और राष्ट्र समितिपर-बुरी दृष्टीसे देखा। इस प्रजापतिके इस कर्मको देवोंने देखा और उन्होंने कहा।कि प्रजापति ऐसा यह कर्म कर रहा है जैसा पहिले किसीने भी नहीं किया था । इसका इस कुकर्म के लिये वध करना चाहिये ऐसा उन्होंने निर्णय किया। इस प्रजापतिका वध अपनेमेंसे कौन करेगा इसका विचार उन्होंने किया । परंतु उसका वध करनेमें समर्थ ऐसा उनमें उनको नहीं मिला। पश्चात् उन्होंने अपनेमेंसे जो बडे बलिष्ठ शरीरवाले थे, उनको इकट्ठा किया और उनको कहा कि इस प्रजापतिका वध करो । ' ठीक है ' ऐसा उन्होंने कहा । वे उस प्रजापतिपर दौडे और उसपर उन्होंने शस्त्र चलाया । प्रजापति घायल हुआ और भूमिपर गिर पडा।" इस रीतिसे प्रजाके प्रतिनिधियोंने बुरी चालचलनवाले प्रजापतिका वध किया । इसके पश्चात् दूसरा प्रजापति राष्ट्रशासकके स्थानपर बिठलाया गया, इसका सूचक यह मंत्र है—

पिता यत् स्वां दुहितरं अधिष्कन्
क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिंचत् ।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवाः
वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥ ऋ० १०।६०।७

" (पिता) प्रजापतिने (स्वां दुहितरं) अपनी पुत्री (जैसी सभा या समिति) पर (अधिष्कन्) जब आक्रमण किया, तब उस (संजग्मानः) संघर्षमें (रेतः निषिंचत्) उसका वीर्यपात हुआ, वह निर्वीर्य बना। उस समय (स्वाध्यः) स्वाध्यायशील (देवाः) ज्ञानियोंने (ब्रह्म) ज्ञानपूर्वक घोषणा की और (व्रतपां) विधानके नियमोंका योग्य पालन करनेवाले (वास्तोः पतिं) मातृभूमिके पालक के स्थानपर—उस प्रजापतिके स्थानपर–नये प्रजापालकको (निरतक्षन्) निर्माण करके बिठला दिया । "

इस तरह नये प्रजापतिको उस पूर्व प्रजापतिके स्थानपर रखा जाता था। यहां " व्रत-पाः " यह पद विशेष ध्यानपूर्वक देखने योग्य है । नियमोंका पालन करनेवाला ' व्रतपा ' कहलाता है । पहिला प्रजापति नियमोंका उल्लंघन करता था, इसलिये उसको हटा दिया और उसके स्थान पर नियमोंका पालन करनेवालेको बिठला दिया ।

वेन राजाकी कथा

दुर्वृत्त राजाको राजगद्दीसे हटाया जाता था इस विषयमें वेन राजाकी कथा देखने योग्य है । अंग राजा था । इसका विवाह यमकन्या सुनीथाके साथ हुआ । इसका पुत्र वेन नामसे प्रसिद्ध था। अंगराजा मरनेपर उसकी गद्दीपर ऋषियोंने वेनको बिठला दिया, क्योंकि वेन उसका बडा पुत्र था ।

वेन बचपनसे ही दुर्वृत्त था । किसीका सुनता न था। उसके दुर्दैवसे एक नास्तिकके सहवाससे उसको वेदधर्मके विरुद्ध आचरण करनेके लिये प्रोत्साहन मिला और उस समयसे वह वेदधर्मका विरोध करने लगा । उसने सब राष्ट्रमें यज्ञयाग बंद किये, वैदिक विधि बंद किये । वेदकी रीतिसे राज्यशासन करना भी बंद किया। अपनी पूजा शुरू की। तथा मनमाना व्यवहार करना प्रारंभ किया ।

यह देखकर ऋषियोंको क्रोध आया। सब ऋषि मिलकर वेन राजाके पास गये और यज्ञ करनेकी बात करने लगे । परंतु वेन राजाने कहा कि यज्ञ मेरे राज्यमें नहीं किये जायंगे । इस विषयमें ऋषियोंने उस राजाको समझानेका बहुत यत्न किया, पर वह सब प्रयत्न असफल ही हुआ।

अन्तमें मरीची आदि ऋषि क्रोधित हुए और उन सबने मिलकर वेन राजाका वध किया । यह कथा हरिवंश १।५; वायुपुराण २।१; भागवत ४।१४; विष्णुधर्म १।१०८; विष्णुपुराण ४।१३; ब्रह्मवै. ४; मत्स्य १०।१-१० में है।

पद्मपुराणमें भू. ३६-३८ में लिखा है कि ऋषियोंने उसका वध नहीं किया, परंतु ऋषियोंके क्रोधके भयसे स्वयं वेन राजा राजगद्दी छोडकर भाग गया। कैसा भी हो वेन राजा राजगद्दीसे हटाया गया और ऋषियोंने दूसरा राजा उसके स्थानपर बिठलाया यह सत्य है ।

वेन राजाका वध होनेपर राज्यशासन चलानेके लिये उसके दो पुत्र थे । पहिला पुत्र दुष्ट आचरण करनेवाला था इसलिये उसको बहिष्कृत किया और दूसरा पुत्र पृथु सदाचरणी था, उसको राजगद्दीपर बिठाया ।

वेनका पुत्र पृथु अर्थात् 'वैन्य पृथु' का वर्णन इस तरह मिलता है—

पृथी यद् वां वैन्यः सादनेषु। ऋ. ८।९।१०

'वेन पुत्र पृथीने अश्विदेवोंका स्तवन किया, बुलाया।'

पृथु राजा धार्मिक था और उसका शासन धर्मानुकूल होता था। इसलिये इस भूमिको 'पृथिवी' नाम हुआ इसका वर्णन अथर्ववेदमें भी आया है—

तां मनुष्या उपाह्वयन्तेरावत्येहीति। तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्। तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। अथर्व ८।१०।११

उसको मनुष्योंने बुलाया, हे अन्नवाली आओ। उसका वत्स वैवस्वत मनु था और दोहनकर्ता वैन्य पृथी था। इससे कृषि हुई और धान्य उत्पन्न हुआ।

यह वर्णन आलंकारिक है। पृथु राजाके राज्यशासनमें सब लोगोंको सुख प्राप्त हुआ। यहां वेन राजाको राज्य-गद्दीसे ऋषियोंने हटाया और उसके द्वितीय पुत्रको राज गद्दीपर बिठलाया, क्योंकि वह धार्मिक था। पहिले पुत्रको राज्यसे बाहर कर दिया।

यह भी प्रजापति संस्थाके राज्यशासनका एक नमूना ही है।

इस तरह यह प्रजापति संस्थाके राज्य शासनका स्वरूप है। इसमें निम्नलिखित सूत्र दीखते हैं—

प्रजापति संस्थाके शासनसूत्र

(१) प्रजा मुख्य स्वयंभू है और प्रजाके आधारसे शासक रहते हैं, प्रजाने दी शक्ति प्राप्त करके शासक प्रजा-का पालन करते हैं।

(२) व्यक्ति नाश होनेवाली है और संघ, समाज या जाती (राष्ट्र) अमर है।

(३) समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है, इसलिये व्यक्ति को समष्टीकी सेवाके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये।

(४) काल प्रजा उत्पन्न करता है, प्रजाका संघ काल ही बनाता है और काल ही उसपर शासक निर्माण करता है।

(५) प्रजा संघटित होनेपर उसके शासककी आवश्य-कता होती है। बिखरी व्यक्तियोंका शासन नहीं हो सकता।

(६) किसी शासनके अधिकारके स्थानपर किसी शासक की नियुक्ति करनी हो, तो उस कार्यके लिये जो सबसे योग्य हो, उसीकी नियुक्ति करनी चाहिये। योग्यता देखकर योग्य पुरुषको ही अधिकार देना चाहिये।

(७) शिक्षक और शासक ये दोनों ब्रह्मचर्य पालन करके विद्वान हुए होने चाहिये। शमदम संपन्न होने चाहिये। जो शमदम संपन्न न हो उसको कोई शासनाधिकारका स्थान नहीं मिलना चाहिये।

(८) शासनाधिकारी प्रजाके साथ मित्रवत् आचरण करनेवाले, तथा प्रजाजनोंका धारण पोषण करनेवाले हों। प्रजाका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाले हों।

(९) शासनाधिकारी सत्यनिष्ठ हों और वे प्रजाके धनों का संरक्षण करें। वे अपने कर्तव्य पालन करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर धारण करें।

(१०) शासनाधिकारी प्रजाके शत्रुको दूर करें, प्रजाके दुःखोंको दूर करें, स्वयं पवित्र रहें और प्रजाको पवित्र बनावें।

(११) विवाद उत्पन्न होनेपर सत्य और असत्य पक्षका योग्य निर्णय करें और सत्यको श्रद्धाका विषय बनाकर असत्य को दूर करें।

(१२) प्रत्येकके पास जाकर धन लानेवाला और आये-धनका योग करनेवाला ऐसे दो करग्रहणके अधिकारी हों और इनपर एक कोषाध्यक्ष हो। ये राष्ट्रके धनका संभाल करें।

(१३) शासन कर्ता लोग राष्ट्रमें प्रजाकी संघटना करके प्रजाका सांघिक बल बढावें।

(१४) राष्ट्रशासनके सुप्रबंधसे प्रजाजनोंका तेज बढे, उनको यश मिले और भरपूर अन्न भी मिले।

(१५) शासक भूमिको अधिक उपजाऊ बना दें जिससे प्रजाको उत्तम अन्न खानेके लिये मिले।

(१६) मातृभूमिमें उत्पन्न होनेवाला अन्न उस भूमिके पुत्रोंको ही मिलना चाहिये। शासक इसका सुयोग्य प्रबंध करें।

(१७) शासनके ३३ कार्यालय हों, उनमें ३३ अधिकारी हों और उनका धारण पोषण राष्ट्रके कोशसे होता रहे। वे संतुष्ट रहें और अपना कार्य उत्तम रीतिसे करें।

(१८) शासन संस्थासे राष्ट्रमें रहनेके लिये घर बनाये जांय और उन घरोंमें जिनको अपने लिये निज घर नहीं ऐसे लोग रहें। इस तरह रहनेके लिये सबको घर मिलें।

(१९) जनताके हितके लिये नहर आदि खोद कर जलका प्रबंध राष्ट्रमें शासनके प्रबंधसे किया जावे।

(२०) राष्ट्रभरमें रमणीय दृश्य बनानेके लिये उद्यान उपवन आदि बनाये जांय।

(२१) व्यापार व्यवहार बढाया जाय, लाभमें हानि करनेवालोंको राज्य प्रबंधसे दूर किया जावे।

(२२) शासक प्रजाके साथ रहनेमें आनन्द माने। वे प्रजाके साथ मिलें, वे प्रजाके सुखदुःख जानें।

(२३) राज्य प्रबंधसे प्रजाजनोंकी उन्नति होती रहे।

(२४) प्रजा और राज्यके प्रबंधकर्ता परस्पर सहानुभूतिसे बर्तें।

(२५) राज्यशासनके प्रबंधसे नये नये सुन्दर नगर बसाये जांय, वहां रहकर प्रजा अपनी अधिक उन्नति करती रहे।

(२६) राज्य व्यवस्थासे प्रजाका पालन, संरक्षण और संवर्धन होता रहे।

(२७) शासक विलासी न बने, वे तपस्वी हों और प्रजाकी उन्नतिके सब कार्य योग्य रीतिसे करें।

(२८) राष्ट्रभरमें शत्रुसे प्रजाका संरक्षण करनेका उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो और राष्ट्रके सब रक्षक सदा सुसज्य रहें।

(२९) शासक परमेश्वर पर विश्वास रखनेवाले हों, क्योंकि वही उनका आदर्श शासक है।

(३०) राज्यशासनकी सुव्यवस्थासे प्रजा दीर्घायु बने, अपमृत्यु दूर हो, सब प्रजा ज्ञानी तेजस्विनी और बलशालिनी बने।

(३१) राज्य प्रबंध द्वारा ग्राममें ग्रामसभा और राष्ट्रमें राष्ट्रसमिति स्थापन की जावे और ये सभाएं राष्ट्रशासनका सुयोग्य कार्य करें और करवायें।

(३२) अयोग्य अधिकारीको अधिकारके स्थानसे दूर किया जावे और योग्य अधिकारी उसके स्थान पर नियुक्त हो।

(३३) प्रजाके अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करना ही राज्यशासन प्रबंधका मुख्य ध्येय हो।

इस तरह ये ३३ सूत्र राज्यशासनके हैं जो प्रजापति संस्थाका वर्णन करनेवाले पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा प्रकट हुए हैं। पाठक इनको देखें।

वेदमें 'प्रजापति' अनेक हैं, मेघ, अग्नि, पर्जन्य, परमेश्वर, सूर्य, वायु आदि अनेक देवता प्रजापति कहके वर्णन किये हैं। इन देवताओंका वर्णन करते हुए उन्हीं मंत्रोंद्वारा राज्यशासनका भी वर्णन होता है, यह बात पूर्वोक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं।

प्रश्न

१ व्यक्ति और संघमें मुख्य कौन और गौण कौन है ?

२ व्यक्ति तथा संघके विषयमें वेदमंत्रोंमें कौनसे वचन किस भावकी सूचना देते हैं।

३ व्यक्तिको समाजकी सेवा क्यों करनी चाहिये ?

४ यज्ञकी उत्पत्ति किस कार्यके लिये हुई है ?

५ काल, प्रजा और प्रजापतिका निर्माण करता है इसका आशय क्या है ?

६ प्रजापालनके कार्यके लिये किस पुरुषको पसंद करना चाहिये और उसकी योग्यता कैसी हो ?

७ आचार्य और प्रजापालक ब्रह्मचारी हों इसका तात्पर्य क्या है ?

८ शासकमें कौनसे गुण होने चाहिये ?

९ न्यायदानके अधिकारी कैसे हों ?

१० राष्ट्रके धनकोशके अधिकारी कौन हो सकते हैं ?

११ राष्ट्रशासक किस तरह राष्ट्रमें बल बढावे ?

१२ मातृभूमिको अधिक उपजाऊ किस तरह बनाया जा सकता है ?

१३ मातृभूमिमें उत्पन्न हुआ धान्य प्रजाजनोंको ही मिले इसका हेतु क्या है ?

१४ राष्ट्रके अधिकारी कितने हैं ? शरीरमें, राष्ट्रमें तथा विश्वमें ये कैसे हैं ?

१५ राष्ट्रशासक किनके लिये घर बनावे और कौन उन घरोंमें रहें ?

१६ राष्ट्रमें जलका प्रबंध कैसा हो ?

१७ मातृभूमिमें रमणीय स्थान बनानेका उद्देश्य क्या है ?

१८ व्यापार-व्यवहारका उद्देश्य क्या है, इसमें हानि करनेवालोंको क्या किया जावे ?

१९ शासक और प्रजा परस्पर मिलजुल कर रहेंगे तो कौनसा लाभ होगा ?

२० राष्ट्रशासक नयी नगरियां बसावें इसका हेतु क्या है ?

२१ राष्ट्रशासकके कौनसे कार्य हैं ?

२२ प्रजाको ज्ञान, तेज, बल और संरक्षण प्राप्त करना चाहिये इसमें कौनसा प्रमाणवचन है ?

२३ प्रजापतिकी पुत्रियां कौनसी हैं ? और उनके कार्य कौनसे हैं ?

२४ प्रजापतिका वध क्यों किया गया। वेन राजाका वध क्यों हुआ ?

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी.ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला - चौदहवाँ व्याख्यान

त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त

बहुत समयके पूर्वसे अर्थात् अनेक शताब्दियोंसे "द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत" ये वाद भारतवर्षमें प्रचलित रहे हैं। इनमें 'त्रैत और एकत्व' ये दो वाद सांप्रतमें और मिले हैं। "अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत" ये तीन वाद अद्वैतवादके अन्दर संमिलित हो सकते हैं। यद्यपि इनमें परस्पर थोडा भेद है, तथापि ये तीनों अद्वैतका ही प्रतिपादन करते हैं। श्री शंकराचार्यने अद्वैतका प्रतिपादन किया, श्री रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत माना, और श्री वल्लभाचार्यने शुद्धाद्वैत स्वीकारा है। इनमें परस्पर मन्तव्यकी भिन्नता तो है ही, पर इन तीनोंका सिद्धान्त अद्वैत है, इसमें संदेह नहीं। ये अपने सिद्धान्तको "अद्वैत" मानते हैं, 'एकत्व' नहीं मानते।

इस शताब्दीमें 'त्रैत' और 'एकत्व' ये दो वाद जनताके सामने आगये हैं। द्वैतवाद तो माध्वसंप्रदायका ही वाद है। इनके अनुयायी भी कन्नड आदि प्रान्तोंमें बहुत हैं। श्री मध्वाचार्य शुद्ध द्वैतवादी थे। मुक्तिमें भी जीव विष्णुरूप तो बनता है, परंतु विष्णुसे-परमेश्वरसे सदा पृथक् रहता है, यह इनका सिद्धान्त है। इनकी संमतिसे सब प्रकारके अद्वैतवादी या एकत्ववादी नरकगामी हैं और अद्वैतवादियोंकी संमतिसे सब द्वैतवादी नरकगामी हैं !!! एकत्ववादी अद्वैतमें संमिलित हो सकते हैं और त्रैतवादी द्वैतमें संमिलित हो सकते हैं।

षट्पदार्थवादी, पञ्चपदार्थवादी, चतुर्विंशति पदार्थवादी, तथा ऐसे अनेक पदार्थवादी द्वैत वा त्रैतमें समाविष्ट हो सकते हैं। इस तरह 'एकपदार्थवादी' और 'अनेक पदार्थवादी' ऐसे दो ही भेद इन सबके होते हैं। अब इनका विचार इस लेखमें करना है।

'एकत्व, अद्वैत, द्वैत और त्रैत' ये वाद परस्पर विभिन्न हैं, वा ये केवल दृष्टिबिन्दुके ही भेद हैं इसका विचार इस लेखमें करना है। प्रायः सभी पाठक कहेंगे, कि इनमें मन्तव्यका भेद स्पष्ट दिखाई देता है, अतः इनमें मन्तव्यकी भिन्नता है वा नहीं, इसका विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठकोंका यह मत हमें विदित है। पाठकोंका ऐसा मत होने पर भी हम यह लेख उनके सामने रखना चाहते हैं। पाठक इसका विचार करें।

भिन्नताकी सापेक्षता

किसी समय भिन्नता वस्तुगत होती है। जैसा मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदिकी भिन्नता है। यह वस्तुगत भिन्नता है। दूसरी भिन्नता सापेक्षभिन्नता है। एक तरुण प्रथम कक्षामें पढता है, दूसरा ७ वीमें पढता है और तीसरा १४ वीमें पढता है। सातवींका तरुण प्रथम कक्षावालेसे अधिक ज्ञानी है, और चौदवीवालेसे कम ज्ञानी है। एक ही मनुष्य इस तरह अपेक्षाकृत छोटा या बडा कहा जाता है। वस्तुतः वह मध्यम स्थानमें रहनेवाला मनुष्य जैसा है वैसा ही है, परंतु अपेक्षाके कारण छोटा या बडा कहा जाता है। यह अपेक्षाकृत भेद है, यह वस्तुगत भेद नहीं है। इससे सापेक्षभेदका स्वरूप ध्यानमें आ सकता है।

इस लेखका विचारणीय प्रश्न यही है कि 'त्रैत, द्वैत, अद्वैत' में वस्तुगत भेद है, या सापेक्षताके कारण भेदकी प्रतीति होती है।

वेद, उपनिषद् और गीतामें इस विषयके संबंधमें किस तरहका प्रतिपादन किया है, इसका विचार इस लेखमें करना है। प्रथम श्रीमद्भगवद्गीताके वचनोंका विचार करेंगे, पश्चात् उपनिषदोंके वचनोंका और अन्तमें वेदके मंत्रोंका विचार करेंगे—

एकत्वका प्रतिपादन

श्रीमद्भगवद्गीतामें एकत्व बोधक वचन यह है—

वासुदेवः सर्वं। भ० गी० ७।१९

'यह सब वासुदेवका रूप है।' यह सब विश्व विष्णुका रूप है। यह निःसन्देह एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला वचन है। अब द्वैतका प्रतिपादन करनेवाला वचन देखिये—

द्वैतका प्रतिपादन

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
म० गी० १५।१६

'इस लोकमें— इस विश्वमें क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। ये जो सब भूत हैं वे सब क्षर हैं और कूटस्थ पुरुष अक्षर हैं।' इस तरह यहां द्वैतका प्रतिपादन स्पष्ट है। इसीके पर्याय यहां देते हैं जो शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं—

क्षर	अक्षर
जड	चेतन
प्रकृति	पुरुष
क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ
शरीर	शरीरी
अचेतन	चेतन

इस तरहके नाम अनेक स्थानोंपर आ गये हैं। ये पद द्वैतका वर्णन करते हैं। यदि द्वैतका ही सिद्धान्त गीताका माना जाय, तो त्रैतका वचन भी इसी गीतामें देखिये—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥
म० गी० १५

"इन क्षर-अक्षरोंसे भिन्न एक तीसरा उत्तम पुरुष है, जिसको अव्यय परमात्मा कहते हैं जो ईश्वर इन तीनों लोकोंमें व्यापकर सबका धारण पोषण करता है। जिससे यह क्षरसे श्रेष्ठ और अक्षरसे उत्तम है, इसलिये इसको लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम कहते हैं।"

इस तरह इस गीतामें (१) एकत्ववाद है, (२) द्वैतवाद है और (३) त्रैतवाद भी है। एक ही ग्रंथमें ये तीनों वाद, किस तरह संगत हो सकते हैं? ऐसा लोग पूछते हैं।

यहां शंका होती है कि गीताके सिद्धान्तानुसार पुरुष एक है, दो हैं वा तीन हैं? ऐसे वचनोंको देखकर कई कहते हैं कि गीतामें परस्पर विरुद्ध वचन हैं, अथवा इस गीतामें पीछेसे प्रक्षेप हुआ है। गीतामें या किसी ग्रंथमें प्रक्षेप है ऐसा कहना, अथवा परस्पर विरोध है ऐसा एकदम कह देना, अयोग्य है। किसी एक दृष्टिबिन्दुसे जो सुसंगत प्रतीत होगा, वही दूसरी दृष्टीसे प्रक्षिप्त या असंगत भी प्रतीत होगा। इसलिये हमें यह उचित है कि हम किस दृष्टिबिन्दुसे ये वाक्य लिखे गये हैं, सह एकत्वकी परीक्षा करें और लेखकके दृष्टिबिन्दुको जाननेका यत्न प्रथम करें।

उपनिषदोंमें एकत्ववाद

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस तरह "वासुदेवः सर्वं" कहा है, वैसे ही वाक्य उपनिषदोंमें भी हैं। इस एकत्वकी सिद्धता प्रथम करके देखनी चाहिये और इन वचनोंका भाव समझनेका यत्न करना चाहिये। देखिये ये वचन—

ओंकार एवेदं सर्वं। छां० उ० २।२३।४
गायत्री वा इदं सर्वं। छां० ३।१२।१
सर्वं खलु इदं ब्रह्म। छां. ३।१४।१
प्राणो वा इदं सर्वं भूतं। छां. ३।१५।४
अहमेव इदं सर्वं। छां. ५।२।६; ७।२५।१
एतदात्म्यमिदं सर्वं। छां. ६।९।४
स एव इदं सर्वं। छां. ७।२५।१
आत्मा वा इदं सर्वं। छां. ७।२५।२
स इदं सर्वं भवति। बृ. उ. १।४।१०
इदं सर्वं यदयमात्मा। बृ. २।४।६; ४।५।७; नृ. उ.५
इदं अमृतं, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्। बृ. २।५।१
एतत् ब्रह्म, एतत् सर्वं। बृ. ५।३।१
ओमितीदं सर्वं। तै. उ. १।८।१
ब्रह्म खलु इदं वाव सर्वं। मुण्डक १; नृ. पू. २।२; ४।१; नृ. उ. १
सर्वमोङ्कार एव। मुण्ड० १
सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। मुण्ड० २
सर्वं ह्ययमात्मा। नृ. उ. ७
ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं। नृ. उ. ७
ब्रह्म वा इदं सर्वं। नृ. उ. ७
सद्धीदं सर्वं, चिद्धीदं सर्वं। नृ. उ. ७
आत्मा हीदं सर्वं सदेव। नृ. उ. ८
सूक्ष्मः पुरुषः सर्वं। शिरस् उ० ३
नारायण एवेदं सर्वं। नारा० उ. २

इन उपनिषदोंके वचनोंमें कहा है कि जो ओंकार, गायत्री, प्राण, अहं, सः, आत्मा, ब्रह्म, सत्, सूक्ष्मः पुरुषः, नारायणः आदि नामोंसे बताया जाता है वह यह दृश्यमान संपूर्ण विश्व ही है। ये वचन स्पष्ट हैं और यहां संदेहके लिये कोई स्थान नहीं है। अब इन वचनोंके साथ वेदके वचन देखिये–

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। ऋ. १०।९०।२
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। यजु. ३१।२
काण्व यजु. ३५।२, साम ६१९; अथर्व १९।६।४;
तै. आ. ३।१२।१

सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
वा० य. ४०।७; ईश उ. ७

जो भूतकालमें हो चुका था, जो वर्तमान कालमें है और जो भविष्य कालमें होगा वह सब पुरुष अथवा आत्मा ही है।

ये सब वचन 'एकत्व' वादकी सिद्धि करनेवाले हैं। जो भी कुछ यहां है वह सब ईश्वरका रूप है। जो गीताके "वासुदेवः सर्वं" (७।१९) इस वचनका भाव है वही इन उपनिषद्वचनोंका और इन वेदके मंत्रोंका भाव है। वेदमें तो 'एकत्वं अनुपश्यतः' एकत्वका दर्शन कराया है।

अद्वैत और एकत्व

अद्वैतवाद और एकत्ववाद ये दो पद पृथक् अर्थ बतानेवाले हैं। अद्वैतका अर्थ 'दो नहीं' ऐसा है। और 'एकत्व' का अर्थ 'निःसंदेह एक' ऐसा है। अद्वैतवादी 'माया' को मानते हैं। एकत्ववादी मायाको नहीं मानते। इसलिये एकत्ववाद पृथक् है और अद्वैतवाद पृथक् है। वेदमंत्रोंमें "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।" (वा. य. ४०।७, काण्व ४०।७; ईश ७) एकत्व पद है, परंतु अद्वैतपद नहीं है। पाठक इस भेदको समझें और एकत्व तथा अद्वैतको एक ही न समझें।

गीतामें 'वासुदेवः सर्वं' (७।१९) कहा है वैसा ही वेदमें भी 'पुरुषः सर्वं' (ऋ. १०।९०।२) कहा है। तथा गीतामें—

अनन्तरूप, विश्वरूप। गी. ११।१६
सर्व, सर्वः। गी. ११।४०

'अनन्तरूपी, विश्वरूपी ईश्वर है, अतएव वह सर्व है।' अर्थात् विश्वरूप और सर्वका अर्थ एक ही है। विश्वरूप, अनंतरूप, सर्वरूप ये सब पद एक ही भाव बताते हैं। देखिये—

त्वष्टारं... विश्वरूपं उपह्वये। ऋ. १।१३।१०
विश्वरूपं बृहन्तम्। ऋ. १।३५।४
विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ। ऋ. ३।३८।४;
वा. य. ३३।२२
विश्वरूपः पुपोष प्रजाः। ऋ. ३।५५।१९
वृषभो विश्वरूपः। ऋ. ३।५६।३
विश्वरूपं बृहस्पतिं। ऋ. ३।६२।६
त्वष्टा सविता विश्वरूपः। ऋ. १०।१०।५
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः। ऋ. ६।४७।१८
पुरुरूप उग्रः (ईशानः)। ऋ. २।३३।९
पुरुरूपं (अग्निं)। ऋ. ५।८।१
ज्योतिरसि विश्वरूपं। वा. य. ५।३५
त्वष्टारं इन्द्रं पुरुरूपं। वा. य. २८।९
ब्रह्म पुरुरूपं वि तिष्ठे। अथर्व० ९।१५।१९

इस तरह वेदमंत्रोंमें विश्वरूपी (त्वष्टा) सर्व स्रष्टा ईश्वर, पोषणकर्ता परमेश्वर, (बृहस्पतिः) ज्ञानी ईश्वर, इन्द्र, ज्योतीरूप अथवा ब्रह्म है ऐसा कहा है। जो विश्वरूपी होगा, वही सर्वरूपी होगा और उसीको 'सर्व' अथवा 'विश्व' कहा जा सकता है। इस रीतिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो पद वेदके मंत्रोंमें हैं वे ही पद उपनिषदोंमें हैं और वे ही पद उसी अर्थमें गीतामें लिये हैं। इस कारण जो उपपत्ति वेदमंत्रकी लग सकती है वही उपनिषद् और गीताके वचनोंकी भी लग सकती है। अतः इस गीतामें आये वचनोंको प्रक्षिप्त या असंगत कहनेकी आवश्यकता नहीं है। वेदमें भी वैसे ही अर्थके मंत्र और पद हैं इसलिये यदि संगति लगेगी तो वेदमंत्र–उपनिषद्–गीताकी इकट्ठी ही लगेगी और न लगनी होगी तो किसीकी भी नहीं लगेगी। परंतु वेदमंत्रोंकी असंगति, या वेदमंत्रोंमें प्रक्षेप आदि कहनेके लिये कोई तैयार नहीं होगा। इसलिये जिस पद्धतिसे वेदमंत्रोंकी संगति लगेगी उसी पद्धतिसे उपनिषद् और गीताके वचनोंकी भी संगति लग सकेगी।

यहांतक वेदमंत्रोंमें जहां 'एकत्ववाद' है वे मंत्र हमने देखे; अब द्वैत और त्रैतवादके वेदमंत्र हम देखते हैं—

त्रैतवादके मंत्र

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति॥ ऋ. १।१६४।२०; अथर्व ९।९।२०; निरु० १४।३०

"दो पक्षी साथ रहनेवाले मित्र एक ही वृक्षपर पास पास बैठे हैं। उनमें एक मीठाफल खाता है और दूसरा फल न खाता हुआ चमकता रहता है।"

इस मंत्रमें "दो पक्षी जीव और ईश्वर हैं और ये दो पक्षी प्रकृतिरूप वृक्षपर बैठे हैं" ऐसा यहां कहा है। यहां तीन पदार्थ कहे हैं। इसलिये यहां त्रैतवाद स्पष्ट दीखता है। पक्षी चेतन हैं और हलचल करनेवाले हैं, अतः ये 'सुपर्ण' (पक्षी) निःसंदेह जीव और ईश्वर हैं और ये चेतन और सतत प्रयत्नशील हैं। वृक्ष अचल वस्तुका वाचक है, अर्थात् यह वृक्ष प्रकृतिका वाचक है। इस तरह प्रकृति, जीव और ईश्वरका बोध इस मंत्रसे होता है। इस कारण इस मंत्रको त्रैतमतका बोधक मान सकते हैं।

इसी मंत्रमें चेतन पक्षी (सुपर्ण) हैं और अचल जड वृक्षका वर्णन भी है। इस कारण जड चेतन, क्षर अक्षर, प्रकृति पुरुष इस द्वन्द्वका बोधक होनेके कारण यह द्वैतबोधक मंत्र है ऐसा भी कह सकते हैं।

एक ही सूक्तमें ये वर्णन वेदोंमें हैं, इसके एक दो उदाहरण अब देखिये—

एक ही सूक्तमें तीनों वाद

ईशावास्यं इदं सर्वं। वा. यजु. ४०।१; ईश० १

'ईश्वर इस सब विश्वमें व्यापता है।' यहां 'ईश' एक पदार्थ है और 'इदं' वाचक 'विश्व' दूसरा पदार्थ है। यह वर्णन निःसंदेह द्वैतका वर्णन है। इसी सूक्तमें और देखिये-

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ वा० य० ४०।६; ईश ६

'जो सब भूत आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है।' इसमें 'आत्मा और भूत' ये दो पदार्थ माननेसे यह मंत्र द्वैतका प्रतिपादन करता है। तथा 'आत्मा' से जीवात्मा-परमात्माका बोध होता है, इस कारण यही मंत्र त्रैतमतका भी प्रतिपादन करता है ऐसा कह सकते हैं। अब इसी सूक्तमें एकत्ववादका प्रतिपादन देखिये—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ वा. य. ७; ईश० ७

'जिस विज्ञानी पुरुषको सब भूत आत्मा ही हो गये, उस एकत्वका दर्शन करनेवालेके लिये शोक और मोह कैसे प्राप्त होंगे?' अर्थात् वह (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्व दर्शन करनेवाला शोक मोहसे दूर होगा। यहां 'सब भूत आत्मा ही हो गये' यह वाक्य 'यह सब निःसंदेह ब्रह्म है' इस अर्थका ही बोधक है।

सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्।
इदं सर्वं खलु ब्रह्म एव॥

इन दोनों वाक्योंका भाव एक ही है और ये दोनों एकत्ववादका प्रतिपादन करते हैं। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके ही ये तीनों मंत्र हैं। एक ही इस आत्मसूक्तमें द्वैत, त्रैत और एकत्वका प्रतिपादन है। जैसे गीतामें ये तीनों वाद हैं वैसे ही इस ईश उपनिषद्में अथवा यजुर्वेदके ४० वें अध्यायमें- आत्मसूक्तमें ये तीनों वाद हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी विशेष दृष्टिबिन्दुसे ही इन वचनोंका विचार करना चाहिये। अब और एक सूक्त देखिये—

पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं। ऋ. १०।९०।२

'पुरुष ही यह सब है जो भूतकालमें था और जो भविष्यमें होगा,' और जो वर्तमान कालमें है। तीनों कालोंमें जो है वह पुरुष, परमेश्वर ही है। यह एकत्ववादका मंत्र है। यहां 'पुरुष' शब्द 'प्रकृति-पुरुष' मेंसे पुरुष अर्थात् केवल चेतन आत्माका वाचक माननेसे यह मंत्र एकत्ववादका प्रतिपादन करता है ऐसा सिद्ध होगा। परंतु 'पुरुष' पदका अर्थ (पुरि शेते) प्रकृतिमें व्यापनेवाला ऐसा माननेसे यह 'पुरुष' पद ही 'प्रकृति-पुरुष' का वाचक होता है अर्थात् यह 'पुरुष' पद ही द्वैतका अथवा त्रैतका प्रतिपादक हो जाता है। पुरुष जीव और ईश्वरका समानतया बोध करता है। इससे द्वैत तथा त्रैतका बोध यह मंत्र करता है। इसी सूक्तमें और देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
ऋ. १०।९०।१

'हजारों आंख, हजारों बाहु, हजारों सिर और हजारों पांवों वाला यह पुरुष है।' यहां हजारों प्राणियोंके शरीर परमात्माके तथा जीवात्माके शरीर हैं ऐसा वर्णन है। यहां जीवोंकी अनंत सत्ता वर्णन की है, और इन सबका अन्तर्भाव परमेश्वरके विश्वशरीरमें होनेसे यह सब संसार परमेश्वरका रूप है, यह एकत्ववाद भी हुआ, और अनंत जीवात्माके शरीर भी हुए और एक परमात्मा और जड सृष्टीको निर्माण करनेवाली जड प्रकृति यह द्वैत और त्रैत भी इसी सूक्तमें प्रतिपादित हुआ। तथा—

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः
पादोऽस्येहाभवत् पुनः। ऋ. १०।९०।४

'इस पुरुषके तीन भाग ऊपर मूल स्वरूपमें हैं और इसका एक अंश यहां वारंवार विश्वरूप बनता है।' ये सब वर्णन स्पष्ट हैं और इस तरह एकत्ववाद, द्वैतवाद और त्रैतवाद वेदके एक ही सूक्तमें है। इसलिये ये वचन विशेष दृष्टिबिन्दुसे ही देखने चाहिये।

'एकं सत्' (ऋ० १।१६४।४६)इस मंत्रमें एकत्ववाद है और इस मंत्रमें द्वैत तथा त्रैतवाद भी है। जो विश्वरूप देवताका वर्णन करनेवाले मंत्र हैं वे एकत्ववादके ही मंत्र हैं, परंतु जिस मंत्रमें 'पुरुष' देवता है, वह 'पुरि वसति इति पुरुषः' इस व्युत्पत्तिसे 'पुरि और उसमें वसनेवाला' ऐसे दो पदार्थोंका बोध करता है। इसलिये पुरुष देवता वाले मंत्र द्वैतवादके बोधक हैं। अस्तु इस तरह 'एकत्व, द्वैत और त्रैत' का बोध करनेवाले वेदवचन जैसे हैं वैसे ही उपनिषदोंमें और वैसे ही गीतामें भी समानतया हैं। गीता, उपनिषद और वेदमंत्र इन तीनों स्थानोंमें 'एकत्व, द्वैत और त्रैतवाद' के वचन मिलेजुले हैं। इसलिये गीतामें ही परस्पर विरुद्ध वचन हैं, या प्रक्षिप्त वचन हैं, ऐसा कोई नहीं कह सकते। यदि गीताके वचनोंको हमने 'परस्पर विरुद्ध अथवा प्रक्षिप्त' कहा तो वैसा ही उपनिषदों और वेदमंत्रोंको भी कहना पडेगा। पर ऐसा वेद मंत्रोंको कहना दुःसाहस है। इसलिये इस विषयमें अधिक खोज करनी चाहिये।

इस विषयमें श्वेताश्वतर उपनिषदमें एकवचन बडा मनन करने योग्य है वह अब देखिये—

तीनोंका विन्दन

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृ-
भोग्यार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो
ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥ श्वे. १।९

एक ज्ञानी ईश्वर है और दूसरा अज्ञानी जीव है। ये दोनों अजन्मा हैं, इनमें एक ईश है और दूसरा अनीश अर्थात् असमर्थ है। इनके अतिरिक्त एक और अजन्मा प्रकृति है वह भोक्ता जीवोंके भोग भोगनेके लिये नाना पदार्थ देती है। एक विश्वरूप अनन्त आत्मा अकर्ता है। ये तीन पदार्थ जब एकत्र मिलते हैं तब उसको ब्रह्म कहते हैं। यहां जो कहा है वह नीचे कोष्टकमें देते हैं।

ज्ञ+अज्ञ	अजा+विश्वरूप आत्मा
ईश+अनीश	प्रकृति+पुरुष
ईश+जीव	अनन्त+सान्त

विश्वरूप परमात्मा, अल्प प्रमाणवाला जीवात्मा, और भोग्य प्रकृति ये तीन पदार्थ इस मंत्रमें कहे हैं। ये तीनों पदार्थ "त्रयं यदा विन्दते, एतत् ब्रह्म" जब मिल जाते हैं, एक रूपमें मिलते हैं, उस विन्दनको ब्रह्म कहते हैं। तथा और देखिये—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ श्वे० १।१२

"भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और प्रेरक ईश्वर इन तीनोंका मनन करके यह त्रिविध ब्रह्म है ऐसा कहते हैं।"

यह तीनोंका विन्दन किस तरह होता है। विन्दनका अर्थ 'ज्ञानसे बुद्धिसे या मननसे जानना या समझना' है। तीनोंका पृथक् भान भी होता है और तीनोंके एकत्वका भी भान होता है। यह विन्दन क्या है, कैसा होता है और किस तरह अनुभवमें आता है इसका मनन करना चाहिये। इसका विचार इस तरह किया जाता है।

एकमें तीन और तीनोंका एक

यह एक सापेक्ष दर्शनका शाश्वत नियम है कि एकमें तीन भाव होते हैं और तीनों भावोंमें मिलकर एकका

संपूर्ण दर्शन हो जाता है। किसीका संपूर्ण दर्शन करना हो तो उसको तीनों भावोंमें ही देखना चाहिये।

किसी मनुष्यका दर्शन करना हो तो सामनेसे और पीछेसे ऐसे दोनों ओरसे उसका दर्शन करना आवश्यक है। पर जिस समय सामनेसे दर्शन किया जाता है उस समय उसके पृष्ठभागका दर्शन नहीं होता। तथा जिस समय पृष्ठभागका दर्शन होता है उस समय उसके सामनेके भागका दर्शन नहीं होता। अर्थात् मनुष्य वस्तुके आधे भागका ही एक समय दर्शन कर सकता है। इसलिये उसका संपूर्ण दर्शन करना हो तो एक ही समय उसके दोनों भागोंकी कल्पना एक स्थानपर करनी चाहिये। (१) यह इसका सामनेवाला भाग है, (२) यह इसका पीछेका भाग है, (३) दोनों भाग मिलकर यह संपूर्ण पुरुष हुआ है। ये तीनों कल्पनाएं पृथक् हैं, पर इन तीनों भावोंका साक्षात्कार मनुष्य करता है, तब उसको सत्य वस्तुका ज्ञान होता है। वस्तु एक है पर उसके ये तीन भाव हैं। यही तीनोंमें एकका और एकमें तीनों भावोंका दर्शन करना है। ऐसा किये बिना संपूर्ण वस्तुका दर्शन ही नहीं होता।

और एक उदाहरण देखिये। रुपयेकी एक ओर राजाका चित्र है, उसी रुपयेकी दूसरी ओर वेलपत्तीका चित्र है। एक ही रुपयेके ये दो भाव सत्य हैं। प्रत्यक्ष हैं। पर संपूर्ण रुपयेमें ये दोनों भावोंका विंदन हुआ है यह भी उतना ही सत्य हैं। इन तीनों भावोंमें रुपयेका जो दर्शन होता है वह संपूर्ण रुपयेका दर्शन है। मनुष्य जिस रुपयेका नित्य दर्शन करते हैं, वह रुपयेके आधे भागका ही दर्शन है। मनुष्यकी आंख एक ही समय संपूर्ण रुपयेका दर्शन करनेमें असमर्थ है। दृष्टी दृश्यके आधे भागका ही दर्शन करती है। दिव्यदृष्टी ही संपूर्ण वस्तुका दर्शन कर सकती है जो तीनों भावोंका दर्शन है वही सत्य और संपूर्ण दर्शन है।

और एक उदाहरण यहां विचारार्थ लेते हैं। एक शक्करका बतासा है। इसमें वजन है, वही जड भाव है, इस जड भावके टुकडे हो सकते हैं। बतासेके दो चार दस वीस या अधिक टुकडे होते हैं। यही बतासेका क्षर भाव है। हरएक मनुष्य इस क्षर भावका दर्शन करता है। इसी क्षर भावमें व्यापक मीठास है। मीठापन है। क्षर भावका अनुभव, इसके वजनका या जडभावका अनुभव हाथ करता है। पर उसके साथ रहे मीठासका अनुभव जिह्वा करती है और कहती है कि इसमें मीठास ओतप्रोत भरी है। बतासेके जितने चाहिये उतने टुकडे करो, उन सबमें मीठास अटूट है। यह मीठास अक्षर भाव है। पाठकोंको घन भाव और उसमें व्यापनेवाला मीठेपनका भाव ऐसे दोनों भाव बतासेमें हैं, इसका पता लग सकता है। हरएक मनुष्य यह जान सकता है। पर ये दोनों भाव बतासेमें विन्दन होकर मिले रहते हैं। अर्थात् एक जड भाव, दूसरा मीठासका भाव और तीसरा जिसमें ये दोनों भाव मिले हैं वह बतासा है। यही तीन भावोंमें वस्तुके एकत्वका भाव है और वस्तुके एकत्वमें तीनों भावोंकी सत्ता है। बतासेमें रहनेवाला वजन बतानेवाला दृश्य घन भाव, दूसरा मीठासका अदृश्य भाव और इन दोनों भावोंका विन्दन जहां हुआ है वह पूर्ण बतासेका तीसरा भाव है। यही तीनोंका एक भाव है और एकमें तीन भाव हैं। तीन भावोंको पृथक् देखना यह सर्व साधारण दृष्टी है और तीनों भावोंके विन्दनको एक रूपमें देखना यह दिव्यदृष्टी है। पृथग्भावोंका दर्शन साधारण दृष्टीसे होता है और पृथग्भावोंमें एकत्वका दर्शन दिव्य दृष्टीसे होता है।

विश्वमें जडभाव है, जिसको प्रकृति कहते हैं। इस जड भावमें जडता, घनता, वजन तथा स्थूलता आदि भाव हैं। इसको प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्च स्थूलभूत आदि कहते हैं। इसके टुकडे होते हैं, इस कारण इसको 'क्षर' कहते हैं। दूसरा भाव इसीमें है जिसको अक्षर भाव कहते हैं, इसको आत्मा जीवात्मा आदि नाम देते हैं। जडके विभाग होते हैं, वैसे इसके टुकडे नहीं होते। यह चेतन, स्फूर्ति देनेवाला, ज्ञान ग्रहण करनेवाला ज्ञानरूपी है। इनको क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष कहते हैं। इनका वर्णन गीतामें ऐसा किया है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

भ० गी. १५।१६-१८

ये श्लोक इसी लेखके प्रारंभमें दिये थे। अब पुनः यहां दिये हैं क्योंकि इनके कुछ विशेष शब्द हैं जो बडे महत्त्वके हैं, जिनके मननसे 'तीनोंमें एक और एकमें तीन' यह कूट सुलझा जा सकता है। इन श्लोकोंका कथन ऐसा है-

'क्षर और अक्षर ये दो पुरुष इस लोकमें हैं। क्षर सब भूत हैं और कूटस्थ आत्मा अक्षर है। उत्तम पुरुष परमात्मा इनसे भिन्न है जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकोंमें व्यापकर उनका धारण करता है, यह ईश्वर क्षर पुरुषसे श्रेष्ठ है और अक्षरसे भी उत्तम है इसलिये लोकमें और वेदमें इसे पुरुषोत्तम कहा गया है।'

पुरुषका अर्थ

यहां 'क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष' ऐसे तीन पुरुष कहे हैं। यहां तीनोंको पुरुष ही कहा है अतः पुरुष पदका अर्थ देखनेकी यहां आवश्यकता है।

पुरि वसति, पुरि शेते

ऐसी इस पुरुष शब्दकी व्युत्पत्तियां हैं। जो पुरिमें रहता है, जो पुरिमें सोता है, जो पुरिमें व्यापता है वह पुरुष है। यह 'उत्तम पुरुष' परमात्मा, परमेश्वर, परब्रह्म है वह सर्व विश्वमें व्यापक है इसलिये विश्वरूपी पुरिमें व्यापनेके कारण पुरुष कहा गया यह ठीक ही है। दूसरा 'अक्षर पुरुष' यह जीव आत्मा है, यह जीव शरीरमें व्यापता है। इसलिये इसको भी पुरुष कहा जा सकता है। परन्तु यहां केवल जीव शरीरमें व्यापनेका ही भाव नहीं है परंतु जीव भावसे सर्वत्र व्यापक होनेसे इसको यहां अक्षर पुरुष कहा है। गीतामें 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः (गी. २।२४) यह आत्मा-शरीरधारी आत्मा नित्य और सर्वगत है ऐसा कहा है। यह जीवभावकी सर्वगतता सर्वत्र जीवभावकी स्थिति होनेके कारण मानी गयी है। जीवात्मा तो अपने शरीरमें व्यापता है। वैसा प्रत्येक जीवके शरीरमें जीव व्यापता है इस कारण भी यह व्यापक है। अब क्षर पुरुष जो सर्व भूतोंके रूपोंसे विश्वमें जड करके प्रसिद्ध है, पञ्चमहाभूत सृष्टीके जड सृष्टीके रूपसे प्रसिद्ध है, वह किस पुरिमें व्यापनेके कारण 'पुरुष' कहलाता है? यह प्रश्न यहां विशेष महत्त्वका है। जीवात्मा जीव शरीरमें और परमात्मा विश्वरूपी शरीरमें व्यापक है, पर जड शरीर किसमें व्यापक है? जिस कारण इस जडको भी 'पुरुष' कहा है। जड-चेतन, क्षर-अक्षर, प्रकृति-पुरुष ये परस्परके साथ परस्पर व्यापक हैं, अर्थात् ये परस्पर मिले जुले हैं, यह भाव यहां है। इस तरह परस्परके साथ मिले जुले होनेसे दोनोंकी परस्पर व्यापकता है, इसीलिये यहां 'अक्षर पुरुष-जीवात्माको जैसा पुरुष कहा है, उसी तरह क्षर पुरुष-प्राकृतिक शरीरको भी पुरुष कहा है।' जहां शरीर है वहां जीव है और जहां जीव है वहां शरीर है। इसका अर्थ ये परस्पर व्यापक है अतएव ये पुरुष हैं।

वस्तुतः प्रकृति व्याप्य है और आत्मा व्यापक है। इस कारण आत्माको ही पुरुष कहना चाहिये। परंतु यहां प्रकृतिको भी पुरुष कहा है। इसका हेतु यह है कि आत्मा और प्रकृति मिली जुली हैं। इसलिये इनको परस्पर व्यापक कह सकते हैं। जिस तरह कीचडमें मिट्टी और जल परस्पर मिले जुले रहते हैं अतः परस्पर संमिश्रित हैं ऐसा कहा जाता है, उसी तरह प्रकृतिरूपी मिट्टीमें आत्माका जल मिला है। इन दोनोंका कीचड बना जिससे सब सृष्टी बनी है। इस तरह ये दोनों परस्परके साथ मिले हैं, अतः इनको पुरुष कहा है।

यहां एक जड भाव है जिसको क्षर पुरुष कहा है, जिसके टुकडे होते हैं। जिससे दूसरा अक्षर पुरुष है जो आत्मभाव है। एक क्षरभाव और दूसरा आत्मभाव है। ये दोनों भाव जहां मिले हैं वह परमात्मभाव है। यह पूर्ण पुरुष है, पुरुषोत्तम है। इसमें दोनों भाव संमिलित होनेसे यह पुरुषोत्तम है और दोनोंसे श्रेष्ठ है। केवल क्षर पुरुषसे यह पुरुषोत्तम श्रेष्ठ है, इसका कारण यह है कि इसमें जीवात्मभाव मिला है। इसी तरह अक्षर पुरुषसे भी यह उत्तम है इस कारण यही है कि यह पुरुषोत्तम जीवभाव और जडभावको अपने अन्दर संमिलित करके रहता है।

दाये शरीरसे पूर्ण शरीर श्रेष्ठ है और बाये शरीरसे भी उत्तम है, क्योंकि दाये और बाये शरीर इसमें मिले हैं। दोनोंका संमीलन एक एककी अपेक्षासे श्रेष्ठ होना स्वाभाविक है। इसी तरह क्षर पुरुष, और अक्षर पुरुष ये दोनों

*

पुरुषोत्तममें मिले जुले होनेके कारण इनमेंसे प्रत्येककी अपेक्षासे पुरुषोत्तम श्रेष्ठ है यह तो स्वयं सिद्ध ही है।

इस विश्वमें स्थानस्थानमें 'तीनमें एक और एकमें तीन' इस तरह रहे हैं। तीनों भावोंका पृथक् पृथक् दर्शन करना यह सामान्य दृष्टी है और तीनोंके अन्दर एकत्वका दर्शन करना यह दिव्यदृष्टी है।

जो अर्जुनको दिव्यदृष्टी दी वह यही है। इससे अनेकत्वमें एकत्वका दर्शन होता है। जल और मिट्टी ये दो पदार्थ हैं, परंतु कीचडमें दोनों एकरूप होते हैं। पति, पत्नी पृथक् हैं, परंतु कुटुंब कहनेसे उनका मीलन एकत्वमें हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पृथक् हैं पर आर्य कहनेसे इन तीनोंमें एकत्व दीखने लगता है। राजा और प्रजा पृथक् रहते हैं, परंतु राष्ट्र कहनेसे उसमें दोनों आ जाते हैं। यह तो व्यावहारिक भेदोंमें अभेद दर्शन है। परंतु क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तममें तो इससे भी एकरूपता है जो इससे पूर्व बतासेके उदाहरणसे बतायी है। बतासा एक वस्तु है, उसका एक भाव वजनदार तथा टुकडे होनेवाला है और दूसरा भाव मीठासका है, ये दोनों भाव बतासेमें एकरूप हो जाते हैं।

इसी तरह क्षर भाव और अक्षर भाव ये दोनों पुरुषोत्तम भावमें एकरूप हो जाते हैं। संपूर्ण विश्वरूप एक ही बतासा है, इसमें एक क्षरभाव है और दूसरा जीवभाव है। ये दोनों पृथक् अनुभवमें आते हैं, परंतु परमात्मभावमें ये एकत्र मिल जाते हैं। क्षर-अक्षर, जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष ये भेद कल्पनामें अनुभव किये जाते हैं। परंतु ये भेद वस्तुगतः नहीं हैं। परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर एक अद्वितीय वस्तु है, इसका एक भाव क्षर प्रकृति है और दूसरा भाव अक्षर आत्मा है।

जीव भाव

यहां जीवभाव क्या है इस विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह हो सकता है। गीतामें कहा है—

ममैव अंशो जीवलोके
जीवभूतः सनातनः। गीता १५।७

'ईश्वरका सनातन अंश जीवलोकमें जीव बना है।' यहां जीवको ईश्वरका अंश बताया है। अर्थात् अंशभाव जीव है, पूर्णभाव परमेश्वर है। तत्वदृष्टीसे अंश और अंशी एक ही हैं। वेदमें भी ऐसा ही कहा है —

अमृतस्य पुत्राः। ऋ. १०।१३।१

'अमृतके-अमर ईश्वरके पुत्र' ये जीव हैं। पिता परमात्मा है और उसके पुत्र ये जीव हैं।

त्वं पितासि नः॥ ऋ. १।३१।१०
आधस्य चित् प्रमतिरुच्यसे पिता। ऋ. १।३१।१४
आदिः पिता प्रमतिः...मर्त्यानां। ऋ. १।३१।१६
अदितिर्माता स पिता स पुत्रः। ऋ. १।८९।१६; अथ. ७।६।१
द्यौर्मे पिता जनिता। ऋ. १।१६४।३३
सखा पिता पितृतमः पितॄणां। ऋ. ४।१७।१७
हव्यवाडग्निरजरः पिता नः। ऋ. ५।४।२
पिता माता मधुवचाः सुहस्ताः। ऋ. ५।४३।२
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम्। ऋ. ६।१।५
न हि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च न॥ ऋ. ७।३२।१९; अथ. २०।८२।२
पिता च तन्नो महान् यजत्रा। ऋ. ७।५२।३
त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। वा.य. १७।२७ ऋ. ८।९८।११ अथ. २०।१०८।२
विश्वस्य राजा...पिता मतीनां। ऋ. ९।७६।४
पिता देवानां जनिता विभूवसुः। ऋ. ९।८६।१०
त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः पिता वचः। ऋ. १०।६४।१०
ऋषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। ऋ. १०।८१।१
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ ऋ. १०।८२।२
यन्नो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कं। ऋ. १०।१००।५
अत्रा नो विश्पतिः पिता। ऋ, १०।१३५।१
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा॥ ऋ० १०।१८६।२
स नः पिता जनिता स उत बन्धुः। अथ० २।१।३
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्च। अथ० १५।५।२

इन मंत्रोंमें परमेश्वरको हमारा पिता कहा है । यहां इन मंत्रोंमें, परमेश्वरको, पिता, माता, बन्धु, जनिता (जनक) सखा, बुद्धिदाता (प्रमतिः), श्रेष्ठ पिता (पितृतमः) कहा है। पूर्व स्थानमें 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ. १०।१३।१) में अमर परमेश्वरके ये सब पुत्र हैं ऐसा कहा था। उसीका स्पष्टीकरण ये मंत्र कर रहे हैं और ये कह रहे हैं कि वह परमेश्वर हम सबका मातापिता है। पिता पुत्रका संबंध 'अंश-अंशी' भावका ही संबंध रहता है। पिताके संपूर्ण शरीरका सत्व पुत्रके शरीरमें अंशरूपसे आता है। यदि परमेश्वर हम सबका पिता है और उस परमपिताके हम सब पुत्र हैं, तो यह निःसंदेह सत्य है कि उसका अंश हमारे अन्दर अवश्यमेव है। इसीलिये गीतामें कहा है कि 'मेरा अंश यहां जीव हुआ है।' (गी. १५।७) परमेश्वरमें ३३ देवतायें सूर्य वायु जल आदि हैं, मनुष्यके देहमें भी उन्हीं देवताओंके अंश हैं। इस तरह जितने तत्व ईश्वरमें हैं उतने जीवके देहमें हैं। इस रीतिसे यह पिता पुत्रका संबंध है। पिताका अंश वीर्यरूपसे पुत्रमें आता है और वही यहां शरीर रूपसे विस्तारित होता है।

अंश और अंशी एक जातीके होते हैं। वैसे ही परमेश्वर और जीव आत्मतत्वकी दृष्टिसे सजातीय हैं। आत्मा कहनेसे परमेश्वर तथा जीवका बोध होता है। प्रकृतिको आत्माका शरीर माना है। इस तरह प्रकृति+ [जीव+परमात्मा] ये तीन होनेपर भी एक होते हैं, विश्वशरीरी परमेश्वर है यह प्रतिपादन इससे पूर्व किया ही है। परमेश्वरके विश्व-शरीरका वर्णन वेदोंमें तथा अन्यत्र भी बहुत है, उसमेंसे कुछ वर्णन अब यहां देखिये—

> अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वं अस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
>
> मुण्डक २।१।४

> इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्रा कर्णौ दिशः श्रोत्र-ममुष्य शब्दः। नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥
>
> श्री० भागवत २।१

'अग्नि मुख, सूर्यचन्द्र ये नेत्र हैं, दिशाएं कान हैं, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष हृदय है, पृथिवी पांव है यह सवभूतोंके अन्तरात्माका विश्वरूप शरीर है।' यह वर्णन मुण्डक उपनिषद् और श्रीमद्भागवतमें है। वेदके मंत्रोंमें भी ऐसा ही वर्णन है—

> यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥१३॥
> यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥२७॥
> यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
> अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
>
> अथर्व १०।७

'जिस परमात्माके अंगमें-शरीरमें-तेंतीस देव रहते हैं। जिस परमात्माके शरीरमें तेंतीस देव शरीरके अवयव बनकर रहे हैं। जिसका एक आंख सूर्य है और दूसरा आंख चन्द्रमा हुआ है, अग्नि जिसका मुख बना है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम है।' इस तरह परमेश्वरके शरीरका वर्णन वेदमंत्रों, उपनिषद्वचनों और अन्य ग्रंथोंमें है। अर्थात् सब प्राकृतिक विश्व उसका शरीर है। जैसा मनुष्य आत्मा और शरीर मिलकर होता है, वैसा ही परमेश्वर परमात्मा और विश्व मिलकर होता है। यह विश्व उसका शरीर है और सब जीव उस परमेश्वरके विश्वदेहमें रहनेवाले अणुजीव हैं। इस वर्णनसे 'प्रकृति+जीव+परमात्मा' मिलकर एक वस्तु होती है। तीन होते हुए एक है और एक होते हुए तीन हैं। इसीलिये गीतामें, उपनिषदोंमें तथा वेदमंत्रोंमें कई वचन एकत्व बोधक, कई वचन द्वैत बोधक और कई वचन त्रैतबोधक होते हैं। किसी भी वचनको प्रक्षिप्त या विरुद्ध माननेकी जरूरत नहीं है। यह तो दृष्टिबिन्दुके कारण भिन्नता दीखती है, वस्तुतः तीनों प्रकारके वचन तीन दृष्टि-बिन्दुओंसे ही हैं।

जहां एकत्वदर्शनका वर्णन है वह तीनों भावोंका एक रूपमें चिन्तनका वर्णन है, जहां द्वैतका वर्णन है वह प्रकृति-पुरुषका विभिन्न वर्णन है और जहां त्रैतका वर्णन है वहां वह प्रकृति-जीव-ईश्वरके विभिन्न भावोंका वर्णन है।

एक ब्रह्मके दो रूप हैं ऐसा स्पष्ट वर्णन बृहदारण्यक उपनिषदमें है—

> द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च। यदेतन्मूर्तं यदन्यत् वायोश्चान्तरिक्षाच्च।
>
> बृ० उ० २।३।२

' एक ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्त रूप है और दूसरा अमूर्त है, एक मर्त्य है और दूसरा अमर है। वायु और अन्तरिक्ष रूप जो है वह अमूर्त है, और पृथ्वी आप रूप जो है वह मूर्त है। ' यह स्थूल सूक्ष्म सब जो है वह सबका सब ब्रह्मका ही रूप है। जो ब्रह्म है वही आत्मा, परमात्मा, परमेश्वर है। इसका भाव पूर्वोक्त रीतिसे समझना चाहिये।

परमेश्वरके विश्वशरीरकी कल्पना आलंकारिक ही क्यों न हो, पर वह वेद-उपनिषद्-गीता-पुराणोंमें एक जैसी है। इसलिये वह एक दृष्टिबिन्दु है ऐसा मानना युक्ति युक्त है।

वस्तुतः देखा जाय तो प्रकृति, जीव, परमेश्वर ये तीन पृथक् तीन पात्रोंमें रखे जानेवाले पदार्थ नहीं हैं। इनका संमिश्रण ही जहां देखो वहां है। किसी स्थानपर भी केवल प्रकृति, केवल जीव तथा केवल परमेश्वर मिलेगा ही नहीं। इनकी विभिन्नता कल्पनासे ही जानी जाती है। सर्वत्र जो अनुभवमें आता है वह इन तीनोंका मिश्रण ही है। यही तीनोंका विंदन, या मिश्रण ब्रह्मनामसे वर्णन किया गया है।

जिस तरह मिट्टी, जल और अग्निका मिश्रण कीचड नामसे कहा जाता है, जिस कीचडसे ईंटें बनकर उन ईंटोंसे छोटे मोटे मंदिर बनाये जाते हैं। इस कीचडमें मिट्टी है, जल है और अग्नि भी है। अग्नि होनेके कारण कीचडका रूप दिखाई देता है। उसके अन्दर जल होनेके कारण वह जल मिट्टीके परमाणुओंको इकट्ठा पकड रखता है, और मिट्टी वन-या जड है ही। इस तरह तीनोंका यह मिश्रण, या यह कीचड, बडे बडे मंदिर बनाता है, वैसा ही प्रकृति-जीवन-ईश्वरका यह मिश्रण जिसका नाम ब्रह्म है विश्वके विविध रूप बना देता है। यहां ' जीव ' के स्थानपर हमने ' जीवन पद रखा है। यह जीवन ही प्रकृतिके परमाणुओंको एकत्रित करता है और परमात्मा सबका धारण करता है।

अस्तु। इस तरह तीनमें एक है और एकमें तीन हैं। इसलिये हम कह सकते हैं, एक दृष्टीसे त्रैतवाद भी सत्य है, दूसरी दृष्टिसे द्वैतवाद भी सत्य है और तीसरी दृष्टिसे एकत्ववाद भी सत्य है, इसीको कई अद्वैतवाद भी कहते हैं। इसीलिये एक ही ग्रंथमें इन तीनों वादोंके वचन मिलते हैं। जहां जिस दृष्टिसे जो वचन आया है वहां वह उसी दृष्टीसे देखना चाहिये। ऐसा देखनेसे इन वचनोंमें परस्पर विरोध दीखेगा नहीं और सत्य वस्तु तत्त्वका सामंजस्य ही दीखेगा।

जिस वचनकी जो दृष्टी होगी, वह वचन उसी दृष्टीसे ठीक प्रतीत होगा। भिन्न दृष्टीसे वही वचन सदोष दिखाई देगा। कई लोग ये वचन गीतामें और उपनिषदोंमें देखकर एकदम इनमें प्रक्षेप हैं, ये परस्पर विरुद्ध हैं ऐसा बोलते हैं, इतना ही नहीं परंतु वे वचन वहांसे हटा देने चाहिये, ऐसा भी बोलते हैं। परंतु जब वे लोग वेद मंत्रोंमें वैसे ही वचन देखते हैं, तब वे उन मंत्रोंके अर्थोंको बदल देनेका यत्न करते हैं। पर यह सब वास्तव दृष्टिकोण न समझनेका फल है, यह सब संगति लगानेके अज्ञानका फल है। इसलिये पाठकोंको यह दृष्टिकोण समझनेका यत्न करना चाहिये। एकवार यह समझमें आगया, तो वह भूला नहीं जायगा और वचनोंकी संगति लगाना सुकर होगा।

खींचातानीका स्वरूप

दृष्टिकोण न समझनेके कारण बडे बडे लोगोंने किस तरह खींचातानी की है यह संक्षेपसे यहां बताते हैं। ईश उपनिषदमें संभूति और असंभूतिका भाव ' समाज और व्यक्ति ' है, वह श्रीमान् शंकराचार्यजीने लिया नहीं। दूसरा ही अर्थ किया, पर वह तृतीय मंत्रमें लगा नहीं, इसलिये ' अत्र अकारलोपो द्रष्टव्यः ' ऐसा लिखा। अर्थात् संभूतिके स्थानपर ' असंभूति ' और असंभूतिके स्थानपर ' संभूति ' लेना चाहिये। ऐसा लिखा। वेदमंत्रके पदोंकी तोड मरोड करनेकी जिसमें आवश्यकता होती है वह मत ही त्याज्य होता है। दृष्टिबिन्दुका ध्यान न करनेसे इनको ऐसा करना पडा।

उपनिषदोंमें ' तत्त्वमसि ' यह महावाक्य (छां. ६।८।७) है। इसके पद ' तत्+त्वं+असि ' ये ही हैं। पर श्री मध्वाचार्यजी शुद्ध द्वैत माननेवाले ठहरे। इनको ' वह ब्रह्म तू है ' यह अर्थ पसंद नहीं था। इसलिये इन्होंने ' तत्त्व-असि ' अर्थात् ' तू तत्त्व है ' ऐसा अनर्थ किया। व्याकरणसे ' तत्+त्वं+असि ' ये भी पद होते हैं और ' तत्त्वं असि ' ये भी होते हैं। पर पूर्वापर अर्थकी संगतिसे ' तत्+त्वं+

असि ' अर्थात् ' वह ब्रह्म तू है ' ये ही पद ठीक हैं । पर ये पद श्री मध्वाचार्य माननेको तैयार नहीं ।

अपने मतको उपनिषदोंके वचनपर लादना यह है, अतः यह ठीक नहीं । वास्तविक ऐसा करनेकी भी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि किस तरह एकत्व है और किस तरह द्वैत है यह समझनेसे ऐसा करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । और एक उदाहरण देखिये—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।

ऋ० १०।९०; वा. य. ३१

' पुरुष ही यह सब है, जो भूतकालमें था और जो भविष्य कालमें होगा ' यह वाक्य तो एकत्व प्रतिपादक स्पष्ट है । पर जो द्वैती और त्रैती हैं उनको यह एकत्ववाद पसंद नहीं । इसलिये वे इस वाक्यका अर्थ इस तरह बदल देते हैं । ' जो भूतकालमें था और जो भविष्यकालमें होगा वह सब (पुरुषः करोति) पुरुष ही बनाता है । ' करनेकी क्रियाका अध्याहार करके ये लोग इस वेदवचनका अर्थ बदल देते हैं । और जो वचन स्पष्ट रीतिसे एकत्व-वादका प्रतिपादन करता है, उसीको द्वैतवादका प्रतिपादक बना डालते हैं । पर ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ; एकत्वका यह एक दृष्टिकोण है । अथर्ववेदमें कहा है-

एकं यदङ्गं अकृणोत् सहस्रधा । अथर्व० १०।७।९

' अपना एक अंग उसने सहस्रधा विभक्त किया, ' जिससे यह सब विश्व बना है । तथा—

पादोऽस्य इह अभवत् पुनः । ऋ० १०।९०।४

' इसका एक अंश यहां वारंवार उत्पन्न होता है । ' अर्थात् यह अंश सहस्रधा विभक्त होकर इस विश्वकी नाना मूर्तियां बनती हैं । यही बात अन्य रीतिसे वेद वचन स्पष्ट करते हैं-

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । ऋ०

' प्रभु अपनी अनन्त शक्तियोंसे अनन्तरूप बनता है । ' ये सब वचन हैं जो बताते हैं कि वेदमंत्रोंमें एकत्ववाद है इसलिये एकत्व प्रतिपादक मंत्रोंको तोड मरोडकर बदल देनेकी आवश्यकता नहीं है । केवल जिस दृष्टिकोणसे वह वचन लिखा है वह उसी दृष्टिकोणसे समझनेकी आवश्यकता है । वह दृष्टिकोण ध्यानमें रखनेसे सब वचन यथा-स्थान ठीक दीखते हैं और सब विरोध मिट जाता है तथा सब वचनोंकी सुयोग्य संगति लग जाती है ।

एकत्ववादको माननेवाले प्रकृति-पुरुष-परमेश्वरका सर्वत्र विंदन देखते हैं और उससे सब सृष्टी बनी है ऐसा मानते हैं । एकत्ववादके सब वचनोंका भाव यही है । जगत्में किसी भी स्थानपर केवल प्रकृति नहीं है, केवल पुरुष नहीं है और केवल परमेश्वर भी नहीं है । मिलेजुले ये तीनों भाव सर्वत्र हैं, और मिलेजुले रूपमें ये सर्वत्र और सदा रहते हैं । इन तीनों भावोंका संमीलन अथवा संविदन सर्वत्र है और यही एकमात्र सर्वत्र है अतः यही एक वस्तु है । इसीका नाम एकत्व दर्शन है ।

तत्र को मोहः कः शोकः
एकत्वमनुपश्यतः । वा. य. ४०; ईश ५

' इस एकत्वका दर्शन करनेवालेको शोक और मोह किस तरह हो सकते हैं । ' इस एकत्वके दर्शनसे मनुष्य शोक मोहके परे होता है । वह सदा आनंदमें रहता है । इस एकत्वको माननेवाले एकत्ववादी इस एक वस्तुके तीनों भावोंको मानते ही हैं । इसलिये इस एक वस्तुमें तीन भाव सदा ही रहते हैं । अर्थात् यह एकत्ववाद त्रैतका विरोधी नहीं है । भावात्मक त्रैत है और वस्तुरूप एकत्व है ।

जो सर्वत्र जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष, क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका दर्शन करते हैं वे द्वैतवादी हैं । ये पुरुषमें जीव तथा ईश्वरका भेद अंश-अंशी रूपसे है ऐसा मानते हैं और जड और चेतन इन दो तत्त्वोंको मानते हैं । इनके द्वैतमें जीव और शिवका भावात्मक भेद रहनेके कारण इनमें भी त्रैत है, तथा प्रकृतिको पुरुषकी शक्ति माननेके कारण शक्ति-मानसे शक्ति पृथक् न रहनेके कारण इस वादमें भी एकत्व-वादकी झलक रहती है । अर्धनारी नटेश्वरका रूपक इनका मत बतानेवाला है । नर-हरका अलंकार भी इनका ही है । इन द्वैतवादियोंने इस रूपकसे त्रैत और एकत्वकी व्यवस्था अपनेमें उत्तम रीतिसे की है ।

त्रैतमें प्रकृति, जीव और ईश्वरका अस्तित्व है और यह प्रत्यक्ष सबको दीखता ही है, इस कारण इसका विरोध प्रत्यक्ष व्यवहारमें तो कोई करता ही नहीं ।

इस तरह तीनों वादोंकी व्यवस्था है और ये तीनों वाद पृथक् पृथक् दृष्टिबिन्दुओंसे अपने अपने स्थानमें सत्य हैं।

पाठक इस तरह इस त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्ववादको समझें और वेदादि वचनोंका योग्य तात्पर्य ध्यानमें लें और व्यर्थ बढाये झगडोंसे दूर रहें।

एकत्ववादमें भी भावात्मक तीन पदार्थ हैं, द्वैतमें भी आत्मामें दोनों आत्माओंका अन्तर्भाव होनेसे तीन पदार्थोंके तीन भाव हैं और त्रैतमें भी तीनों भावोंमें तीनोंका अनुभव है। इस कारण किसी भी मतका स्वीकार करनेसे " जडभाव, जीवभाव और शिवभाव " इन तीनों भावोंको मानना ही पडता है। इसलिये भावात्मक तीन पदार्थोंका त्याग किसी भी मतमें नहीं है। तो भी तीन दृष्टिबिंदुओंसे ज्ञान दिया जाता है, इसलिये किसी समय एकत्वका दर्शन होता है, किसी समय द्वैत और त्रैतका होता है। वह बताना ही चाहिये। वह तत्त्वज्ञानके ग्रंथोंमें बताया है। इसलिये दृष्टि-बिन्दुके भेदके कारण एक वस्तुमें भी तीन भाव दीखते हैं और तीन भावोंमें भी एक वस्तु दीखती है। अतः ये तीनों प्रकारके वर्णन विभिन्न दृष्टिबिन्दुओंसे ठीक हैं, न ये परस्पर विरुद्ध हैं और नाही इनमें कोई वचन प्रक्षिप्त है। यह इस तरह जानना दिव्यदृष्टि है। यह न जाननेसे वचनोंकी संगति ठीक तरह नहीं लग सकती।

इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस दिव्यदृष्टिको प्राप्त करें और धर्मग्रंथोंके वचनोंकी उत्तम संगति लगाकर उन वचनोंसे सत्यज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करें। सत्यज्ञान ही सबका तारण कर सकता है।

आजके युगके आचार्य महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी आर्य समाजके प्रवर्तक हैं। ये त्रैतमतके समर्थक हैं ऐसा सब मानते हैं। विशेषतः सब आर्यसमाजी अपने आपको 'त्रैतवादी' कहते हैं, पर आर्यसमाजमें प्रवेश करनेके दश नियमोंमें जो पहिला ही नियम है वह 'एकतत्त्ववादी' ही है। देखिये यह नियम ऐसा है—

आर्यसमाजका पहिला नियम

" सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।"

इसमें स्पष्ट कहा है कि सब सत्यविद्या अर्थात् 'वेदादि शास्त्र' और विद्यासे समझे जानेवाले 'प्रकृति-जीव-ईश्वर' ये पदार्थ, इन सबका आदि मूल एकमात्र परमेश्वर है। अर्थात् परमेश्वरसे वेदरूपी सत्य शास्त्र प्रकट हुए और इस सत्य विद्यासे समझे जानेवाले प्रकृति जीव ईश्वर ये सब पदार्थ भी प्रकट हुए हैं। इन सबका आदि मूल एक मात्र परमेश्वर है। यह वैदिक एकत्ववाद ही है।

इस तरह त्रैतवादी महर्षि दयानंद सरस्वतीजी अपने नियमोंमें एकत्व सिद्धान्तको दर्शाते हैं। प्रकृति परमेश्वरकी शक्ति है और जीव अंश है ऐसा माननेसे एक ही परमेश्वरका अस्तित्व रहता है। प्रकृति-जीव-ईश्वर ये तीन भाव हैं, पर पुरुषोत्तम एक ही है। यह जो हमने पूर्व स्थानमें लिखा है कि " एकमें तीनोंका बिन्दन " और " तीनोंमें एककी सत्ता " यह जो मानते हैं वे ही इस नियमको इस तरह लिख सकते हैं। इससे त्रैत पक्षका सर्वथा विनाश नहीं होता और एकत्व पक्षका भी सर्वथा अभाव नहीं होता। परंतु ये दोनों पक्ष अपने अपने दृष्टिबिन्दुसे यथास्थान विद्यमान रहते ही हैं। यह सच्चा दृष्टिकोण है यही वेद-उपनिषद्-गीतामें सिद्धान्तरूपसे कहा है।

इसी कारण महर्षिके हस्ताक्षरोंसे यह नियम इस तरह लिखा गया है। यह महत्त्वपूर्ण दृष्टी है और इसको ठीक तरह समझनेसे त्रैत और एकत्ववादका सामंजस्य उत्तम रीतिसे समझमें आ सकता है। त्रैत और एकत्व ये वाद एक ही वस्तुका वर्णन कर रहे हैं, परंतु दृष्टिबिंदु विभिन्न है। सापेक्षताका यही सिद्धान्त है।

अब हम कुछ अन्य उद्धरण इन्हींके ग्रंथोंसे देते हैं।

पंच महायज्ञ विधि (सं. १९३२)

" इसमें कोई शंका करे कि ईश्वरने किस वस्तुसे जगत्को रचा है? उसका उत्तर यह है कि (अभीद्धात् तपसः) ईश्वरने अपनी अनन्त सामर्थ्यसे सब जगत्को रचा है।

वेदान्त ध्वान्त निवारण (सं. १९३१)

इसी प्रकार पृष्ठ ५ पर लिखा है कि (ब्रह्म वा इदमित्यादि) सृष्टिके आदिमें एक सर्व शक्तिमान ब्रह्म ही वर्तमान था। सो अपने आत्माको (अहं ब्रह्मास्मीति तदेववित) स्वरूपका विस्मरण उसको नहीं होता। उस परमात्माके सामर्थ्यसे ही सब जगत् उत्पन्न हुवा है।

पृष्ठ १६ पर लिखा है कि " हे परमेश्वर अपने स्वसामर्थ्य तथा अनन्त पराक्रमसे भूमि, जल, स्वर्ग, तथा दिव अर्थात् भूमिसे लेकर सूर्य पर्यन्त सब जगत्को बनाया है। रक्षण, धारण तथा प्रलय भी आप ही करते हैं। (ऋ. १।४।१३।१२)

वेद विरुद्ध मतखंडन (सं. १९३२)

शताब्दी संस्करण पृष्ठ ७९१ पर लिखा है कि "सब प्रकारके सामर्थ्य निराकार परमेश्वरमें नित्य ही विद्यमान हैं, उससे ही साकार जगत्की उत्पत्ति होती है। जैसे प्रमाण तैत्तिरीय उपनिषद् —'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्यो अन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः' अर्थात् उसकी इस आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधि, औषधिसे अन्न, अन्नसे वीर्य, वीर्यसे शरीर उत्पन्न होता है, सो यहां यह शरीर अन्न रसमय कहाता है।

उपदेश मंजरी (सं० १९३४)

पृष्ठ १४ पर लिखा है कि "ईश्वर परम पुरुष सनातन ब्रह्म सब पदार्थोंका बीज है"।

पृष्ठ २० पर लिखा है कि "अखिल जीव और निर्जीव पदार्थ ईश्वरने अपनी सामर्थ्यसे निर्माण किये हैं।"

पृष्ठ १२४ पर लिखा है कि "ईश्वर-सामर्थ्य ही, जगत् उत्पत्तिकी सामग्री है और उसका सामर्थ्य ही जगत्का उपादान कारण है। यह सामर्थ्य प्रगट हुवा तभी सृष्टि हुई और ईश्वरमें इसका लय होनेसे प्रलय होता है।"

इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि महर्षिके इन व्याख्यानोंसे भी उनके ऐक्यवादी होनेकी पूर्ण रूपसे पुष्टि होती है।

इन उद्धरणोंके शब्दप्रयोग पूर्वोक्त मतका ही प्रतिपादन करते हैं। अस्तु। इस विषयमें मतभेदके लिये स्थान हो सकता है यह हम जानते हैं। किसी विद्वानको यह अमान्य हुआ तो भी कोई हर्ज नहीं है।

एक ही सत् है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४६॥

ऋ. १।१६४

(एकं सत्) एक ही सत् है, दो या तीन या इनसे अधिक सत् वस्तुएं नहीं हैं। केवल एक ही अद्वितीय सत् है। इसी अद्वितीय एक मात्र सत्का वर्णन (विप्राः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी लोग अनेक प्रकारसे करते हैं, अनेक नामोंसे इसी एकका वर्णन करते हैं। वे ज्ञानी इसी एक अद्वितीय सत्को अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र, वरुण, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् कहते हैं।

इस तरह 'एक सत्' है यह घोषणा वेद करता है। उसी एक सत्में अग्निके गुण देखकर ज्ञानी लोग उसीको अग्नि बोलते हैं, उसीमें वायुके गुण देखकर उसीको वायु या मातरिश्वा कहते हैं, उसीमें परमैश्वर्यके भाव देखकर उसीको इन्द्र कहते हैं। उसीमें मित्रताका भाव देखकर उसको मित्र कहते हैं। इस तरह विश्वमें जो देवताएं दिखाई देती हैं वे इसी एक सत्के रूप हैं, ऐसा अनुभव करके ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे उसी एक सत्का वर्णन करते हैं। अग्नि वायु जलके जो वर्णन हैं, वे सब वर्णन इसी एक सत्के ही वर्णन हैं क्योंकि अनेक रूपोंमें वही एक सत् विश्वरूपमें खडा है।

इस मंत्रका अर्थ कई लोग ऐसा करते हैं कि अग्नि आदि नामोंसे उसी एक सत् अर्थात् परमात्मा या परब्रह्मका वर्णन होता है। परंतु यह सत्य नहीं है। वह परमात्मा, परब्रह्म या सत् अग्नि आदि रूपोंमें प्रकट होता है, इसलिये अग्निका वर्णन उसीका वर्णन होता है। इसी तरह जल उसका रूप है इसलिये जलके वर्णनसे उसीका वर्णन होता है। इसी तरह अन्यान्य देवताओंके वर्णनका भाव समझना योग्य है। इसीलिये वेद कहता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वा. यजु. ३२।१

(तत् एव अग्निः) वह ब्रह्म ही अग्नि है अथवा (अग्निः तत् एव) अग्नि निःसंदेह वह ब्रह्म है, किंवा (अग्निः एव तत्) अग्नि ही वह ब्रह्म है। इसी तरह, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही (ब्रह्म) ज्ञान है, वही जल है, वही प्रजापति है।

अर्थात् पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वृक्ष, प्रस्तर, पाषाण, पर्वत, नदियां आदि सब उसी परब्रह्मके रूप हैं, यह संपूर्ण विश्व ही परब्रह्मका रूप है। विष्णु सहस्रनामके प्रारंभमें ही कहा है कि—

"विश्वं विष्णुः"

विश्व ही विष्णु है, विश्व ही विष्णुका स्वरूप है। अर्थात् विश्वके सब पदार्थ विष्णुके शरीरके अवयव हैं।

वेदोंमें सूर्य उसके आंख है, वायु उसका प्राण है, अग्नि उसका मुख है, पृथिवी उसके पांव है, दिशाएं उसके कान हैं, इस प्रकारका वर्णन आता है।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
अथर्व

ये मंत्र परमात्माके विश्वरूपी देहका ही वर्णन कर रहे हैं। सूर्य चन्द्र अग्नि आदि देवताएं उसके शरीरके अवयव हैं। इससे 'सत् एक है उसीका वर्णन अग्नि जल वायु आदिके वर्णनसे होता है' इस मंत्रका स्पष्टीकरण वेदद्वारा ही हुआ है। इसका सत्य अर्थ वेद मंत्रोंद्वारा इस तरह प्रकट हुआ।

एक ही सत् है जो 'प्रकृति-जीव-शिव' इन तीन रूपोंमें प्रकट हो रहा है यह जो त्रैत और एकत्वका विचार चल रहा है, वह इस रीतिसे वेदमंत्रोंद्वारा स्पष्ट हो रहा है। स्वयं वेद ही अपना भाव अनेक मंत्रोंके द्वारा प्रकट कर रहा है। श्री महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती यह सब जानते थे इसलिये उन्होंने पहिले नियममें 'सबका आदि मूल परमेश्वर है' यह एकत्ववादका प्रतिपादन किया है और उसीके तीनों रूपोंका 'प्रकृति-जीव-शिव' का वर्णन त्रैतवाद स्वीकार करके किया है। इस तरह त्रैतमें एकत्व है और एकत्वमें त्रैत है यह वैदिक दृष्टि है। यही हरएक ज्ञानीको स्वीकार करने योग्य है।

किरणवाले तीन देव

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥
ऋ. १।१६४।४४

(केशिनः त्रयः) बालवाले अथवा किरणवाले तीन देव हैं। वे (ऋतुथा विचक्षते) ऋतुके अनुसार देखते हैं अथवा दिखाई देते हैं। (संवत्सरे) वर्षमें (एषां एकः वपते) इनमेंसे एक बीज बोता है। ऋतुके अनुसार बीज बोता है। (शचीभिः) अपनी शक्तियोंसे इनमेंसे (एकः) एक (विश्वं अभिचष्टे) विश्वको देखता है। और (एकस्य ध्राजिः ददृशे) एककी गति तो दीखती है। पर (रूपं न) उसका रूप दिखाई नहीं देता।

यहां किरणोंवाले तीन देवोंका वर्णन है। ये तीनों किरणोंवाले देव हैं, ये प्रकाशमान हैं। प्रकृतिको "दैवी प्रकृति" कहा जाता है। अर्थात् यह प्रकृति चमकनेवाली है, तेजस्विनी है, किरणोंवाली है। दूसरा जीवात्मा है वह आत्मा होनेसे ही प्रकाशमान है अर्थात् किरणोंवाला है। परमात्मा तो सबका प्रकाशक है ही! अर्थात् ये तीनों (केशिनः) किरणोंवाले हैं। 'केशिन्' शब्द बालवाला इस अर्थमें प्रयुक्त होता है। किरण ही बाल कहे जाते हैं।

इनमेंसे एक (ऋतुथा विक्षते) ऋतुके अनुसार कार्य करता है ऐसा दीखता है। सब सृष्टीभरमें ऋतुके अनुसार फलफूल आते हैं, उगना फल देना और मरना यह हरएक के लिये ऋतुके अनुसार हो रहा है। सृष्टिमें (जायते) जन्मना, (अस्ति) होना, (वर्धते) बढना, (विपरिणमते) परिणाम होना, (अपक्षीयते) क्षीण होना और (विनश्यति) नाश होना ये छः ऋतु दिखाई देते हैं। हरएक पदार्थके साथ ये लगे हैं। हरएक पदार्थ इन छः ऋतुओंमेंसे गुजर रहा है। अर्थात् यहां ऋतुओंके अनुसार कार्य हो रहा है।

(एषां एकः वपते) इनमेंसे एक बीज बोता है जिसके बीजसे सृष्टी होती है और बढती है। बीज देनेवाला पिता कहलाता है। जो पिता होता है वही बीज देता है, वीर्य सिंचन करता है और माता उसका धारण करती है और प्रजाकी उन्नति करती है।

यही (एकः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे) एक अपनी शक्तियोंसे संपूर्ण विश्वका निरीक्षण करता है। अपने किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है। 'शची' महाशक्ति है। उसके पास अनंत महती शक्तियां हैं। उन शक्तियोंसे वह विश्वको शक्तिमान करता है। सर्वत्र उसकी शक्तियोंका संचार हो रहा है। अग्निमें तैजस शक्ति, वायुमें जीवनीय शक्ति, अन्नमें प्राणधारण शक्ति इस तरह अनेक शक्तियां वह प्रदान करता है और विश्वका पालन पोषण और संवर्धन करता है।

इसकी (ध्राजिः) गति दीखती है। कहां क्या हो रहा है यह दीखता है। अग्नि जलता है, जल बहता है,

वायु जीवन देता है इस तरह सर्वत्र गति हो रही है। वह गति इसीकी शक्तिसे हो रही है। यह गति दीख रही है, परंतु यह परमात्मा स्वयं (न रूपं) अरूप है, इसका रूप नहीं है। परंतु इस अरूपका यही विश्व रूप है क्योंकि इसकी शक्तिसे ही यह शक्तिशाली हो रहा है, इसीके जीवनसे यह जीवित रहा है। यह अपनी शक्तियोंसे अग्नि रूप, जलरूप, वायुरूप होकर यहां खडा है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋग्वेद

'इन्द्र प्रभु अपनी महती शक्तियोंसे अनन्तरूप होकर चलता है।' यहां 'माया' पद शक्तिका वाचक है। और यही प्रभु 'पुरु-रूपः' बहुरूपी होकर विश्वमें घूम रहा है। अरूपका यह विश्वरूप है। यही एक होता हुआ बहु हुआ है।

इस मंत्रमें "तीन देव हैं और वे किरणोंवाले हैं" ऐसा कहा है और यह देव अपनी शक्तियोंसे (पुरु-रूपः) बहुत रूप धारण करता है ऐसा भी कहा है।

इस रीतिसे 'एकके तीन और तीनोंमें एक' है यह बात सिद्ध होती है। यह वेदकी परिभाषा है। यह जानकर ही वेदका ज्ञान समझना चाहिये।

इस रीतिसे 'प्रकृति-जीव-परमेश्वर' ये तीन भाव बिलकुल नहीं हैं ऐसा कोई नहीं कहता। परंतु जिस तरह 'बतासे' में 'जडता+मीठास' ये दोनों भाव रहते हैं और मिलेजुले रहते हैं, तथा इन दोनोंमें पूर्ण बतासा भी साथ साथ विद्यमान रहता है। वैसे ही 'जडभाव+ चेतनभाव' ये दोनों भाव सर्वत्र मिलेजुले रहे हैं और उन दोनोंमें 'शिव' भाव व्याप रहा है। तीनोंका कीचड सर्वत्र है। यह समझना चाहिये।

यहां हमने 'प्रकृति-जीव-ईश्वर' का कीचड ऐसा शब्द प्रयोग किया है। कीचड शब्द योग्य नहीं और उच्च भावदर्शक भी नहीं है। परंतु दूसरा शब्द सूझता नहीं है। कीचडमें 'मिट्टी+जल+अग्नि' ये तीन पदार्थ रहते हैं। पर सूखनेपर जल दूर हो सकता है। ऐसी पृथकता 'प्रकृति-जीव-ईश्वर' के विन्दनमें नहीं है। 'विन्दन' शब्द अच्छा है। मिश्रीके ढेलेमें 'ढेला+मीठास' इन दोनोंका विन्दन हुआ है, कीचड नहीं। विन्दनमें दोनों रहते हैं, पर एक रूप होकर रहते हैं। मिश्रीका ढेला हाथमें लेनेसे हाथको उसके वजन (जडभाव) का पता लगता है। जिह्वाको उसकी मीठासका ज्ञान होता है, नेत्रको उसका रूप दीखता है। तीन इंद्रियोंने तीन भावोंका अस्तित्व देखा, अतः ये तीनों भाव पृथक् हैं। पर 'मिश्री' वस्तु एक ही है। मिश्रीकी दृष्टीसे 'एकं सत्' है, परंतु हाथ 'जडत्व' कहता है, नेत्र 'रंगरूप' कहता है और जिह्वा मीठास कहती है। ये अनुभव पृथक् हैं, पर एक ही वस्तुके, एक ही सत्के ये तीनों भाव हैं।

इस तरह यहां समझना चाहिये। तीन भावोंमें एक ही वस्तुका साक्षात्कार होता है।

संपूर्ण विश्वमें 'जड+जीव+शिव' ये तीनों भाव मिले जुले हैं। देहधारी जीव मर गया, तो उसके शरीरसे मुख्य अधिष्ठाता जीव चला जाता है, परंतु उस मृत देहके प्रत्येक अणुमें अनेक जीव रहते हैं। वे सब उस देहके सडनेपर छोटे जीवोंके रूपोंसे प्रकट होते हैं। अर्थात् मृत देहमें भी करोडों सूक्ष्म जीव होते हैं। इसी तरह जिसको निर्जीव लकडी या सुवर्णादि धातु कहते हैं, पर कीडा लकडी खाता है, सुवर्णादि धातु मनुष्य सेवन करता है। ये निर्जीव दीखनेवाले पदार्थ सजीव शरीरके सजीव विभाग बन जाते हैं। इस तरह विचार करनेपर मालूम होगा कि जीव भाव सर्वत्र और सदा रहता है। एक अधिष्ठाता जीव चला जाता है, परंतु वहां सैंकडों अणुजीव रहते हैं। शिव भाव तो सर्वत्र है। इन तीनोंका विन्दन होता है; मेल मिलाप होता है उसका नाम 'ब्रह्म' है। देखिये—

सर्वं खलु इदं ब्रह्म।
नेह नानास्ति किंचन।

'यह सब ब्रह्म है, यहां नाना पदार्थ नहीं है।' यह सब वर्णन तीनोंके विन्दनका है। इस विन्दनका सत्य तत्त्व न समझनेसे द्वैताद्वैतके वादविवाद उत्पन्न हुए हैं, जिनकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस रीतिसे यहां प्रतिपादन किया है, उस तरह पाठक समझनेका प्रयत्न करेंगे, तो पाठकोंके मनमें किसी तरह इस एकत्व, द्वैत और त्रैतके विषयमें विवाद उत्पन्न ही नहीं होगा। वेद उपनिषद आदि ग्रंथोंके वचनोंके सब वचन ठीक रीतिसे समझमें आ जायंगे और सब वचनोंकी उत्तम संगति लग जानेसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होनेका आनन्द भी प्राप्त होगा। यही आनन्द प्राप्त करनेके लिये मनुष्यका जन्म है।

प्रश्न

१ एकत्व, अद्वैत, द्वैत, त्रैतका आशय क्या है ?

२ कितने पदार्थ नाना दर्शनोंने माने हैं ?

३ भिन्नता और एकता किस तरह सापेक्ष होती है ?

४ वस्तुगत भेद और भावगत भेदका स्वरूप क्या है ?

५ एक ही ग्रंथमें एकत्व और अनेकत्वका वर्णन क्यों आता है ?

६ गीतामें एकत्व और अनेकत्व बतानेवाले वचन कौनसे हैं ?

७ उपनिषदोंमें एकत्व और अनेकत्व दर्शानेवाले कुछ वचन हों तो बताइये ।

८ क्या ये परस्पर विरोधी हैं या इनकी संगति किसी तरह लग सकती है ?

९ अद्वैत व एकत्वमें क्या भेद है ?

१० त्रैतका स्वरूप क्या है ?

११ ईश्वरको अनन्तरूप जिनमें कहा है वे तीन चार वचन लिखिये ।

१२ दो सुपर्ण कौन हैं और वे कहां रहते हैं ?

१३ पुरुष ही यह सब विश्व है ऐसा बतानेवाला मंत्र बताइये ।

१४ दो अज और एक अजा कौनसी है ?

१५ भोक्ता भोग्य और प्रेरक कौन है ?

१६ 'एकमें तीन और तीनोंमें एक' यह किस तरह संभव है ?

१७ जड, चेतन और आनंद ये तीन गुण किसके हैं ? क्या ये गुण एक ही वस्तुके हो सकते हैं ?

१८ 'पुरुष' पदका अर्थ क्या है ?

१९ जीव भाव क्या है ? जीवके गुण कौनसे हैं ?

२० परमेश्वर पिता, माता, मित्र, भाई आदि है इस भावको बतानेवाले मंत्र कौनसे हैं ?

२१ सर्व भूतान्तरात्माका वर्णन कीजिये ।

२२ मूर्त ब्रह्म और अमूर्त ब्रह्म कौनसा है ?

२३ ईश्वरको बहुरूप, पुरुरूप, सर्वरूप, अनंतरूप, विश्वरूप क्यों कहा है ? अरूपका रूप कैसा है ?

२४ आर्य समाजका पहिला नियम क्या है ? वह क्या एकत्वका प्रतिपादन करता है वा त्रैतका प्रतिपादन करता है ?

२५ ईश्वरने अपने सामर्थ्यसे सृष्टीकी रचना की है इसका आशय क्या है ?

२६ 'एकं सत्' का अर्थ क्या है ?

२७ एकके बहु कैसे बने ?

२८ तीन देव किरणोंवाले कैसे हैं और वे क्या करते हैं ?

२९ क्या यह विश्व परमेश्वरका शरीर है ?

३० अशरीरीका शरीर कैसा होता है ?

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १।।)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। 'वैदिक धर्म' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।।।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ।।।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०।।)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २।।) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ।।) आठ आना है। म० आ० से २।।।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी.ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला - पन्द्रहवाँ व्याख्यान

क्या यह संपूर्ण विश्व
मिथ्या है?

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है ?

" कल्याण " मासिकके वर्ष २७ अंक ११ अर्थात् सौर वर्ष २०१० मार्गशीर्ष (तदनुसार नवंबर १९५३)के अंकमें " जगत्का मिथ्यात्व " नामका लेख छपा है। " जगत् मिथ्या है, केवल जगत् दीखता है, स्वप्नमें जैसा दीखता है वैसा यह जगत् है " इत्यादि प्रकारका प्रतिपादन इस लेखमें लेखकने किया है।

काल खण्डोंका विचार

हमारे हिंदु धर्मके लेखक यदि ग्रंथोंके काल खंडोंका विचार लेख लिखनेके समय करेंगे, तो उनसे विशेष प्रमाद नहीं होगा। विद्वान लेखक भी " (१) बुद्धपूर्व वैदिक कालके आशावादी विचार और (२) बुद्धोत्तर निराशावादी विचार " इनकी ऐसी खिचडी बनाते हैं कि, जिससे पढनेवालेके मनमें हमारा धर्म प्रारंभसे ही निराशाकी दृष्टिसे जगत्की ओर देखता है ऐसा दुष्ट भाव स्थिर होता है। तरुण जनताके मनपर ऐसा प्रभाव पडना अच्छा नहीं है। ' कल्याण ' मासिककी ग्राहक संख्या बडी है, यह हमारे हर्षका विषय है। पर ग्राहक संख्या अधिक होनेसे ही ऐसे विचार इस मासिकमें प्रकाशित होते हैं यह बडा हानिकारक होता है। हमने इससे पूर्व बलि असुरकी कथाकी समालोचना करके ' कल्याण ' का दृष्टिकोन अशुद्ध तथा हानिकारक था ऐसा एक बार श्रीमद्भागवतके प्रमाण देकर बताया था। आज इस लेखमें ' जगत्का मिथ्यात्व ' का प्रतिपादक जो लेख प्रसिद्ध हुआ है, उसकी समालोचना करनी है और यह बताना है, कि इस लेखद्वारा जिस भ्रमवादका प्रचार कल्याणके लेखकने किया है, वह भ्रमवाद भारतीय आर्यराष्ट्रकी मानसिक अवस्थाको बिगाडनेवाला है अतः निन्दनीय है।

प्रारंभमें ही व्यासजीका वचन लेखकने उद्धृत किया है। वह वचन यह है—

' ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ' का आशय

ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या,
जीवो ब्रह्मैव नापरः।

" (१) ब्रह्म सत्य है। (२) जगत् मिथ्या है और (३) जीव ब्रह्म है, जीव कोई ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। " यह व्यासदेवजीके वचनका अर्थ है। जगत् मिथ्या है इसका भाव लेखकने " मृगजलके समान जगत् केवल भ्रान्तिमात्र है " ऐसा दिया है। पर ' जगत् मिथ्या ' का अर्थ ' जगत् नास्ति या भ्रान्तिरूप है ' ऐसा नहीं होता। संस्कृतमें ' मिथ्या ' और ' नास्ति ' ये पद समानार्थक नहीं हैं। ' मिथ्या ' का अर्थ ' नास्ति ' नहीं है और नाही मिथ्याका अर्थ अभाव दर्शानेवाली भ्रान्ति है। अर्थात् ' जगत् मिथ्या है ' इसका अर्थ ' जगत् नहीं है ' ऐसा नहीं है, ' जगत् मृगजलके समान केवल आभासमात्र है, ' ऐसा भी इसका भाव नहीं है। लेखकने जो यहां स्पष्टीकरण किया है और समझाया है कि ' जगत् मिथ्या है ' इसका अर्थ ' मृगजलके समान केवल भ्रान्तिमात्र है ' यह सर्वथा अशुद्ध विचार है। देखिये— ' जगत् मिथ्या है ' यह बतानेके लिये दो दृष्टान्त दिये जाते हैं—

१ रस्सीपर सर्पका आभास, और
२ शुक्तिपर चांदीका आभास

यहां ' रस्सी ' सत्य है, उसपर सर्पका आभास हुआ है। ' सीप (शुक्ति) सत्य है, उसपर चांदीका आभास हुआ है, इसी तरह—

३ ब्रह्मपर जगत्का आभास हुआ है, इसलिये ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।

अब देखिये कि इसका फलित क्या हुआ ? इन उदाहरणोंने क्या बताया ? जो इन उदाहरणोंके द्वारा बताया गया है वह यह है—

१ रस्सी ही सर्पाकार दीख रही है,
२ सींप ही चांदीके आकारकी दीख रही है।
३ ब्रह्म ही जगदाकारमें दीख रहा है।

इसके स्पष्टीकरण करनेके लिये और कुछ उदाहरण हम यहां लेते हैं, देखिये—

४ सोना ही आभूषणोंके आकारमें दीख रहा है,
५ मिट्टी ही बर्तनोंके आकारमें दीखती है।
६ सूत्र ही वस्त्रके रूपमें दीखता है।

इन उदाहरणोंसे यह सिद्ध हुआ कि स्थायी अधिष्ठानोंपर जो दीखता है वह अधिष्ठान रूप ही होता है। भले ही हम जेवरोंके अनेक नाम कहें पर सब जेवर सुवर्ण रूप होते हैं, भले ही बर्तनोंके अनेक नाम हों, पर वे सब बर्तन मिट्टीके ही रूप होते हैं, भले ही कपडोंके अनेक नाम हों, पर सब कपडे कपास या सूत्रके ही रूप होते हैं। इसी तरह इस विश्वमें सूर्य चन्द्र तारका पृथ्वी जल अग्नि वायु वृक्ष वनस्पति कृमि कीट पशु पक्षी मानव आदि सब सृष्टि ब्रह्मरूप ही है। उक्त उदाहरणोंका विचार करनेसे यह परिणाम निकल आता है। वास्तवमें विश्व ब्रह्मरूप है, जगत् ब्रह्मरूप है, जो दीखता या नहीं दीखता है वह सब ब्रह्मरूप है; यह सब रूप ब्रह्मका है। किसी दूसरेका नहीं है, क्योंकि यहां दूसरा कोई है ही नहीं।

जो लोग ऐसा मानते हैं कि यह सब जगत् ब्रह्मसे पृथक् स्वतंत्र है, वह कल्पना मिथ्या है। परंतु जो मानते हैं कि यह जगत् ब्रह्मके अधिष्ठानपर दीखता है, ब्रह्म ही इस विश्वका रूप लेकर यहां खडा है, जैसा अलंकारोंमें सुवर्ण है वैसा विश्वमें ब्रह्म है, ऐसा जो मानते हैं, वे सत्य मानते हैं और सत्य समझते हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इसका अर्थ यह है। जगत् भ्रम है यह इसका अर्थ नहीं है।

ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या

इतना कहने मात्रसे साधारण विचार न करनेवालोंको ऐसा प्रतीत होता है कि 'ब्रह्म सत्य है और जगत् नहीं है' परंतु यह अज्ञानका अथवा उक्त वचनका ठीक अर्थ न समझनेका परिणाम है। यह व्यासजीका वचन है और व्यास भगवान् वेदोंको जानते थे, वे वेदविरुद्ध कभी लिख नहीं सकते। वेदमें कहा है कि—

विश्व इन्द्रका रूप है

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋग्वेद

(इन्द्र अर्थात्) परमेश्वर (मायाभिः) अपनी अपरिमित शक्तियोंसे (पुरुरूपः) अनेक रूप धारण करके (ईयते) संचार कर रहा है।'

एकं सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः॥ ऋ. १।१६४

'एक ब्रह्म ही सत् है, ज्ञानी लोग उस एक ही ब्रह्मको, अनेक रूप होने या धारण करनेके कारण उसी ब्रह्मको अग्नि, यम, (मातरिश्वा) वायु कहते हैं।' अर्थात् अग्नि जल वायु आकाश आदि रूप उसी एक ब्रह्मके हैं, इसी तरह और भी कहा है—

तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, ता आपः स प्रजापतिः॥
वा० य० ३२।१

'वह ब्रह्म ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, जल और प्रजापति है।' इस तरहके वेदवचन जाननेवाले और वह ब्रह्म ही पृथिवी आप तेज वायु आकाश अर्थात् सृष्टिरूप हुआ है, यह वेदका आशय जाननेवाले व्यास भगवान् इस पृथ्वी जल वायुरूपी विश्वको भ्रान्ति किस तरह कह सकते हैं? वे इस विश्वको ब्रह्मका रूप तो निःसंदेह कह सकते हैं। वे कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' ब्रह्म ही एक सत्य है, वही ब्रह्म विश्वरूप हुआ है, इसलिये यह विश्वका रूप ब्रह्मका ही रूप है। यह विश्व ब्रह्मसे पृथक् किसी दूसरेका रूप है ऐसा जो मानते हैं वह विचार मिथ्या है यही अज्ञान है। यही दुःखका कारण है।

कल्याणके लेखकने 'जगन्मिथ्या' का स्पष्टीकरण करनेके लिये 'मृग जलके समान यह विश्व केवल भ्रान्ति ही है' ऐसा जो लिखा है, वह लिखनेवालेकी ही भ्रान्ति है। और ऐसी विचारधारा अवैदिक, अनौपनिषदिक तथा अनार्ष है अत एव सर्वथा और सर्वदा त्याज्य है।

विश्वरूपी ब्रह्म

वैदिक ऋषि विश्वको ब्रह्मका रूप मानते थे और विश्वमें ब्रह्मरूप अनुभव करते थे, इस कारण उनके लिये यह विश्व सच्चिदानन्दस्वरूप था, प्रत्यक्ष ब्रह्मका ही यह रूप था। बुद्धके पूर्वकी यह विचारधारा थी। जब तक यह विचारधारा रही,

तबतक आर्य जाति दिग्विजयी रही, जहां यह जाति जाती थी वहां इसका विजय होता था। ऐसा समय बुद्धका समय आनेतक रहा। यह आर्योंके दिग्विजयका समय था।

बुद्धकी विचारधारा

बुद्धके निराशामय विचार जबसे प्रचलित हुए तबसे भारत परास्त होता रहा है। "(१) यह विश्व मिथ्या और क्षणभंगुर है, (२) यह विश्व दुःखमय है, (३) यह विश्व बंधन है, (४) यह शरीर पूयविण्मूत्रका गोला है, यह शरीर मलाशय है, (५) यह पिंजरा है, कैदखाना है, (६) पापभोग भोगनेके लिये यहां जीव आया है, (७) इसलिये इस विश्वका त्याग करना चाहिये, (८) सर्वस्व-त्याग करके यति बनना चाहिये, (९) स्त्री पापिनी है क्योंकि यह स्त्री ही जीवोंको जन्म देती है, इसलिये स्त्रीका त्याग करना चाहिये, (१०) विश्वका त्याग किये विना उच्चगति नहीं होगी।" यह विचारधारा बुद्धने प्रसृत की है। यह अवैदिक है हानिकारक है। अतः यह विचारधारा त्याज्य है।

विश्वमें ओतप्रोत आनन्द

यह बुद्धकी विचारधारा मनुष्यका अधःपात करनेवाली है अतः त्याज्य है। यह विश्व वैदिक धर्मके अनुसार ईश्वरका स्वरूप होनेसे आनन्दसे परिपूर्ण है। सर्वत्र अणुरेणुमें सच्चिदानन्द प्रभु ओतप्रोत भरा है, इसलिये संपूर्ण विश्वका संपूर्ण रूप आनन्दसे ओतप्रोत भरा है। ईश्वरको सर्वव्यापक माननेवाले विश्वमें परमेश्वर ओतप्रोत रहनेके कारण संपूर्ण विश्व आनन्दसे परिपूर्ण है ऐसा ही मानते हैं। फिर वे सब विश्वको मिथ्या और दुःख पूर्ण किस तरह मान सकते हैं?

जो परमेश्वरको सब विश्वमें संपूर्णतया ओतप्रोत और व्यापक मानते हैं, वे विश्वको दुःखदायी नहीं मान सकते। इसी तरह जो मानते हैं कि यह विश्व परमेश्वरका स्वरूप है, जैसा सोनेके स्वरूपमें आभूषण होता है, इस मतका स्वीकार करनेवाले भी विश्वको दुःखदायी नहीं मान सकते। हमने इससे पूर्व बताया है कि, "एक ही ब्रह्म सत् है और ज्ञानी लोग उसी सत्को अग्नि, जल, सूर्य, वायु आदि कहते और वैसा वर्णन करते हैं।" इस वेद वचनसे यह सिद्ध है कि यह संपूर्ण विश्व ब्रह्मका ही रूप है। और ब्रह्म तो सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे यह विश्व भी सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। अतः यह विश्व दुःखरूप वा मिथ्या केवल भ्रांति नहीं हो सकता।

वैदिक धर्मके सिद्धान्तके साथ बुद्ध मतका ऐसा और इतना विरोध है। तथापि अत्यंत दुर्दैवकी बात यह है कि वैदिकधर्मी लोग भी आजकल बुद्ध मतको ही अपनाते हैं!!!

अपद्धिसान्तका प्रचार

जितने भारत वर्षमें साधुसंत हुए हैं, उन्होंने भी यह जगद्दुःखवाद ही प्रतिपादन किया है। एक भी साधु संत ऐसा नहीं हुआ कि, जो वेद और उपनिषद्का आनन्दवाद प्रतिपादन करता हो। सभी संत एक मतसे 'संसार दुःखमय है, यह तुच्छ है, त्याज्य है' ऐसा ही कहते हैं। जिस देशमें सब संत, जो तीन चारसौकी संख्यामें हुए थे, दुःखवादका ही सतत प्रचार करते रहे, उस देशमें इस संसारके विषयमें कर्तव्य शून्यता निर्माण हुई होगी, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है!

अपसिद्धान्तके प्रचारका फल

'यह संसार दुःखदायी है, देह पीपविष्ठामूत्रका गोला है' इस तरहके अपसिद्धान्त इन लोगोंने प्रसृत किये। इस कारण सब लोग इह लोकके कर्तव्यके विषयमें उदासीन हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है!! इस देशमें लोगोंकी संतोंपर श्रद्धा है। संतकी परीक्षा करनी चाहिये यह कहना भी आजकल कठिन हुआ है। जो विचित्र पद्धतिसे रहता, बोलता और वैसा ही विचित्र व्यवहार करता है, उसपर 'संत' करके लोग अन्धभावसे विश्वास रखते हैं। जितना उसका विचित्र उच्चार-आचार-व्यवहार होगा उतना उसका साधुत्व अधिक माना जाता है!

संतकी परीक्षा करनी चाहिये, परीक्षा करके गुरु करना चाहिये, यह शास्त्र सिद्धान्त आज कोई माननेको तैयार नहीं है। जिस देशमें इतना अन्धविश्वास हो, वहां ऐसी अंधाधुंद प्रवृत्ति बढती गयी, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आश्चर्यकी बात यह है कि इतने साधुसंत यहां हुए, इनमेंसे सबने विश्वको दुःखदायी अतः त्याज्य माना है। और इस अपसिद्धान्तका प्रचार भी उन्होंने बहुत किया है। इसीका परिणाम यह हुआ कि भारतवर्षपर यवनोंके अनेक आक्रमण हुए। उस समय जगद्दुःखवादके अपसिद्धान्तके

*

जालमें फंसी हुई जनताने समझा कि, 'इस नश्वर और क्षणभंगु तथा दुःखदायी जगत् पर यवन राजा आगया, या ईसाई आ गया, तो हमें क्या है ? यह जगत् तो मिथ्या ही है, जो आभास मात्र है, वह तो नश्वर दुःखदायी अतः त्याज्य ही है। ऐसे क्षुद्र विश्वपर राज्य करनेसे हमें क्या लाभ होनेवाला है ? भले ही यहां यवन राज्य करें, हम तो निर्वाण प्राप्त करेंगे ! '

भारत वर्षमें जगद्दुःखवादके अपसिद्धान्तका खूब प्रचार होनेके कारण विदेशी आक्रमणोंका प्रतीकार जैसा होना चाहिये था वैसा नहीं हुआ। मंदिर तोडे, नगर लूटे, स्त्रियोंका अपहरण हुआ, दास्य आया, यह सब हुआ तो भी हिंदुके हृदयमें जो दुःखवादके कारण उदासीनता छायी गयी वह दूर नहीं हुई !!! नश्वर जगत्पर कोई राज्य करे हम तो निर्वाणके यात्री हैं !! हिंदु हृदय यही रटता रहा। इसलिये यवनोंका आक्रमण हुआ और उन्होंने अहिंसावादी नश्वरवादी और दुःखवादी बुद्ध धर्मीयोंकी सर्व साधारण कतल ही की है, दुःखवादियोंने हात तक ऊपर नहीं उठाया !!! सिंधका इतिहास तो भारतीयोंकी कतल और स्त्री अपहरणका ही इतिहास है। सिंधसे गुजरात और देहलीसे बंगाल तकका राज्य विना विरोध शत्रुको मिला है। उत्तर भारतमें एक भी बडा हिंदु मंदिर नहीं रहा है, सब हिंदु मंदिर तोडे गये, तब भी दुःखवादी लोगोंको कुछ हलचल करनेकी बुद्धि जैसी होनी चाहिये थी वैसी नहीं हुई।

सिंधसे बंगालतक बुद्धके अपसिद्धान्तका प्रभाव था और इधर गुजरातमें भी था। इसलिये ये लोग निर्वाणका जप करते रहे और बाहरके यवन इन सब विश्वको दुःखदायी माननेवालोंके धनोंका यथेच्छ उपभोग करते रहे।

साधुसंत यह दुःख देखते रहे और मिथ्यावाद तथा दुःखवादका और भी प्रचार करते रहे। जिससे जनता और भी गहरे दुःखमें जाती रही। संसार दुःखमय है यह उन सबका उस समयका अनुभव ही था। पर अपने सामने वे यवन ऐश आराम करते हैं, जितना चाहिये उतना उपभोग लेते हैं, यह देखते हुए भी वे अपनी आंखें बंद करके दुःखवादका ही जप करते रहे और प्रतीकार बुद्धिकी जाग्रति किसी ने नहीं की। बुद्धि मारी जानेके कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

जीवन दुःखमय है यही सबका विचार बना था। इस संसारका सुख भी दुःख ही है ऐसा प्रचार होता रहा था। कथा कीर्तन प्रवचन पुराणोंमें यही प्रचार होता रहा था। इस कारण हमी ही मारी गयी। अपने उत्कर्षके विषयमें महत्वाकांक्षा ही लुप्त हो चुकी थी। हम किसी पापके कारण यहां जन्मे हैं और उस पापका भोग भोगना है, वह दुःख हम भोग रहे हैं, यह अपसिद्धान्त मनमें जम गया था। पापका परिणाम यह जन्म और यह दुःख है, ऐसा माननेवाला किस तरह उठ सकेगा ? और शत्रुका प्रतिकार कर सकेगा ?

हम सब 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ.) यह वेदवचन तो स्मृतिपथसे दूर गया था और 'पापोऽहं पापकर्माहं' यह अपसिद्धान्त मनमें जम गया था। अपना शरीर ही जहां पीप विष्ठा और मूत्रका गोला माननेतक बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी थी, वे अपने शरीरसे ही घृणा करने लगे तो उसमें आश्चर्य क्या ? वैदिक ऋषि क्या मानते थे यह देखिये—

ऋषि आश्रम और देवमंदिर

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। वा० य०
नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। अथर्व.

" यह शरीर सप्त ऋषियोंका पवित्र आश्रम है। यह शरीर नौ द्वारोंवाली अयोध्या देवोंकी नगरी है। " यह वैदिक सिद्धान्त लोग भूल गये और अपने ही इस देव नगरीको जेलखाना, पिंजरा या पाखाना मानने लगे !!! अपने शरीरकी ही जो घृणा करते हैं, वे इस शरीरको सुदृढ, दीर्घायुवाला और सुन्दर क्यों कर बना सकते हैं ?

पाठक ही विचार करें कि वे पाखानेमें अधिक देर तब बैठना चाहेंगे, या देवमंदिरमें अथवा ऋषि आश्रममें अधिक समय बैठेंगे ? शरीरको पीप-विष्ठा-मूत्रका गोला माननेसे इस अपसिद्धान्त पूर्ण बुद्धमतके कारण भारतीय सब पुरुषार्थ प्रयत्नोंसे शून्य हुए हैं। वेही वैदिक आर्य देखिये क्या घोषणा करते थे—

संपूर्ण पृथिवीपर एक राज्य

स्वस्ति, साम्राज्यं, भौज्यं, स्वाराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात्, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्॥ ऐ० ब्राह्मण

" (स्वस्ति) हमारा कल्याण होना चाहिये, हम साम्राज्य भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य स्थापन करेंगे, पारमेष्ठ्य राज्यमें महाराज्य, आधिपत्यमय राज्य, सामन्तशासित राज्य हम स्थापन करेंगे। हमारा यह राजा सार्वभौम सम्राट् हो, यह पूर्णायुषी हो। समुद्रपर्यंत जितनी पृथिवी है उस सब पृथ्वीपर एक ही आर्य राजा हो। "

देखिये यह वैदिक ऋषियोंकी घोषणा थी। वे चाहते थे कि संपूर्ण पृथ्वीपर एक आर्य राजा हो और उसका शासन वेदानुकूल हो। यह महत्वाकांक्षा ऋषि वैदिक समयमें अपने मनमें धारण करते थे और उनके प्रयत्न उसकी सिद्धि-के लिये होते थे। शरीर सुदृढ करना, दीर्घायु प्राप्त करना, अपना स्वाराज्य स्थापन करना और सब पृथ्वीपर एक ही आर्य राजा हो ऐसा प्रयत्न कराना, यह प्रयत्न वैदिक ऋषि-योंका था। क्योंकि उनके वैदिक सिद्धान्तके अनुसार संपूर्ण विश्व ओतप्रोत सच्चिदानन्दसे भरपूर भरा है। उस पूर्ण आनन्दका साक्षात्कार करना और ऐसा राज्यशासन शुरू करना कि जिसमें रहनेवाले सारे प्रजाजन उस अप्रतिम आनंदका भोग करनेमें समर्थ हों।

यह आनन्दमय सृष्टीकी कल्पना वैदिक ऋषियोंके साथ चली गयी और अज्ञानसे परिपूर्ण जगदुःखवादका अप-सिद्धान्त आर्योंके वंशजोंके गलेमें अटक गया! इससे समुद्र पर्यंत अखंड पृथिवीका साम्राज्य करनेका उत्साह पूर्ण विचार दूर हो चुका और " अपना शरीर पीपका गोला है, यह जगत् नश्वर क्षणभंगुर विकारी और दुःखपूर्ण है। यह हेय त्याज्य और क्षुद्र है, हमें तो इसमेंसे किसीकी अपेक्षा नहीं हैं। हम तो इस विश्वको ही त्यागेंगे, हमें निर्वाण चाहिये, यह जो जीवरूप दीप पंचमहाभूतोंके संघातसे जलने लगा है, वह पंचमहाभूतोंके पृथक्करणसे बुझ जाय और हम इस असार संसारके नाना झंझटोंसे मुक्त हो जांय। इस पापमय शरीरको दूर करना है और दुःखपूर्ण संसारको त्यागना ही हमें अभीष्ट है। "

यह बुद्धकी अज्ञानपूर्ण असार कल्पना आर्योंके वंशजोंमें रूढ हो जानेसे ' समुद्र पर्यंत पृथिवीका एक आर्यराजा ' करनेकी वैदिक ऋषियोंकी घोषणाके लिये कोई स्थान ही यहां नहीं रहा! वैदिक ऋषि कितनी उच्च भूमिकापर विराजते थे, उनके वंशज वहांसे नीचे गिरे और निराशाके कीचडमें आज भी ऐसे फंसे हैं कि उस कारण उनको सहस्रों वर्षोंतक पारतंत्र्यमें सडना पडा, इतने दुःख भोगते हुए भी किसीको ऋषियोंकी अखंड साम्राज्यकी परमोच्च कल्पना भी नहीं सूझी! यह सचमुच आश्चर्यकी ही बात है!!!

वैदिक विचारोंका प्रभाव

दक्षिणमें विजयानगरमें सायन माधव वेदके आचार्य हुए। उन्होंने बुद्धके अपसिद्धान्तसे भारतकी आर्यजनता यह दुःख भोग रही है यह देखा और वैदिक विचारोंकी भूमिकापर वैदिक स्वराज्यकी स्थापना की। विजयानगरमें आर्यराज्य स्थापन हुआ। इस कारण भारतकी दक्षिण दिशा यवनोंके आक्रमणोंसे विनष्ट नहीं हुई। वैदिक विचार धारासे क्या होता है यह इस विजयानगरके महाराज्यमें जनताके सामने आया। बुद्धमत छोडने और वेदमत स्वीकार-नेसे इस विजयानगरमें २०० वर्ष वैदिक प्रकाश पडा।

धनुर्धारी रामचन्द्रकी भक्ति

इसके पश्चात् महाराष्ट्रमें श्री समर्थ रामदास स्वामी हुए। इन्होंने धनुर्धारी श्रीरामचन्द्रकी उपासना और श्री हनुमान जीकी बलोपासना शुरू की। ग्रामग्राममें अखाडे शुरू हुए। जनताका बल बढता गया। शत्रु साम्राज्यका विनाश करके आर्य साम्राज्यकी स्थापना करनेवाले भगवान रामचन्द्रजीके चरित्रका पारायण होने लगा। इससे भगवान् रामचन्द्रजीके समान हम भी अपना साम्राज्य स्थापन करेंगे, यह बुद्धि महाराष्ट्रकी जनतामें उत्पन्न हुई और श्री छत्रपति शिवाजी महाराज उत्पन्न हुए और उन्होंने आर्य साम्राज्यकी स्थापना की। यह भी दो सौ वर्ष चलता रहा।

विजयानगर साम्राज्यको वेदाचार्योंकी वैदिक विचारधारा की जाग्रति कारण हुई और शिवराज्यके मूलमें भी वही विचारधारा रही हैं। बुद्धका क्षणभंगुरवाद, दुःखवाद आदि अपसिद्धान्त जनतामें दृढमूल हो चुके थे। तीनसौ संत तीन चारसौ वर्षोंतक बुद्धके क्षणभंगुरवादका ही जप कर रहे थे। उसको जडमूल समेत उखाडकर फेंकना नहीं हुआ। सायन-माधव भी यह न कर सके और स्वामी रामदास भी यह न कर सके। इसलिये बुद्धके अपसिद्धांत जडमें रहे, परंतु किंचित् कालतक वैदिक विचारोंकी जाग्रति हुई और पुरु-षार्थकी ज्योती जाग उठी इसलिये राष्ट्रीय तेज फैल गया।

वैदिक विचारोंकी परंपरा जीवित और जाग्रत नहीं हुई इस कारण सो पचास वर्षोंमें यहां एक महापुरुष उत्पन्न होता है, कुछ जाग्रति करता है और फिर जनता बुद्धके कुसंस्कारोंमें डूब जाती है। ऐसा सतत होता आया है। जनताके मनोभूमिकासे ही ये बुद्धके कुविचार जडमूल सहित उखाड कर फेंक देने चाहिये। तभी आर्य राष्ट्र फिरसे जाग्रत हो सकेगा।

कल्याणका यह लेखक ही अपने लेखमें वारंवार इस विश्वको 'स्वप्न, इन्द्रजाल, मृगतृष्णिका, मिथ्या, आभास' कह रहा है। वैदिक पक्ष इनके मस्तिष्कमें है, पर इस बुद्धके अज्ञानका प्रभाव उसके मनमें बहुत गहराई तक पहुंचा है। भारतवर्षमें प्रायः सब विद्वान ऐसे ही बुद्धके भ्रमजालमें फंसे हैं। जनता भी इन शब्दोंसे बडी मोहित हो गयी है! जनताको भी ये ही शब्द वारंवार सुननेसे उनको बडा प्रेम आता है। इसका कारण यही है कि सब लोग वारंवार ऐसे ही शब्द बोलते रहते हैं। सर्व साधारण भारतीय विद्वानोंमें भी यह संशोधनका विचार नहीं रहा है कि सच्चा वैदिक मत कौनसा है और अवैदिक बुद्धका अपसिद्धान्त कौनसा है। और इनमें लाभदायक कौनसा है ?

कल्याणका लेखक पूर्वोक्त प्रकार जगत्को मिथ्या प्रतिपादन करनेके पश्चात् उसके मनमें वैदिक सिद्धान्तकी ऊर्मी आती है और वह लिखता है कि—

" पर दूसरी अनेक जगहोंपर इस जगत्को ब्रह्मरूप या ईश्वररूप भी कहा है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इदं सर्वं खलु ब्रह्म-यह जो कुछ दीखता है, वह सब-सारा विश्व या जगत्-केवल ब्रह्मरूप ही है। गीतामें श्री भगवानने जगह जगह कहा है कि जगत मेरा ही रूप है। 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय'—हे अर्जुन! इस विश्वमें मुझसे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है।.. सारा विश्व ईश्वरसे व्याप्त है। यहां व्याप्त होनेका अर्थ यह है कि जिस प्रकार अंगुठीमें सोना व्याप्त है, घडेमें मिट्टी व्याप्त हो रही है अथवा वस्त्रमें जैसे सूत्र व्याप्त हैं, इसी प्रकार इस जगतको यहां ब्रह्मरूप या ईश्वररूप कहा है।"

अर्थात् यह लेखक इस तरह इस वेद-उपनिषद-गीतामें प्रतिपादित ब्रह्मके विश्वरूप पक्षको जानते हैं। पर यह सत्य है या वह सत्य है इस विषयमें उनके मनमें संदेह है। ऐसा संदेह होनेका वास्तवमें कोई कारण नहीं है, पर इस समयके बहुतसे भारतीय विद्वान इसी तरह वेद सिद्धान्त और बुद्धके पाखंडकी ऐसी ही खिचडी कर देते हैं। अब हम यह विषय समझानेके लिये इस विषयके उपनिषद् वचनोंका विचार करते हैं।

एक ही सत् है

सब एक ही सत् है इस विषयमें निम्न स्थानपर लिखे वचन देखिये—

ओंकार एव इदं सर्वम्। छां० उ० २।२३।४
गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्। छां० उ० ३।१२।१
सर्वं खलु इदं ब्रह्म। छां० उ० ३।१४।१
प्राणो वा इदं सर्वं भूतम्। छां० ३।१५।४
अहं एव इदं सर्वं। छां० ५।२।६; ७।२५।१
एतदात्म्यं इदं सर्वम्। छां० ६।९।४
स एव इदं सर्वम्। छां० ७।२५।१
आत्मा वा इदं सर्वम्। छां० ७।२५।२
स इदं सर्वं भवति। बृ० उ० १।४।१०
इदं सर्वं यदयं आत्मा। बृ० २।४।६; ४।५।७; नृ०उ०५
इदं अमृतं, इदं ब्रह्म इदं सर्वम्। बृ० २।५।१
एतत् ब्रह्म एतत् सर्वम्। बृ० ५।३।१
सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्। ईश० ७
ओं इति इदं सर्वम्। तै० उ० १।८।१
ब्रह्म खलु इदं वाव सर्वम्। मैत्री उ० ४।६
ओं इति एतदक्षरं इदं सर्वम्। मुण्ड० उ० १; नृ० पू० २।२; ४।१; नृ० उ० १
सर्वं ओंकार एव। मुण्ड १।
सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। मुण्ड० २
सर्वं हि अयं आत्मा। नृ० उ० ७
ब्रह्म एव इदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपम्। नृ० उ० ७
ब्रह्म ह वा इदं सर्वं। नृ० उ० ७
सत् हि इदं सर्वं चित् हि इदं सर्वम्। नृ० उ० ७
आत्मा हीदं सर्वं सदेव। नृ० उ० ८
सूक्ष्मः पुरुषः सर्वं। शिरस् उ० ३
नारायण एव इदं सर्वम्। नारायण० उ० २

इन सब तथा इनके समान अन्य उपनिषदोंके वचनोंमें कहा है कि " यह जो दृश्यमान या अदृश्य विश्व है, वह

सब ओंकार, गायत्री, ब्रह्म, प्राण, अहं (मैं), आत्मा, सः [वह ईश्वर], अमृत, ओं, सत् चित् आनंद, सूक्ष्म पुरुष, नारायण आदि नामोंसे जिसका बोध होता है, वही सत् तत्व है, अर्थात् वही एक सत्तत्वका यह विश्व बना है, वह सत् तत्व ही विश्वरूप बनकर यहां रहा है, जिसमें हम हैं।" ये वचन इतने स्पष्ट हैं कि, इनके अर्थके विषयमें किसीको किसी प्रकार संदेह नहीं हो सकता। अर्थात् इतने वचनोंसे यह सिद्ध हो रहा है कि, यह विश्व ब्रह्मका रूप है, सच्चिदानन्द स्वरूप है, यही आत्माका रूप है, यही ओंकारका रूप है, यही नारायणका स्वरूप है। जो सूक्ष्म पुरुष करके कहते हैं, वही यह विश्वरूप है। यही भाव गीतामें भी देखिये—

वासुदेवः सर्वं । गीता० ७।१९

'वासुदेव ही यह सब विश्व है।' भगवान् श्री कृष्णका रूप ही यह सब विश्व है। जो विश्व करके हम देखते हैं वह इस तरह भगवान्का रूप ही है। अब यही भाव वेद मंत्रोंमें भी देखिये—

पुरुष एव इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

ऋ० १०।९०।२

'यह सब जो भूत वर्तमान और भविष्यमें था, है और होगा, वह सब पुरुष ही है।' अर्थात् यह सब परमेश्वरका ही सच्चिदानन्द स्वरूप है। और भी देखिये-

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । ऋ० ६।४७।१८

'प्रभु अपनी अद्भुत शक्तियोंसे अनंत रूप होकर विश्वाकार बना है।' गीतामें यही ज्ञान अन्य प्रकारके वर्णनसे भी दिया है, देखिये—

सर्वगतः (आत्मा) । गीता २।२४

सर्वगतं ब्रह्म । गी० ३।१५

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

गी० ४।२४

अहं क्रतुः अहं यज्ञः स्वधाहं अहं औषधम् ।
मंत्रोऽहं अहमेव आज्यं अहमग्निः अहं हुतम् ॥

गी० ९।१६

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि नैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

गी० ५।१८

सर्वत्र समदर्शिनः गी० ६।२९

समोऽहं सर्वभूतेषु । गी० ९।२९

विष्टभ्याहामिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।

गी० १०।४२

अनंतरूपः, विश्वरूपः । गी० ११।१६

सर्वः । गी० ११।४०

'जैसा सुवर्ण जेवरोंमें व्यापता है वैसा आत्मा या ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। इसलिये अर्पण, हवि, अग्नि, हवन यह सब ब्रह्म ही है। क्रतु यज्ञ, स्वधा, यज्ञ सामग्री, मंत्र, घी, अग्नि और हवन यह सब आत्मा अथवा मैं ही हूं। विद्वान ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चांडाल इन सबमें पण्डित लोग ब्रह्मका दर्शन करते हैं। ईश्वर सर्वत्र सम है। सब भूतोंमें प्रभु समभावसे रहा है। इसलिये प्रभुको अनन्तरूप वाला, विश्व ही जिसका रूप है ऐसा कहते हैं। जो कुछ यहां है वह सब परमेश्वरका ही रूप है।'

यह सब वर्णन स्पष्ट है। इस अर्थके विषयमें किसीको कोई संदेह नहीं हो सकता। इतने ये वचन स्पष्ट अर्थ बतानेवाले हैं।

अब विश्वरूप ईश्वरके विषयमें वेदमंत्रोंके आधारसे हम और थोडासा अधिक लिखते हैं। यह इसलिये कि इस विषयमें किसीको संदेह न रहे। देखिये वेदमंत्र क्या बताते हैं—

ऋग्वेदमें ईश्वरका रूप

ऋग्वेदमें मनुष्यरूपमें ईश्वर प्रकट होता है ऐसा कहा है—देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥ १ ॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

ऋ० १०।९०

"हजारों जिसके सिर हैं, हजारों जिसके आंख हैं, हजारों जिसके पांव हैं ऐसा पुरुष अर्थात् ईश्वर है। वह भूमि पर चारों ओर है और भी है। (प्रश्न) जिस ईश्वरका यह वर्णन किया गया है उसका मुख कौनसा है, बाहू

कौनसे हैं, जांघें कौनसी हैं और पांव कौनसे हैं ? (उत्तर) ब्राह्मण इसके मुख हैं, क्षत्रिय इसके बाहू हैं, वैश्य इसकी जांघें हैं और शूद्र इसके पांव है । " अर्थात् ईश्वरका यह शरीर है जिसके ज्ञानी, शूरजन, किसान और कारीगर ये क्रमसे मुख, बाहु, जांघें और पांव हैं । अर्थात् संपूर्ण मानव प्राणी मिलकर परमेश्वरका शरीर है । और इसीकी सेवा करना मनुष्यका कर्तव्य है ।

पहिले मंत्रमें ' हजारों मुख, बाहु, नेत्र, और पांव हैं ' ऐसा जो ईश्वर वर्णित हुआ है, वह सब प्राणियोंका समष्टी रूप ही है । सब प्राणियोंके सब शरीर मिलकर परमेश्वरका देह होता है । यह सत्य है । इसका वर्णन करते हुए सर्व साधारणके बोधके लिये ' ज्ञानी-शूर-किसान-कारीगर ' ये उस प्रभुके शरीरके अवयव हैं ऐसा कहा है ।

यहां इन वेद मंत्रोंके प्रमाणसे यह विदित हुआ कि मानव जाति प्रभुके शरीरके अवयव हैं, और ईश्वर संसेव्य होनेके कारण ये ज्ञानी-शूर-व्यापारी-कारीगर ही सेवा करने योग्य हैं । इनमें जिसकी जो सेवा करनेकी आवश्यकता हो वह सेवा उसके हित करनेके लिये करनी चाहिये । प्रभुके मुख, बाहू, पेट और पांव कौनसे हैं, इसका पता यहां लगा है । यह वेदवचन है, न यह मिथ्या है, न भ्रांति है नाही यह आभास है ! यह सत्य सिद्धान्त है ।

अब और परमेश्वरका रूप देखिये—

विश्वसृष्टिमें ईश्वररूप

अब देखिये इस विश्वसृष्टिमें परमेश्वरका रूप कैसा है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशःश्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् १४
ऋ० १०।९०

इसीका भावानुवाद मुण्डकोपनिषदमें किया है वह अब यहीं देखिये—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ॥ मुण्डक उ० २।१।४

इसीका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें कैसा किया है वह देखिये—

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः । नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥ २९ ॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतंगः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च । तद् भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥ ३० ॥
श्रीमद्भागवत २।११

यहां ऋग्वेद, मुण्डक उपनिषद और श्रीमद्भागवतके वचन दिये हैं इनमें सर्वभूतान्तरात्मा जो परमेश्वर है उसका वर्णन है । इसका भाव यह है— " इस ईश्वरका आंख सूर्य है, दिशाएं कान हैं, वायु प्राण है, हृदय अन्तरिक्ष है, पांव पृथिवी है, इन्द्रादि देवताएं बाहु हैं, अश्विनौ देवता इसकी नाक है, अग्नि मुख है, मस्तक द्युलोक है । " इस तरह यह सर्व भूतान्तरात्मा साक्षात् दीखता है । यह मनुष्योंके लिये उपास्य, संसेव्य और भक्ति करने योग्य है ।

क्या यह मिथ्या, भ्रम अथवा आभास है ? वह तो स्वयं परमात्माका स्वरूप है । परमात्माके सिर, पेट, हाथ, पांव, नाक, कान, मुख आदि जो अवयव हैं वे परमेश्वरके हैं । परमेश्वर नित्य तथा सच्चिदानंद स्वरूप है । इस कारण ये अवयव अर्थात् ये शरीर भी उसके साथ आनन्द पूर्ण हैं ।

कई विचारक (१) स्वप्नवत् असत्य, (२) मृगजलवत् भास मात्र, (३) रज्जुसर्पवत् भ्रम, (४) शुक्तिरजतके समान अस्थायी, (५) सुवर्णके आभूषणों और मिट्टीके बर्तनोंके समान, अथवा कपास वा सूत्रके कपडोंके समान आधाराश्रयी हैं ऐसा कहते हैं । पर इसमें विचारके योग्य यह है कि—

(१) स्वप्न सृष्टि जाग्रति होनेपर नहीं रहती, (२) मृग जल स्वभावतः सत्य नहीं है, (३) प्रकाश होनेपर रज्जूपर सांप दीखता नहीं, (४) प्रकाशमें सीपपर चांदीका आभास नहीं होता । ये उदाहरण ठीक नहीं हैं । परब्रह्म या परमेश्वर अथवा परमात्मापर जो यह विश्व दीख रहा है वह इन चारों उदाहरणोंके समान नहीं है । जिस तरह (५) सुवर्ण पर आभूषण दीखते हैं, वैसा परब्रह्मपर विश्व दीख रहा है । यही समझने योग्य है । आभूषण देखनेके समय जिस तरह आभूषण भी दीखता है और सुवर्ण भी साथ साथ दीखता है, वैसी ही ठीक सृष्टि दीखती

है और उसके साथ साथ परब्रह्म भी दीखता है। जिस तरह बर्तन दीखते हैं और उनके आकारमें मिट्टी दीखती है यह जैसा दीखता है वैसे ही कपडे दीखते हैं और उनके साथ साथ कपास दीखता है और सूत्र भी दीखता है, वैसा ही विश्वके साथ साथ ब्रह्म भी विश्वाकारमें दीख रहा है।

ये तीन उदाहरण अत्यंत योग्य हैं। इसलिये विश्व दीखता है परंतु ब्रह्म दीखता नहीं है, ऐसा नहीं है। बर्तन दीखते हैं और मिट्टी दीखती नहीं ऐसा नहीं है। तथा कपडा दीखता है और सूत्र तथा कपास दीखता नहीं ऐसा नहीं है। इसी तरह कुर्सी टेबल अलमारी दीखती है और साथ साथ लकडी भी दीखती है। इसी तरह विश्व दीखता है और साथ साथ ब्रह्म भी दीखता है।

कुसंस्कारोंका परिणाम

यहां कई कहेंगे कि हमें सृष्टि दीखती है, पर ब्रह्म दीखता नहीं है। यह जो उनका ब्रह्म दीखता नहीं यह कहना है वह उनपर जो बचपनसे कुसंस्कार हुए हैं, उनका परिणाम है। सुवर्ण-आभूषण, मृत्तिका-घट, सूत्र-वस्त्र ये जो उदाहरण हैं ये उदाहरण इसीलिये दिये हैं कि विश्वके साथ ब्रह्म भी दीखता है यह बात सबके ध्यानमें आजावे। इन उदाहरणोंसे यही दर्शाया है कि सृष्टिके साथ ब्रह्म भी दीख रहा है यह बात सबके ध्यानमें आजावे।

आज भी बडे पंडित लोग इन दो प्रकारके उदाहरणोंमें भेद नहीं करते। रज्जुसर्पके उदाहरणमें रज्जु दीखनेपर सर्पका भास आप ही आप दूर होता है, शुक्ति-रजतमें उदाहरणमें भी सींप दीखने लगते ही चांदीका आभास स्वयं दूर होता है। मृगजलमें तो सर्व प्रकारका आभास ही आभास था, इसमें आधारकी भी सचाई नहीं थी।

परंतु सुवर्ण-आभूषणके दृष्टान्तमें सुवर्णका दर्शन होनेपर भी आभूषणका दर्शन होता है और आभूषणके दर्शन होनेके समय भी सुवर्णका दर्शन होता है। अतः सुवर्ण-आभूषण, मृत्तिका-घट तथा सूत्र-वस्त्रके उदाहरण उत्तम उदाहरण हैं और जो विषय जैसा समझाना चाहिये, वैसा समझानेके लिये ये उदाहरण अत्यंत योग्य हैं। इस कारण हमारा कहना है कि इन सभी उदाहरणोंसे विश्वसृष्टि केवल भासरूप ही सिद्ध होती है ऐसा नहीं है। पर इनसे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म और सृष्टिका साथ साथ दर्शन होता है और यही बात सब विचारकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

ब्रह्म जैसा शाश्वत है वैसी विश्वसृष्टि भी शाश्वत और सनातन है। वह ब्रह्मका स्वभावधर्म होनेके कारण ब्रह्मके साथ सदा रहती है। जैसा सुवर्ण किसी न किसी आकारमें सदा रहता ही है, उसी तरह ब्रह्म भी उनका प्रकृतिरूप शरीर उनके साथ सदा रहनेके कारण किसी न किसी आकारमें सदा रहता ही है। ब्रह्म और प्रकृति ये दोनों कल्पनामें विभिन्न हैं, परंतु वस्तुरूपसे अभिन्न हैं। जैसा बताशा या पेडा नामकी वस्तु एक है। पर उसमें 'मीठास और घन भाग' ये दो भाव सदा पृथक् दीखनेपर भी सदा एक रूपमें रहते हैं। इसी तरह प्रकृति और परमात्मा सदा मिले जुले हैं और कदापि पृथक् होनेकी संभावना भी वहां नहीं है।

प्रकृति पुरुष साथ ही रहते हैं

प्रकृति-पुरुष, प्रकृति-आत्मा ये पृथक् पृथक् स्थानमें रहनेकी इच्छा करने लगे तो भी वह इनकी इच्छा सफल नहीं हो सकती। परमात्मा सर्वव्यापक होनेसे प्रकृतिमें रहता है तो वह प्रकृतिके साथ मिलकर ही रहता है। परमात्मा भी प्रकृतिको त्यागना चाहे तो वह उस प्रकृतिको रखे कहां? अपनेमें ही उसको रखना चाहिये। इसीलिये ये दोनों सदा मिले जुले रहते हैं और उनको वैसा रहना अपरिहार्य भी है।

इसी तरह परमात्माके गुण उत्पत्ति-स्थिति-लय ये सदा उनके पास रहते हैं। सदा उत्पत्ति भी होती रहती है, रक्षण भी होता रहता है और लय भी चल रहा है। इसलिये इस अपरंपार विश्वमें सदा ही परमात्मारूपी सुवर्ण किसी न किसी आकारमें या किसी न किसी आभूषणके रूपमें ही रहेगा। इसलिये परमात्माकी प्रकृति किसी न किसी आकारको लेकर ही रहेगी। संपूर्ण विश्वसृष्टिका नाश कदापि नहीं हो सकता। सुवर्ण किसी न किसी आकारमें ही सदा रहेगा। वैसा ही ब्रह्म और प्रकृतिके विषयमें समझना योग्य है।

परमेश्वरकी शक्ति

माया भी परमेश्वरकी अद्भुत रचना शक्तिका नाम है। परमेश्वर सदा सच्चिदानन्द स्वरूप है, वैसी ही कर्तृत्व

शक्ति भी सदा उसके साथ रहती है। वह रचना करती ही रहती है। मनुष्य थकता और सो जाता है वैसा परमेश्वर न थकता है और नाही सोनेकी उसको आवश्यकता है। कईयोंने उनके सोजानेकी कल्पना रोचक कथाएं रचनेके लिये की है। प्रलय भी जो होता है वह आंशिक होता है। एक स्थानपर प्रलय हुआ तो दूसरे स्थानपर उत्पत्ति भी होती रहती है। इसीलिये कहा है कि—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च। बृ० उ० २।३।१

'मूर्त और अमूर्त ब्रह्म है।' एक ही ब्रह्मके ये दो रूप हैं और ये साथ साथ रहते हैं। ब्रह्मके ये गुण धर्म ही हैं। ये दोनों उसके स्वभाव धर्म होनेसे ही सुवर्ण और भूषणके समान मूर्त ब्रह्म और अमूर्त ब्रह्म साथ रहता है इतना ही नहीं परंतु मूर्त और अमूर्त मिलकर ही अद्वितीय ब्रह्म होता है। पंच महाभूत पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश ये हैं। इनमें पहिले तीन दृश्य और दूसरे दो अदृश्य हैं। और ये पांचों ब्रह्मके अथवा आत्माके ही बने हैं। इनके ही ये रूप हैं।

तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्यो अन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। तै०

'आत्मासे आकाश, वायु, अग्नि, आप, पृथिवी, औषधि अन्न, रेत और मनुष्य हुए हैं।' इसीलिये सब विश्व ब्रह्मरूप है। जैसा आभूषण सुवर्णरूप होता है। वैसा ही विश्व ब्रह्मरूप ही है। यहां विश्वको दुःखरूप, क्षुद्र, गौण, नश्वर हेय आदि जो कहा जाता है वह बुद्धका मत है। यह वेदका सिद्धान्त नहीं है। चारों वेदोंमें २५००० मंत्र हैं, उनमें एक भी वचन ऐसा नहीं है कि जिससे इस बुद्धमतकी सिद्धि हो सके। बुद्ध पूर्व वैदिक सिद्धान्त था, बुद्धोत्तर, अवैदिक बुद्ध संप्रदाय उत्पन्न हुआ। सब पुराणोंने बुद्धके विषयमें ऐसा ही लिखा है कि "यह बुद्ध इसलिये हुआ कि वेद विरुद्ध भ्रांतिमय विचार चलाये जांय, और लोग वेद विरुद्ध मतमें फंसें।" किसी भी पुराण लेखकने बुद्धका गौरव नहीं किया है, यद्यपि सब दर्शनकारोंने बुद्धके मतका खंडन करनेके लिये बुद्धमतको स्वीकारा है, तथापि वह स्वीकार बुद्धमतके खंडनके लिये ही है।

शत्रुराज्यमें बुद्धिभ्रंश।

आर्योंने महाभारतमें बुद्धमतको स्थान दिया है। पर यह स्थान इसलिये नहीं दिया है कि यह मत आदरणीय है, परंतु शत्रुराष्ट्रमें यह मत फैलानेके योग्य है, ऐसा माना है। यह जगत् क्षणभंगुर और दुःखमय है यह मत शत्रुराष्ट्रमें फैलाया जाय, इससे शत्रु राष्ट्रके लोग ऐहिक अभ्युदयके विषयमें उदास बनें और उसको परास्त करना सहज हो जाय। इस कार्यके लिये यह बुद्धमत बडा ही उपयोगी है। भारतवर्षका नाश इस अवैदिक मतने गत दो सहस्र वर्षोंमें पर्याप्त किया है और इस समयमें भी बहुतसे पंडितोंको यह मत ही प्रिय लगता है। कौरव सम्राट् धृतराष्ट्रने यही भ्रान्तिमत पांडवोंको उपदेश करके पांडवोंको स्वराज्यप्राप्त्यर्थ युद्ध करनेसे पराङ्मुख करनेके लिये संजय द्वारा उपदेश किया था। महाभारतमें संजययान पर्व (उद्योग पर्व अ० २५-३२) देखिये। कौरवोंकी ओरसे यही नश्वरजगत्का उपदेश पांडवोंको हो रहा है। उद्देश्य यह है कि पांडव वीर इससे स्वराज्य प्राप्तिके प्रयत्न करनेसे पीछे हट जांय और कौरवोंका साम्राज्य शाश्वत टिके।

इस तरहका यह निराशावादका बुद्धमत हमारे भारत देशमें गत दो सहस्र वर्षोंसे सतत फैलाया जा रहा है और ऐहिक अभ्युदयके कार्योंसे जनताको पीछे हटाया जा रहा है। आज भी बडे बडे पंडित वेदान्त प्रवचनके मिषसे वेदान्तका तो प्रवचन नहीं करते, प्रत्युत अभ्युदयके कर्मसे जनताको विमुख कर रहे हैं। जिस लेखकका विचार हम यहां कर रहे हैं, वह लेखक भी न जानते हुए यही कर रहा है, जो मत शत्रुराष्ट्रमें फैलाना चाहिये उसी भ्रष्ट मतको भारत राष्ट्रमें फैला रहा है!!!

और वह लेखक लिखता है कि 'जगद्दुःखवाद और जगद्ब्रह्मवाद ये दोनों वेद प्रतिपादित हैं!' इस अज्ञानका हमें आश्चर्य प्रतीत हो रहा है। कृपा करके यह लेखक बतावे कि किस वेदमंत्रमें यह जगत् दुःखमय है ऐसा कहा है, अथवा मृगजलके समान केवल भासमात्र है ऐसा कहां, किस वेदमंत्रमें कहा है? न जानते हुए ऐसा अपसिद्धान्त वेदके सिरपर मढ देनेका अधिकार इस लेखकको किसने दिया है? बुद्ध पूर्वके किसी भी ग्रंथमें यह भ्रष्ट मत नहीं है। बुद्ध पूर्व वेदका आनन्द सिद्धान्त था, सब लोग उसीको मानते थे। बुद्धोत्तर कालमें

जगद्दुःखवाद और जगत्क्षणभंगुरवाद ये वाद निर्माण हुए और इन्होंने भारतको अभ्युदयके क्षेत्रोंमें सर्वथा परास्त किया है।

तीन प्रकारकी सत्ता

आगे लेखक लिखता है कि सत्ता तीन प्रकारकी होती है, (१) प्रातिभासिक, (२) व्यावहारिक (३) और पारमार्थिक। बहुत बडा लेख लिखकर इस विश्वकी सत्ता पारमार्थिक नहीं है और आभासमात्र भी नहीं है, केवल व्यवहारमें ही इस विश्वकी सत्ता है ऐसा इस लेखकने दर्शाया है। यह विश्व हीन है, गौण है, तुच्छ है, नश्वर है, विकारी है, ऐसे विश्वके लिये विशेषण इसने लगाये हैं और विश्वके विषयमें पाठकोंके मनमें हीन भाव स्थायीरूप से उत्पन्न करनेका पातक लेखकने किया है!! हम इन सब विशेषणोंका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं समझते। इस लेखकने वारंवार विश्वको 'विकारी' कहकर इस विश्वकी निंदा की है इसलिये इस विकारीपनका थोडासा विचार हम यहां करते हैं।

क्या विकारी होना बुरा है?

विकार छः है। (१) जायते (उत्पन्न होता है), (२) अस्ति (रहता है), (३) वर्धते (बढता है), (४) विपरिणमते (परिणत होता है), (५) अपक्षीयते (क्षीण होता है), (६) विनश्यति (विनाशको प्राप्त होता है)।

इनमेंसे कौनसा विकार बुरा है?

क्या जन्म बुरा है?

'जायते' (जन्मता है) यह विकार बुरा है? पुत्रका जन्म होनेसे जो आनन्द होता है वह क्या प्राणियोंको न मिले? फल उत्पन्न होते हैं, फूल उत्पन्न होते हैं। क्या यह सब बुरा है? बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, क्या यह बुरा है? बालकके मुखकी ओर देखनेसे जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द नहीं चाहिये? विकार नहीं होना चाहिये ऐसा जो कहते हैं, उससे कितना अनर्थ होगा। इसका विचार ये लोग करेंगे तो उनको जन्मका महत्त्व समझेगा और वे 'जन्म' नामक विकार मानवोंको आनन्द देनेवाला है यह जानकर बुद्धोंके समान जन्मका तिरस्कार नहीं करेंगे।

जन्मको पापमूलक बुद्ध मानता है। वैदिकधर्मी ऐसा नहीं मानते। यज्ञ करनेके लिये यहां जीव जन्म लेते हैं, शरीर धारण करके यज्ञ करते हैं और-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्
शतं समाः। वा० य० ४०।२

'मनुष्य जन्म लेकर यहां सौवर्षतक जीवित रहे और सौ वर्ष सत्कर्म, यज्ञरूप कर्म करता रहे।' यह वेदकी आज्ञा है। वेदकी दृष्टिसे जन्म यज्ञ करनेके लिये है, शुभ कर्म करनेके लिये है। सौ वर्ष यज्ञ करनेका अर्थ १२० वर्ष जीना है क्योंकि ८ वर्षका बालपन और १२ वर्षोंका विद्याध्ययन, मिलकर बीस वर्ष होते हैं। बीस वर्ष होनेपर विद्याध्ययन पूर्णतया होता है तब यह यज्ञ करनेका अधिकारी गृहस्थ होता है। इसके पश्चात् इसने १०० क्रतु १०० वर्षोंमें करने हैं। इस तरह शतक्रतु होनेसे इसके जन्मका सार्थक होता है। यह वैदिक महत्त्वाकांक्षा है। यहां १०० वर्ष जीना और परम पुरुषार्थ करना है। यहां जीवित रहनेका तिरस्कार नहीं है, जीवित रहनेका आनंद यहां है।

बुद्धमतमें रहनेवाले लोग भले ही जन्मका दुःख करते रहें, वैसा दुःख वैदिक धर्मीके पास नहीं है। यहां वैदिक धर्मी यज्ञ करता है, यज्ञद्वारा (१) श्रेष्ठोंका सत्कार, (२) जनताका संघटन और (३) पीडितोंकी या निर्बलोंकी उन्नति ये त्रिविध कर्म वह करता है और अपने जीवनका साफल्य करता है। वैदिक धर्मीके लिये जन्म अभीष्ट है, वह उसके आनन्दको बढानेवाला है, वह पुरुषार्थका साधन है। जन्म ही न हुआ तो जीव क्या करेगा।

स्त्री संबंधसे उपकार

बुद्धमतमें पुत्रोत्पत्ति करनेके लिये स्त्री संबंध करना भी बुरा है, क्योंकि बुद्धमतमें स्त्री संबंध पाप है! वैसा वैदिक धर्ममें नहीं है। यहां स्त्री संबंध ऋतुकालमें करना परोपकार करना है। स्त्री संबंध उपकारक है ऐसा वैदिक धर्म मानता है। मुक्त होनेवाले जीवोंको जन्म होनेके विना पुरुषार्थका साधन किस तरह करनेका अवसर मिल सकता है? यदि सभी स्त्री पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करेंगे तो मुक्त होनेवाले जीव किस तरह अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं? इस कारण जन्म होनेका अवसर देना यह गृहस्थ धर्मीके लिये वैदिक धर्मकी दृष्टिसे आवश्यक कर्तव्य है। बुद्धमत मूर्ख-

तासे स्त्री संबंध वर्ज्य करना चाहता है। यह योग्य भी नहीं और यह होनेवाली भी बात नहीं है।

इसीलिये जन्म आवश्यक है, जन्म मुक्तिका मार्ग खुला कर देता है, जन्म प्राप्त होनेसे नया देह मिलता है जिससे चतुर्विध पुरुषार्थ मनुष्य कर सकता है और अनन्त आनंद प्राप्त कर सकता है। अतः जन्म नामक विकार आवश्यक है और हितकारक है।

क्या अस्तित्व बुरा है ?

(जायते) जन्म होनेके पश्चात् दूसरी विकृति (अस्ति) है; अर्थात् अस्तित्वमें आना है। जन्मके पश्चात् प्रत्येक वस्तु अस्तित्वमें आती है। हम सब जन्मके पश्चात् यहां रहते हैं। क्या यह ' हमारा आस्तित्व ' रूपी द्वितीय विकृति नहीं चाहिये ? हां बुद्धमतके अनुसार उनको यह अस्तित्व भी नहीं चाहिये। पंचभूतोंका संघात टूट जाय यह उनकी इच्छा है। पर वैदिक धर्मी तो अतिदीर्घ जीवनतक यहां रहकर उस जीवनमें सबके उद्धारार्थ यज्ञ करना चाहते हैं। ' सौ वर्ष यज्ञ करते रहो ' यह वेदकी आज्ञा है। अर्थात् वेदकी दृष्टिसे अस्तित्व दीर्घकाल तक टिकाना है अतः वह आवश्यक है और मुक्तिकी साधना इसी जीवनमें हो। सकती है, इसलिये दीर्घ जीवन इष्ट भी है। अपना अस्तित्व ही नहीं चाहिये ऐसा पागल मनुष्य ही कहेगा। कोई बुद्धिमान अपने अस्तित्वका नाश करना नहीं चाहेगा। विकारी होनेसे विश्व त्याज्य नहीं हो सकता क्योंकि विश्व है इसी लिये मानव उसमें रहते हैं और परम पुरुषार्थ करते हैं।

क्या बढना नहीं चाहिये

(वर्धते) बढता है, यह ' बढना ' तीसरी विकृति है। क्या यह बुरी है। क्या बढना नहीं चाहिये। विकार ही नहीं चाहिये ऐसा जो कहते हैं, उनके घरमें यदि लडका उत्पन्न हुआ और वह बढने न लगा, तो उनको कितना दुःख होगा, इसका विचार वे करें। घरमें उत्पन्न हुआ बालक दसबीस वर्ष न बढता हुआ वैसा ही पहिले दिन जैसा ही रहा तो वह दुःखका हेतु बनेगा। बढता रहता है इस कारण ही वह माता पिता आदिकोंको सुख देता है। हरएक स्थानपर (वर्धते वर्धन) बढनेकी आवश्यकता है। धर्मका राज्य बढना चाहिये, विद्या बढनी चाहिये, धन बढना चाहिये, शक्ति बढनी चाहिये। वृक्ष बढने चाहिये। यह सब बढना चाहिये। विचार करके देखिये दयालु परमेश्वर है इसलिये उसने बढनेकी विकृति अत्यंत उपयोगी होनेके कारण इस विश्वमें रखी है। विकृति कहने मात्रसे विश्व त्याज्य नहीं हो सकता। मनुष्यको विश्वमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह बढनेसे प्राप्त होता है। रोग होनेसे बढना बंद होता है। बढनेकी विकृति न रही तो रोगका दुःख भोगना पडता है। जगत् विकारी होनेसे त्याज्य नहीं हो सकता। छः विकारोंमें बढनेका विकार निःसंदेह आनन्द देनेवाला है। इससे परमेश्वरकी अतुल कृपा ही प्रकट हो रही है।

क्या परिपक्क होना बुरा है ?

(विपरिणमते) परिपक्क होना, विशेष परिणामतक पहुंचना अच्छा है, आमका फल बढता है और परिपक्क होता है। पुत्र बढता है विद्वान होता है और बुद्धिसे परिपक्क हो जाता है, यही सबको आनंद देता है। यह चौथा विकार है यह निःसंदेह उत्तम और हितकारी है। किसीकी बाग है और उस बागके फल परिपक्क नहीं होते; तो वह बाग किस कामकी होगी ? वह तो तोड देने योग्य होगी। हरएक स्थानमें परिपक्कता उपयोगी है, हितकारिणी है।

क्षीण होना और नाश होना

पांचवां विकार क्षीण (अपक्षीयते) होना है और छठा विकार (विनश्यति) विनाश होना है। क्षीण होना और विनाश होना इनकी आवश्यकता इसलिये है कि शरीरकी कार्यक्षमता कम होती जाती है, ऐसा क्षीण शरीर नष्ट हुआ तो ही अच्छा है। दस दस हजार वर्षोंके क्षीण और जर्जर हुए मनुष्य अगर यहां रहते, तो वह एक राष्ट्रपर बडी विपत्ति हो जाती। मनुष्य मरते हैं इसीलिये नये उत्पन्न होते हैं, नये शरीर धारण करके मनुष्य पुनः आते हैं। न मरनेकी अवस्थामें नया शरीर मिलनेका आनंद कैसा मिल सकता है ? अस्तु इस तरह देखनेसे विचार करनेवाले सूज्ञ लोग उसी क्षण जान सकते हैं कि ये छहों भाव विकार आनन्द दायक हैं। परम कारुणिक प्रभुने ये इस विश्वमें इसलिये रखे हैं कि इनसे मनुष्य अपना लाभ प्राप्त करें और आनंद उठाते हुए इन्हींकी सहायतासे परम धाम तक पहुंचें। विश्वमें विकार है यह परमेश्वरका अद्भुत

कौशल्य है। विश्वरूपी ईश्वरके अपने ही ये धर्म हैं। इनको कौन बुरा कह सकता है !

हम जानते हैं कि बुद्धमतमें तथा बुद्धोत्तरके दार्शनिकोंने बुद्धमतके प्रभावके कारण विकारोंको बहुत बुरा करके वर्णन किया है। विश्व वा जगत् विकारी है, इसीलिये यह तुच्छ है, या गौण है, यह बुद्धके छापकी कुविचार परंपरा है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म है, तो ये विकार भी ब्रह्मके ही भाव हैं और जो ब्रह्मके भाव हैं वे सबके सब आनन्दमय ही हैं। यहांसे आनन्द कैसा लेना यही तो यहां सीखना है। यह विधि विदित होगई तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भरा है ऐसा अनुभव क्षण क्षणमें आ जायगा।

ईश्वरका बीज

ईश्वरका बीज या वीर्य प्रकृतिमें आगया और इससे सब विश्व उत्पन्न हुआ है। बलवान पुरुषके वीर्यसे बलवान पुत्र होता है, अच्छे आमकी गुठलीसे अच्छा आमका वृक्ष होता है। परमेश्वरमें सब प्रकारके शुभ गुणोंकी पराकाष्ठा है। इसलिये उसके वीर्यसे बना हुआ यह विश्व उत्तमसे उत्तम ही है। परमेश्वरका वीर्य रोगसे दूषित है ऐसा कोई नहीं कह सकता। इसलिये परमेश्वरका वीर्य निर्दोष ही है ऐसा ही सब कहेंगे। फिर ऐसे उत्तम वीर्यसे दुःखमय संसार कैसा हुआ? ऐसा मानना ही असंभव है। जो ईश्वरको नहीं मानते वेही विश्वको दुःखदायी मानते हैं। ईश्वरके वीर्यसे सृष्टिकी उत्पत्ति माननेवाले कदापि सृष्टिको सदोष नहीं कह सकते। वैसा देखा जाय तो इस विश्वमें दोष है ही नहीं। देखिये भगवान श्रीकृष्ण क्या कहते हैं–

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
अहं बीजप्रदः पिता। भ. गी. १४।३

"प्रकृतिके गर्भमें मैं अपना बीज रखता हूं, उससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। मैं बीज देनेवाला पिता हूं।"

परमेश्वर सब विश्वका बीज देनेवाला पिता है। परमेश्वरके बीजका ही विस्तार होकर यह सब विश्व बना है अतः कहा है कि—

पूर्णं अदः, पूर्णं इदं, पूर्णात् पूर्णं उदच्यते।
ऐ० ब्रा०

'वह ब्रह्म पूर्ण है, यह विश्व भी पूर्ण ही है, क्योंकि पूर्ण ब्रह्मसे पूर्ण विश्व उत्पन्न हो सकता है।' पूर्ण पर ब्रह्मसे अपूर्ण दुःखदायी पदार्थ कैसा उत्पन्न होगा? अतः विश्वको दुःखपूर्ण कहनेवाला बुद्धमत सर्वथा अवैदिक, अनुभव शून्य अतः तत्काल त्याज्य है। अनुभव देखिये, इस सृष्टिमें पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य चन्द्र तारागण आदि पदार्थ हैं। ये स्वयं आकर किसीको कष्ट देते हैं ऐसा कदापि नहीं होता। नियमोंके प्रतिकूल वर्ताव मनुष्य करता है, इसलिये मनुष्य दुःखी होता है। अतः यह मानवका दोष है, उस विश्वका दोष नहीं। जलेबी अधिक खानेसे अजीर्ण हुआ तो वह जलेबीका दोष नहीं है, परंतु इस खानेवालेका वह दोष है। यही अनुभव सर्वत्र है।

बीज और वृक्ष

बीजसे वृक्ष होता है। आमके बीजसे आमका वृक्ष हुआ है। जो शक्तियां बीजमें गुप्त थीं वेही शक्तियां वृक्षमें प्रकट हुई हैं। बाहरसे कुछ भी वहां आया नहीं है। बीजमें शाखा, टहनियां, पत्ते, फूल, फल आदि सब अंशरूपसे था, वही वृक्षमें प्रकट हुआ है। इसलिये वृक्षकी सेवा करनी चाहिये और लाभ उठाना चाहिये। ऐसा न करता हुआ यदि उद्यानका स्वामी उस आम्र वृक्षको दुःखदायी, नश्वर, कष्टदायी मानकर बीजको ही प्राप्त करनेके लिये नीचेकी भूमि खोदने लगेगा, तो वह आदमी पागल बना है ऐसा ही सब सुज्ञ विद्वान् मानेंगे। इसका कारण यही है कि जो बीजमें था वह तो बीजमें गुप्त था, वही वृक्षमें प्रकट हुआ है, बीज तो अब रहा भी नहीं। बीज ही वृक्षाकार हुआ है इसलिये वृक्षकी सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिये, इसीसे सब प्रकारका लाभ है। वृक्षकी सेवा न करते हुए जो बीजका ध्यान करेगा और वृक्षको हीन दीन गौण समझकर दूर करेगा, उसको बीज तो मिलेगा नहीं, परंतु वृक्ष भी उसकी उपेक्षाके कारण नष्ट हो जायगा।

यही दृष्टि यहां लगाइये। परमेश्वरका बीज प्रकृतिमें रखा गया, जिसका यह संसार वृक्ष हुआ है। परमेश्वरके बीजमें जो अनेक विध शक्तियां थीं, वह सब शक्तियां यहां नाना पदार्थोंके रूपोंसे प्रकट हुई हैं। परमेश्वरकी संपूर्ण शक्तियां आनंद देनेवाली हैं, इस कारण विश्वके पदार्थ आनन्द देनेवाले ही हैं। बुद्धमतमें जो माना गया है कि

यह विश्व दुःखमय है। वह विचार ही असत्य है। क्योंकि ब्रह्मबीजमें कोई ऐसा दोष नहीं कि जिस कारण यह सृष्टि दुःखदायिनी बन जाय। ब्रह्ममें जो गुप्त शक्ति थी वही यहां प्रकट हुई है। इसलिये शुद्ध ब्रह्मकी अपेक्षा विश्व ही अधिक लाभदायक है। जिस तरह बीजकी अपेक्षासे वृक्ष लाभदायक होता है, वैसा ही ब्रह्मकी अपेक्षासे विश्वसृष्टि अधिक लाभदायिनी और अधिकसहायिका है। बुद्धमतसे भ्रांत हुए मनुष्य अज्ञानसे वेष्टित होजानेके कारण इस विश्वको तुच्छ और गौण मानते हैं और अप्राप्य ब्रह्मके पीछे पडते हैं। परमेश्वर स्वयं अतुल दयासे विश्वरूप बना है, इसलिये कि उस विश्वसे लोग अपना अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त कर आनंद प्रसन्न बनें। यह ईश्वरकी दया है।

बुद्धने इसको समझा नहीं। वह तो ईश्वरको ही मानता नहीं था, फिर ईश्वरके बीजसे सृष्टिकी उत्पत्ति माननेकी बात तो दूर ही है। वह तो सृष्टीको पंचभूतोंका जड संघात मानता था। सच्चिदानन्द प्रभुका रूप यह विश्व है इसका तो उसको ज्ञान भी नहीं था। फिर उसने सृष्टीको दुःखमय न मानना कैसे हो सकता है ? निरीश्वरवादी ऐसा ही मान सकता है।

परंतु जो प्रभुको सर्वत्र व्याप्त मानते हैं और प्रभुके बीजका ही यह विश्वविस्तार हुआ है ऐसा मानते हैं, वे बुद्धके जगद्दुःखवादको किस तरह अपनाते हैं ? यह एक आश्चर्य है !!!

यह निश्चय है कि परमेश्वर सर्व शुभगुणोंका आकर है, उसके बीजमें वेही शुभ गुण हैं। इन शुभ गुणोंका ही संक्षिप्त नाम 'सच्चिदानंद' है। परमेश्वर है और वह सच्चिदानन्द है। उसके बीजमें भी सत् चित् और आनन्द हैं। बीजके विस्तारका अर्थ ही सत् चित् आनन्दका विस्तार है। अतः परमात्मबीजसे सृष्टि होनेके कारण वह आनन्द पूर्ण है।

परमेश्वरके बीजमें दोषोंकी संभावना नहीं है। इसलिये उस बीजका विस्तार होकर बननेवाले इस विश्वमें किसी तरह दोष, दुःख, कार्पण्य, क्लेश, हीनता आदि होनेकी संभावना है ? क्योंकि—

आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति।

'आनन्दसे निश्चयसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही ये जीवित रहते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही जाकर मिलते हैं।' इस तरह उत्पत्ति स्थिति लयमें आनन्द ही आनन्द है। इसका अनुभव करना चाहिये। इसके विपरीत जो बोलना है वह अवैदिक है और पूर्णतया अज्ञान है और आध्यात्मिक दृष्टिसे अत्यंत हानि कारक भी है। परमेश्वर पर विश्वास रखनेवाले परमेश्वरके ही सामर्थ्यको दोषयुक्त मानने लगते हैं और साथ साथ हमने वेदान्तके बडे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ऐसी भी घमंड करते हैं !!!

यह लेखक लिखता है कि 'आत्मदृष्टिसे जगत् अति तुच्छ है। ज्ञानदृष्टिसे जगत् ब्रह्मरूप है।' इस लेखसे पाठक क्या माने और क्या समझे ? यदि ज्ञान दृष्टिसे जगत् ब्रह्मरूप है तो वही ब्रह्मरूप जगत् किस तरह अतितुच्छ हो सकता है ?

एक ही लेखके स्तंभमें एक ही लेखनीसे "जगतको ब्रह्मरूप" और "अतितुच्छ" मानने और लिखनेवालेके विषयमें हम क्या कहें ? ब्रह्मरूप जगतको ही अतितुच्छ माननेका अर्थ ब्रह्मको ही अतितुच्छ माननेके समान प्रमत्त प्रलाप हैं। ऐसे लेखको पढकर पाठक क्या विश्वको ब्रह्मरूप माने या अतितुच्छ माने ? और पाठक क्या बोध लें ?

हमारा निवेदन यह है कि भारतवर्षमें (१) एक वैदिक विचार प्रवाह है, इसकी समाप्ति बुद्धकालमें हुई है, (२) इसके पश्चात् बुद्धमतकी विचारप्रणाली उत्पन्न हुई है। बुद्धपूर्वके ग्रंथ वेद- (मुख्य) उपनिषद्=रामायण—महाभारत-गीता ये हैं। इनमें भी अर्थात् महाभारतमें बुद्धमतका समावेश पीछेसे किया गया है। इसको हम विवेककी दृष्टिसे जान सकते हैं। परंतु महाभारतकारने इस बुद्धमतका प्रयोग शत्रुराष्ट्रको निराशावादी विचार प्रवाहसे हतबुद्ध करनेके कार्यके लिये खासकर रख दिया है। यह उसकी सावधानता प्रशंसनीय है। ये ग्रंथ ही आर्य धर्मके, मानव धर्मके अथवा वैदिक धर्मके आधार ग्रन्थ हैं।

बुद्धोत्तर विचारधाराके सेंकडों ग्रंथ हैं। इनमें जगत् दुःखमय है, क्षणभंगुर है, ऐसे निराशावादी विचार प्रवाह हैं। कई तो यहांतक गये हैं कि यह विश्व एक कल्पना मात्र है वस्तु दृष्टिसे इसको अस्तित्व ही नहीं है ऐसा भी वे मानते हैं। जगत्का अस्तित्व मानव बुद्धिमें है वस्तुतः वहां कुछ भी नहीं है। भले ही वे ऐसा माने।

हमें यह समझना चाहिये कि ये दो मुख्य विचार प्रवाह हैं और ये दोनों प्रकाश और अन्धकारके समान परस्पर विरुद्ध हैं। गत दो सहस्र वर्षोंमें भारत देश इस बुद्धमतके अज्ञानमें फंसा है। जगतको भ्रम मानकर अपने जगद्विषयक कर्तव्यसे पूर्णतया भारत परांङ्मुख हुआ है। जगतको दुःख माननेवाला एक ही बुद्ध हुआ ऐसी बात नहीं, अन्यान्य संप्रदाय भी इनमें शामील हैं। इन सबका प्रतीक बुद्धमत है ऐसा समझिये।

वैदिक विचारधारासे विश्वसृष्टि परमेश्वरका साक्षात् दृश्य और संसेव्य रूप है। विश्वसेवा करना ही एक मात्र मानवकी उन्नतिका साधन मार्ग है। विश्वसेवासे परांङ्मुख होना ही ईश्वरसेवाको भूलना है। गत दो हजार वर्षोंमें भारतने इस वैदिक-मार्गका अवलंबन नहीं किया है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये परमेश्वर शरीरके अवयव हैं, पशु पक्षी वृक्ष वनस्पति भी उसके शरीरके भाग हैं इनकी सेवा होनी चाहिये। यही सेवा यहां नहीं हो रही है। गीतामें कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

गीता १२।५

'अव्यक्तमें जो अपना चित्त लगाते हैं उनको अधिक क्लेश होता है।' इसलिये व्यक्त ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये। यह व्यक्त भक्ति ऊपर दिये विश्वरूपी ईश्वरकी ही भक्ति है। इस प्रत्यक्ष ईश्वरको छोडकर, अथवा उसको तुच्छ कहकर जो अन्य कार्यमें लगे रहते हैं, उनके उद्धारका कोई संभव भी नहीं है।

इसलिये यह सब विश्वसृष्टि या जगत् भ्रम नहीं है, मिथ्या नहीं है, मनःकल्पित नहीं है, मृग जलवत् आभास मात्र नहीं है, परंतु सुवर्णके आभूषणोंके समान वह ब्रह्मका ही प्रत्यक्ष रूप है। ब्रह्मका स्वभाव ही विश्वाकार होकर विराजना है, अपने अन्दरकी गुप्त शक्तियां विकसित करना यह ब्रह्मका स्वभाव ही है। यह उसका स्वभाव होनेके कारण उससे वह स्वभाव दूर नहीं हो सकता। परम कारुणिक परमात्माने इस विश्वमें भरपूर आनन्द फैलानेके लिये विश्वरूपमें स्वयं आत्मसमर्पण किया है। यही परमेश्वरका सर्वमेध यज्ञ है। विश्वकी निर्मिती यह परमात्माकी अपार दया है, यह उसका अपार आनन्द है। जैसा परमात्माने यह आत्मयज्ञ किया है वैसा ही विश्व कल्याणका कार्य बढानेके लिये विश्वसेवाके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिये, यह मानवकी उन्नतिका मार्ग है।

बुद्धमत आदि अज्ञानजन्य मतोंका त्याग करना और वेद प्रतिपादित सत्य मानव धर्मका आश्रय करना ही सबको योग्य है। इसीसे सबकी उन्नति हो सकती है।

प्रश्न

१ किस कालमें कौनसा मत प्रचलित हुआ यह जाननेसे क्या लाभ हो सकते हैं ?

२ 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' का सत्य अर्थ क्या है ? और इससे लोग क्या मानने लगे हैं ?

३ रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, सुवर्ण-भूषण, मृत्तिका-पात्र, सूत्र-वस्त्रके उदाहरणोंसे क्या बताया गया है ? इनमें कौनसे उदाहरण सत्य सिद्धान्त बताते हैं ? प्रत्येक उदाहरणसे किस सिद्धान्तका प्रतिपादन हुआ है ?

४ 'विश्व इन्द्रका रूप है,' इसका वेदवचन देकर उसका अर्थ और स्पष्टीकरण कीजिये।

५ 'माया' का अर्थ क्या है ?

६ 'तत् एव अग्निः' का अर्थ क्या है ?

७ ब्रह्म विश्वरूप हुआ इसका आशय क्या है ? इस विश्वका ब्रह्मरूप होना वेदादि वचनोंसे सिद्ध कीजिये ?

८ विश्वको ब्रह्मरूप मानकर व्यवहार किस रीतिसे होगा यह समझाइये ?

९ विश्वको त्याज्य, हीन, दुःखमय माननेसे मानवोंके आचरणोंपर कौनसा परिणाम हुआ है ?

१० शरीरको ऋषि आश्रम अथवा देवमंदिर माननेसे कौनसे लाभ होते हैं ?

११ शरीरमें कौन देव कहां रहते हैं ?

१२ संपूर्ण पृथ्वीपर एक राज्य करनेकी घोषणा किसने प्रथम की ? इससे क्या लाभ है ?

१३ धनुर्धारी रामचन्द्रकी उपासना किसने किस शताब्दीमें शुरू की, इसका परिणाम क्या हुआ ?

१४ हनुमानकी उपासनाका परिणाम क्या हुआ ?

१५ 'एक सत् है' ऐसा बतानेवाले उपनिषदोंके पांच वचन देकर उनका अर्थ बताइये।

१६ यह सब भगवानका रूप है ऐसा कहनेवाला गीताका वचन देकर उसका अर्थ बताइये।

१७ ऋग्वेदमें कहे ईश्वरके रूपमें सब मानवोंका समावेश होता है यह बतानेवाला वेदमंत्र देकर उसका अर्थ बताइये, तथा ऐसा माननेसे मानवोंका धर्म कौनसा निश्चित होता है यह भी बताइये।

१८ विश्वसृष्टिमें परमेश्वरका शरीर कैसा है यह स्पष्ट कीजिये।

१९ प्रकृति पुरुष संयुक्त और विभक्त किस तरह हैं यह स्पष्ट रीतिसे बताइये।

२० मूर्त और अमूर्त ब्रह्म है इसको समझाइये।

२१ शत्रुराज्यमें कौनसा मत फैलाया जाय और वह क्यों ?

२२ क्या विकार बुरे हैं या अच्छे हैं ? क्यों ?

२३ स्त्रीसंबंध किस तरह उपकारक होता है ?

२४ ब्रह्मबीजसे विश्ववृक्ष हुआ है इस ज्ञानसे कौनसे लाभ हो सकते हैं ?

२५ आनन्दसे सृष्टि उत्पन्न होती है इस ज्ञानको माननेसे क्या फल होगा ?

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान है। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?

छप रहे हैं।

१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य ;

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला - सोलहवाँ व्याख्यान

ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया ?

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया ?

वेदकी रक्षाका प्रश्न आज भी हमारे सामने है। पर आज केवल वेदके अक्षरोंकी सुरक्षा उतनी कठिन नहीं है, जितनी प्राचीनकालमें कठिन थी। आज एक बार अच्छा और शुद्ध कंपोज तैयार करके उसके 'स्टीरियो ब्लॉक्स' बनवाये, अथवा उसी कंपोजसे 'इलेक्ट्रोके ब्लॉक्स' बनवाये, किंवा छपनेके पुस्तकके पत्रोंसे फोटोग्राफीकी सहायतासे 'ब्लाक' बनवाये, तो अक्षर-ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-उदात्तादि स्वर-व्यंजन-मात्रा, पद आदिकी उत्तम सुरक्षा हो सकती है। आज जो युक्तियां हमारे पास हैं, उनके द्वारा यह सब हमारे लिये आसान है। सम्पूर्ण ऋग्वेदके ऐसे ब्लाक ५०,०००) रु० के व्ययसे बन सकते हैं और शेष तीनों वेदोंके ब्लाक भी इतने ही व्ययसे हो सकते हैं। आज इतना व्यय कोई नहीं करता है, यह वैदिक धर्मियोंकी उदासीनताका दोष है। पर चारों वेदोंकी रक्षाके लिये एक लाख रु० का व्यय करना कोई बडी भारी बात नहीं है।

स्वध्याय--मण्डलने शुद्ध वेद छापे हैं, और पृष्ठोंके फोटो लेकर ब्लाक करवानेकी मनीषा रखी है। हमारे पास इस कार्यके लिये ३०,०००) की रकम आ भी गयी है, पर यह अपूर्ण है इसलिये यह कार्य नहीं हो सका। इस विषय में कई लोग यह पूछते हैं कि, ब्लाकोंमें अशुद्धि रही, तो फिर क्या किया जायगा ? इसका सरल उत्तर यह है कि, प्रथम पुस्तक शुद्ध होनेपर ब्लाकोंमें अशुद्धि नहीं होगी। परन्तु मनुष्यकी आंख हैं, यदि प्रयत्न करनेपर भी ऋग्वेदके हजार ब्लाकोंमेंसे ४०--५० ब्लाकोंमें कुछ अशुद्धि प्रतीत हुई, तो उन ४०--५० ब्लाकोंको तोडकर, नये शुद्ध ब्लाक बनवाये जा सकते हैं। यह कोई ऐसी बात नहीं कि, जो न होनेवाली है और वेद जैसे जगद्वन्द्य धर्मपुस्तककी सुरक्षाके लिये ऐसा ही उपाय करना चाहिये। जो आज सहजहीसे हो सकता है कोई करे या न करे, यह समझने न समझनेकी बात है।

ऐसी सुविधा प्राचीन कालमें नहीं थी। आज दूसरी भी एक सुविधा है, वह यह कि शुद्ध कंपोज करके उसपर से हजारों ग्रन्थ जैसे आज छापे जा सकते हैं, वैसी बात प्राचीन समयमें नहीं थी। एक एक ग्रन्थ हाथसे लिखनेमें तथा उसे शुद्ध करनेमें जो कष्ट होते थे, वे कल्पनासे भी आज नहीं जाने जा सकते। ऐसे संकटोंके समयमें प्राचीन ऋषिमुनियोंने वेदकी सुरक्षा की, यह कार्य उन्होंने कितने परिश्रमोंसे किया होगा, यह बात हरएक वैदिकधर्मी मनुष्यको आज भी जानने योग्य है। इस विषयमें वेदकी सुरक्षाके लिये प्राचीन ऋषियोंने कैसे यत्न किये थे, इस विषयमें प्राचीन पुस्तकोंमें कुछ वचन मिले हैं, वे इस लेखद्वारा पाठकोंके सन्मुख रखने हैं। इससे पाठकोंको स्पष्ट रीतिसे पता लग जायगा कि, वेदरक्षाके लिये कितना प्रयत्न किया जाता था, और वेदके अक्षरोंकी सुरक्षा कितनी मेहेनतसे ऋषियोंने की थी। देखिये—

भगवान् संहितां प्राह, पदपाठं तु रावणः।
बाभ्रव्यर्षिः क्रमं प्राह, जटां व्याडीरवोचत् ॥१॥
मालापाठं वसिष्ठश्च, शिखापाठं भृगुर्व्यधात्।
अष्टावक्रोऽकरोद्रेखां, विश्वामित्रोऽपठद् ध्वजम् ॥२॥
दण्डं पराशरोऽवोचत्, कश्यपो रथमब्रवीत्।
घनमत्रिर्मुनिः प्राह, विकृतीनामयं क्रमः ॥३॥

—मधुशिक्षायां मधुसूदनमुनिः

"भगवान्‌ने वेदोंकी संहिता कही, रावणने पदपाठ किया, बाभ्रव्य ऋषिने क्रमपाठ का प्रचार किया, (१)

जटापाठ व्याडीने शुरू किया, (२) वसिष्ठ ऋषिने मालापाठ किया, (३) भृगु ऋषिने शिखापाठ शुरू किया, (४) अष्टावक्र ऋषिने रेखापाठ की पद्धति शुरू की, (५) विश्वामित्र ऋषिने ध्वजपाठ शुरू किया, (६) पराशर ऋषिने दण्डपाठ किया, (७) कश्यप ऋषिने रथपाठ की प्रणाली शुरू की, (८) अत्रि मुनिने घनपाठ शुरू किया।

इस तरह संहिता, पद और क्रमके आश्रयसे इन आठ विकृतियोंके पाठोंकी प्रणाली इन आठ ऋषियोंने शुरू की। यह सब करनेका कारण यही था कि, ऐसे पाठ होनेसे और पदोंके आगेपीछे पठन होनेसे एक भी अक्षर आगेपीछे नहीं किया जा सकता। यदि अक्षरोंका हेरफेर हो जाय, पद आगेपीछे बन जायंगे, तो किसी न किसी समय इन विकृतियोंके पाठोंमें वह हेरफेर करनेवाला पकडाही जायगा और उसकी निन्दा सब वेदपाठियोंमें हो जायगी। इस तरह वेदपाठकी रक्षाका यत्न इतने यत्नसे इन ऋषियोंने किया था।

संहितापाठकी पद्धति।

संहिता-पाठकी पद्धति भी एक विशेष पद्धति है, जो इस समय महाराष्ट्रमें ही उत्तम रीतिसे प्रचलित है। यद्यपि यह लुप्तप्रायसी हो रही है, तथापि महाराष्ट्रमें इस समयमें भी दशग्रन्थी घनपाठी विद्वान् सौ डेढ सौ मिल सकते हैं। इतने विद्वान् अन्य प्रान्तोंमें नहीं हैं। ऋग्वेदको आमूलाग्र कण्ठ करनेवाले इस समय महाराष्ट्रीय ही हैं। यह एक महाराष्ट्रके लिये भूषण है। पर यह भूषण आगेके ५० वर्षोंमें रहेगा, ऐसी आशा हमें नहीं है।

मंत्रका व्युत्क्रम और सरल पाठ।

संहितापाठमें दो प्रकारका पाठ किया जाता है। एक सरल मंत्रोंको कण्ठ करना और सरल क्रमसे पढना। यह तो सरल है और ऐसा सरल पाठ करनेवाले बहुतमिलते भी हैं। परन्तु इसमें मंत्रोंका व्युत्क्रम करनेवाले बहुतही थोडे होते हैं। यह कार्य बडा कठिन है और मंत्रोंकी अच्छी उपस्थितिके बिना तथा विशेष स्मरणशक्तिके विना यह व्युत्क्रम-पाठ नहीं हो सकता।

मंत्रोंका सरल क्रमशः पाठ करनेको 'संहितापाठ' कहते हैं, और मंत्रोंको विरुद्ध क्रमसे बोलनेको 'संहिताका व्युत्क्रमपाठ' कहते हैं। जैसा ऋग्वेदके प्रथम सूक्तमें ९ मंत्र हैं, उनको १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ ऐसे क्रमसे पाठ करनेका नाम 'संहितापाठ' है और ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ ऐसे उलटे क्रमसे पाठ करनेका नाम 'संहिताका व्युत्क्रमपाठ' है। यह व्युत्क्रमपाठ बहुत ही अद्वितीय स्मरणशक्तिवाले ही कर सकते हैं। हर एकसे यह कार्य नहीं हो सकता। एक सूक्तके मंत्र भी उलटे क्रमसे बोलना सहज नहीं हैं, फिर अनुवाक्, अध्याय, मण्डल आदिके मंत्रोंको उलटे क्रमसे बोलना कितना कठिन होगा, इसका विचार विद्वान लोक ही कर सकते हैं। परन्तु हमने ऐसे व्युत्क्रमपाठी विद्वान देखे हैं और ऋग्वेदका मुद्रण जिस अद्वितीय विद्वानके अधिष्ठातृत्वमें हो रहा है, वे वेदमूर्ति सखारामभट्टजी ऐसे ही उत्तम वेदके व्युत्क्रमपाठी विद्वान् हैं। सूक्तके सूक्त जैसे सरल क्रमसे वे बोलते हैं, वैसे ही उलटे क्रमसे भी विना प्रमाद किये बोलते हैं!!!

अर्धर्चपाठः।

मंत्रपाठमें और एक पद्धति है, आधा मंत्र एक बोले और अगला आधा मंत्र दूसरा बोले। ऐसा करनेके समय पहिलेका आधा मंत्र समाप्त होनेके पूर्व ही दूसरेको अगले आधे मंत्रका प्रारम्भ करना होता है। इस तरहका पाठ करनेके लिये आधे मंत्र एक एक छोडकर स्मरणमें रखने पडते हैं। विना ऐसा स्मरण रहे, अगला चरण स्मरण नहीं हो सकता।

इस तरह संहितापाठमें क्रम और व्युत्क्रम तथा अर्धर्च पाठ ये तीन प्रकारके पाठ आज भी महाराष्ट्रमें प्रचलित हैं।

पदपाठकी पद्धति।

मंत्रोंका पदपाठ है, यह सब जानते हैं, परन्तु मंत्रपाठ और पदपाठमें थोडा हेरफेर भी है। जो 'पदसमूह' एक बार किसी पूर्वमंत्रमें आया होता है, वह पदसमूह फिर पदपाठमें नहीं बोला जाता। इसको 'गलित-पदसमूह' कहते हैं। जिस समय वेदका पदपाठ बोला जाता है, उस समय इन दुबारा आये गलित पदसमूहोंको बोलते नहीं

हैं। इस नियमको बडी सावधानीसे स्मरण रखना पडता है। संहिता तो सब मंत्रोंकी यथाक्रम बोली जाती है, परन्तु पदपाठमें द्विरावृत्त अर्थात् दुबारा आया पदसमूह बोला नहीं जाता। इससे एक लाभ यह होता है कि, दुबारा तिबारा कौनसे पद कहां आये हैं, वे संपूर्ण संहितामें कितनी बार आ गये हैं, इसका स्मरण इस परिपाटीसे सहजहीसे होता है। इसलिये जो पदपाठी विद्वान होते हैं, उनको पुनरुक्त मंत्रभागोंका पता उत्तम रीतिसे रहता है।

पदपाठमें दूसरी एक विशेषता है। संहितापाठके क्रमसे पदपाठका क्रम क्वचित् स्थानपर विभिन्न होता है, वहां कुछ व्युत्क्रमसा होता है, जैसे—

पदपाठकी भिन्नता।

संहिता-पाठ	पदपाठ
इन्द्रावरुण वामहं	इन्द्रावरुणा। वां। अहं। मं० १।१७।७
न्याविध्यत्	नि। अविध्यत्। मं० १।३३।१२
न्यावृणक्	नि। अवृणक्। मं० १।१०१।२
अगादारैगु	अगात्। अरैक्। उँ इति। मं. १।११३।२
अभ्यादेवं	अभि। अदेवं। मं० २।२२।४
आसता सचन्तां	असता। सचन्तां। मं० ४।५।१४
शुनश्चित् शेपं	शुनःशेपं। चित्। मं० ५।२।७
स्वधितीव	स्वधितिः। इव। मं० ५।७।८
वरुणेळासु	वरुण। इळासु। मं० ५।६२।५
,,	वरुणा। इळासु। मं० ५।६२।६
इत्था देव	इत्था। देवा। मं० ५।६७।१
धिष्ण्येमे	धिष्ण्ये इति। इमे इति। मं० ७।७२।३
अश्वेषितं	अश्वऽइषितं। मं० ८।४६।२८
रजेषितं	रजःऽइषितं ,,
शुनेषितं	शुनाऽइषितं ,,
नकिरादेव	नकिः। अदेवः। मं० ८।५९।२
षड्भूम्या ददे	सत्। भूमिः। आ। ददे। मं० ९।६१।१०
बृहस्पते रवथेन	बृहस्पतेः। रवथेन। मं० ९।८०।१
नरा च शंसं	नराशंसं। च। मं० ९।८६।४२
नरा वा शंसं	नराशंसं। वा। मं० १०।६४।३
चित्कंभनेन	चित्। स्कंभनेन। मं० १०।१११।५

इस तरह वेदोंमें क्वचित् संहितापाठसे पदपाठ भिन्न है, केवल व्याकरणसे ही यह पदपाठ सिद्ध नहीं हो सकता। जो पाठक व्याकरणके नियम जानते होंगे, उनको कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि, किस तरह यह पदपाठ भिन्न है। इसीलिये वैदिकोंको संहितापाठके समानही पदपाठ भी कण्ठ ही करना होता है। और वेदपाठी संहितापाठके समान पदपाठको भी कण्ठ ही कर देते हैं॥

पदोंकी तीसरी विशेषता

पदपाठकी दो विशेषताएं पूर्वस्थानमें बतायी हैं। (१) एक तो उस पदपाठमें कुछ पद नहीं रहते, जो द्विवार आते हैं, और (२) पदपाठ भिन्न भी होता है। (३) तीसरी विशेषता यह है कि संहितापाठसे पदपाठके स्वर भिन्न होते हैं। पद होते ही स्वरभेद होता है। इसलिये पदपाठको उतने ही प्रयत्नसे कण्ठ करना पडता है कि, जितने यत्नसे संहिताको कण्ठ किया जाता है।

पदोंकी चर्चा

पदपाठ कण्ठ होनेके पश्चात् जैसी संहिताकी चर्चा होती है, वैसी ही पदपाठकी भी चर्चा होती है। चर्चाका अर्थ है मुखसे बोलना। मन्त्रकी चर्चा दो प्रकारकी पूर्वस्थानमें कही है। आमनेसामने चर्चा करनेवाले बैठते हैं, और एक संघवाले एक मन्त्र बोलते हैं और दूसरे सामनेवाले दूसरा बोलते हैं। अथवा आधा मन्त्र एक संघके लोग बोलते हैं और द्वितीयार्धको दूसरे संघवाले बोलते हैं। इस तरह अध्यायोंके अध्याय विना प्रमाद किये बोलते हैं। इसमें इस बातकी कठिनता होती है कि, पहिले संघका वाक्य समाप्त होनेके पूर्व ही दूसरे संघका प्रारम्भ होना चाहिये। आगेके मन्त्रका अथवा मन्त्रार्धका प्रारम्भ करनेयोग्य मंत्रोंका स्मरण रहना ही पाठशक्तिकी विशेषता है।

इसी तरह पदोंकी चर्चा होती है। एक संघवाले एक पद बोलेंगे और दूसरा संघ दूसरा अगला पद बोलेंगे, परन्तु पहिलेका समाप्त होनेसे पहिले ही दूसरेको अपना पद बोलना चाहिये। इसके लिये एकपद छोडकर दूसरा बोलनेका अभ्यास

होना चाहिये। तब इस चर्चामें सफलता मिलती है। यह चर्चा कैसी बोली जाती है, यह देखिये—

वेदपाठी विद्वानोंका एक संघ			वेदपाठी विद्वानोंका दूसरा संघ
	तत् १	२ सवितुः	
	वरेण्यं ३	४ भर्गः	
	देवस्य ५	६ धीमहि	
	धियः ७	८ यः	
	नः ९	१० प्रचोदयात्	
१			२

इससे पता चल सकता है कि, इस चर्चापठनपद्धतिमें हरएकको एक एक पद छोडकर अगला पद बोलनेकी स्मरण शक्ति रहनी चाहिये। हमने ऐसे वेदपाठी देखे हैं कि जो संपूर्ण संहिताका पदपाठ बीचके एक एक पदको त्याग कर विना प्रमाद किये बोलते जाते हैं !! और ऐसे पदपाठी विद्वान् महाराष्ट्रमें इस समय हैं। स्मरण रहे कि विशेष प्रयत्नके विना और विशेष आयास करनेके विना यह पदपाठ इस तरह कण्ठ होना कठिन है।

व्युत्क्रम--पद्पाठ।

पदपाठको भी व्युत्क्रमसे अर्थात् उलटे क्रमसे बोलने-वाले होते हैं। हमारे स्वाध्याय-मण्डलके वे० मू० सखाराम भट्टजी ऐसा उलटे क्रमसे पदपाठ बोलते हैं। संपूर्ण ऋग्वेदका पदपाठ अन्तसे आदितक कहनेवाला हमने और एक वेदपाठी विद्वान् देखा था। वह चाहे संहिताके अन्तसे, चाहे किसी मंडलके अन्तसे, चाहे किसी सूक्तके अन्तसे, मंत्र तथा पदपाठ विना प्रमाद किये बोलता था। इस समय वह गुजर चुका है। हमारे ही पितृव्यकुलका वह वेदपाठी था। इसको छोडकर तथा हमारे वे० मू० सखाराम भट्टजी-को छोडकर ऐसा व्युत्क्रम पदपाठी हमने दूसरा नहीं देखा। बहुधा ऐसा वेदपाठी मिलना असम्भव ही है, क्योंकि विशेष स्मरणशक्ति न होनेसे यह होना सर्वथा असंभव है।

गायत्री मन्त्रका सीधा पदपाठ यह है—

तत्। सवितुः। वरेण्यं। भर्गः। देवस्य। धीमहि। धियः। यः। नः। प्रचोदयात्। प्रचोदयादिति प्र चोदयात्।

इसी मन्त्रका व्युत्क्रम (उलटा) पदपाठ यह है—

प्रचोदयात्। नः। यः। धियः। धीमहि। देवस्य। भर्गः। वरेण्यं। सवितुः। तत्।

गायत्री मन्त्र तो हर कोई जानता है, पर उसका उलटा पदपाठ बोलना कितना कठिन है, यह पाठक ही स्वयं देख सकते हैं। यदि एक मन्त्रका उलटा पदपाठ बोलना कठिन है, तब तो सूक्तोंका उलटा पदपाठ बोलना तो इससे शत-गुणा कठिन है, यह हरकोई जान सकता है। और एक पद छोडकर बोलते जाना तो उससे भी कठिन है। पर ऐसे विद्वान् आज भी मिलते हैं। व्युत्क्रमपाठी मिलना ही दुष्कर हुआ है; सरल पाठी तो इस समय भी हैं।

इस समयतक जो विभिन्न पाठ बताये, उनको फिर दुहराते हैं।

१. मन्त्रपाठ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

२. पदपाठ।

अग्ने। नय। सुपथा। राये। अस्मान्। विश्वानि। देव। वयुनानि। विद्वान्।

३. व्युत्क्रमपाठ।

विद्वान्। वयुनानि। देव। विश्वानि। अस्मान्। राये। सुपथा। नय। अग्ने।

४. मण्डूकप्लुत पदपाठ।

(१) अग्ने ।...। सुपथा ।...। अस्मान् ।...।
(२) ।...। नय ।...। राये ।...। विश्वानि
(१) देव ।...। विद्वान् ।...।
(२) ।...। वयुनानि ।...॥

यह पाठ पदोंकी चर्चा बोलनेके समय बोला जाता है। जो पूर्व स्थलमें बताया जा चुका है। इस चर्चामें एक एक पदका त्याग करके अगला पद बोला जाता है। यह इतना जलदी बोलते हैं कि उसका वर्णन ही नहीं हो सकता। एक

संघ १, ३, ५, ७, ९ ये पद बोलेंगे और दूसरा संघ २, ४, ६, ८ ये पद बोलेंगे। बीचके गलित या पुनरुक्त पद छोडने होते हैं, सामासिक पद तोडकर बोले जाते हैं जैसा—

'रत्नधातमं इति रत्न-धा-तमं'
'पुरोहितं इति पुरःऽहितं' इ०

इस तरह सब पद बोलते हैं और इतनी जल्दीमें बोलते हुए एक भी गलती नहीं होती, यह आश्चर्य है!!!

इसके नंतर क्रमपाठ, जटापाठ, मालापाठ, शिखापाठ, रेखापाठ, ध्वजपाठ, दण्डपाठ, रथपाठ, घनपाठ, ये ९ पाठ वेदमंत्रोंके पदोंके सरल और उलटे क्रमसे होते हैं। क्रमपाठके ही आश्रयसे आगेके ८ भेद बनते हैं। इन सब पाठोंमें सबसे प्रथम पूर्वोक्त संहिता तथा पदपाठ होनेके पश्चात् यही क्रमपाठ कण्ठ करना होता है। यह इस तरह होता है—

क्रमपाठ।

अग्ने नय। नय सुपथा। सुपथा राये। राये अस्मान्। अस्मान् विश्वानि। विश्वानि देव। देव वयुनानि। वयुनानि विद्वान्॥ विद्वानिति विद्वान्॥

अन्तिम पद 'इति' रखकर दो बार बोला जाता है।

यही क्रमपाठ आगेके आठों विकृतियोंका आधार है। यहां क्रमसे दो दो पद बोले जाते हैं। उक्त स्थानमें क्रमपाठ और आठ विकृतियोंके नाम दिये हैं। परन्तु प्रत्येक विकृतिमें कई भेद भी हैं।

उक्त विकृति बननेके लिये पञ्चसंधि करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पञ्चसंधि किये विना ठीक तरह विकृति बोलना असंभव है। पञ्चसंधिका नमूना यह है—

'धियो यः' इन दो पदोंके पञ्चसंधि ऐसे होते हैं—
धियो यः। यो यः। यो धियः। धियो धियः। धियो यः।

दो पदोंका परस्परव्यवहार पांच ही प्रकारोंसे हो सकता है। वेदके प्रत्येक दो पदोंका इस तरह संधि स्मरण रखना पडता है। इससे वेदका पद आगेपीछे कैसा भी हुआ, तो उसका ठीक ठीक संधि कैसा होता है, यह जाना जा सकता है। इसी कारण वेदका पद आगेपीछे न होता हुआ अपने स्थानपर सुरक्षित रहता है। पाठक इस प्रयत्नको ठीक तरह समझें।

जटापाठमें दो भेद हैं, एक सरल जटापाठ और दूसरा पञ्चसन्धियुक्त जटापाठ।

मालापाठके दो भेद हैं, एक क्रममाला और दूसरी पुष्पमाला। इसका पाठविधि आगे बताया है। मालाके और २५ भेद कहे हैं—

अवसानाद्यावसानान्तं क्रमादुत्क्रमणं पठेत्।
मालाख्यां विकृतिं धीमान् संहितायाः सदा पठेत्॥
पञ्चविंशत्प्रभेदां हि मालाख्यां विकृतिं विदुः।
पञ्चविंशति भेदाश्च मालायाः संभवन्ति हि॥

मालानामक वेदविकृतिके २५ भेद होते हैं। जिनके नाम ये हैं—

१ पद, २ पदव्युत्क्रम, ३ क्रम, ४ जटा, ५ शिखा, ६ संहितापद, ७ संहिताक्रम, ८ संहिताजटा, ९ संहिताशिखा, १० पदक्रम, ११ पदजटा, १२ पदशिखा, १३ क्रमजटा, १४ क्रमशिखा, १५ जटाशिखा, १६ संहितापदक्रम, १७ संहिताक्रमजटा, १८ संहिताजटाशिखा, १९ संहितापदक्रमजटा, २० पदजटाशिखा, २१ क्रमजटाशिखा, २२ संहितापदक्रमजटा, २३ संहिताक्रमजटाशिखा, २४ संहितापदक्रमजटाशिखा, २५ माला।

मालाके दो भेद हमें मालूम हैं। यहां २५ भेद लिखे हैं। पर इस समय ये २५ प्रकारके मालापाठ कैसे होते हैं, इसका किसीको पता नहीं है। पाठकोंमेंसे किसीको अथवा किसी अन्य विद्वान्को इन भेदोंका विधि मालूम हो, अथवा किसीके पास कोई ग्रन्थ प्राचीन लिखित हो, तो उसका पता हमें चाहिये।

वल्ली नामक विकृतिके इसी तरह २५ और भेद इसी लिखित ग्रंथमें लिखे हैं। इनके नाम ग्रंथ जीर्ण होनेसे हस्तगत नहीं हुए। इनका भी पता किसीको हो, तो हम जानना चाहते हैं। रथके विषयमें निम्नलिखित पंक्तियां मिलती हैं—

वल्ल्याः क्रमः समाख्यातो जटाख्यातं पदद्वयम्।
क्रमवत्क्रमणं कुर्यात् व्युत्क्रमं च पदे पदे॥

अनुलोमं जटातन्तुं विलोमं तु पृथक् पृथक् ।
रथाख्यां विकृतिं ब्रूयात् रथभेदाः प्रकथ्यन्ते ।
अनुलोमं जटातन्तुं प्रपठेद्वै पृथक् पृथक् ।
रथाख्यां विकृतिं धीमान् विलोमं तु पृथक् पृथक् ॥
रथस्यैकादशभेदा भवन्ति, ते तु विलोमेनैव जायन्ते ।

यहां रथके ११ भेद कहे हैं। इसमें केवल द्विचक्रीरथ, त्रिचक्रीरथ, चतुश्चक्रीरथ, मन्त्रद्वयरथ ये चार ही भेद मालूम हैं। कदाचित् मन्त्रत्रितयरथ, मन्त्रचतुष्करथ, ऐसे और दो भेद हो सकते हैं, क्योंकि मन्त्रद्वयरथके अनुसंधानसे ये और दो भेद होना सम्भव है, इस तरह ये छः भेद हुए। परन्तु उक्त श्लोकमें ११ भेद रथके कहे हैं। उनका किसीको पता इस समय नहीं है। संभव है कि प्रत्येक रथको पञ्चसन्धियुक्त कहनेसे ५ या ६ भेद अधिक होते होंगे। यह एक खोजका विषय है।

इस समय जो विकृति वैदिक विद्वान् बोलते हैं, उनको नमूनेके तौर पर यहां दिया है। पाठक उनको देखकर जान सकते हैं कि प्राचीन ऋषिमुनियोंने वेदकी सुरक्षाके लिये कितना महान् यत्न किया था। इसमें 'घन' नामक जो विकृति है, उसमें द्वितीय पदसे प्रत्येक पद आगेपीछे करके १३ वार बोला जाता है। संपूर्ण ऋग्वेदका इस तरह घन-पाठ मुखसे ही बोलनेवाले, अर्थात् हाथमें ग्रन्थ न लेते हुए, बोलनेवाले वैदिक विद्वान् महाराष्ट्रमें २०--२५ हैं। हमारे स्वाध्याय-मण्डलमें कार्य करनेवाले श्री. पं० वे० मू० सखारामभट्टजी ऐसे ही घनपाठी विद्वान् हैं।

कई विद्वान् संपूर्ण ऋग्वेदका घनपाठका पारायण करते हैं, इस कार्यके लिये कई महिने आवश्यक होते हैं। यह जैसा परिश्रमका कार्य है, वैसा ही उत्तम बुद्धिमत्ताका और उत्तम स्मरणशक्तिका भी कार्य है।

अस्तु। प्राचीन ऋषिमुनियोंने वेदके पदपद सुरक्षित रखनेके लिये इतने परिश्रम किये थे। इस समयमें भी ऐसे परिश्रमी वेदवेत्ता महाराष्ट्रमें हैं। किसी अन्य प्रान्तमें नहीं है।

आज वेदोंकी सुरक्षा कैसी हो ?

आज वेदोंके ब्लाक बनवाये जांयगे, तो वेदके अक्षरों की सुरक्षा हो सकती है। इस कार्यके लिये धन चाहिये। चारों वेदोंके २००० पृष्ठोंके लिये कमसे कम १०००००) रु० लगेंगे। वेदकी सुरक्षाके लिये कौन यह धन देता है, इसकी चिन्तामें हम हैं।

इन आठों विकृतियोंके उदाहरण इसी स्थानमें अगले पृष्ठोंमें पाठक देख सकते हैं—

अष्टौ विकृतयः।

संहितालक्षणम्।

परः सन्निकर्षः संहिता। (अष्टाध्याय्यां १।४।१०९ पाणिनिः) (वर्णानामतिशयितः संनिधिः संहितासंज्ञः स्यात्)

[१] संहितामन्त्रः।

ओषधयःसंवदन्तेसोमेनसहराज्ञा। यस्मैकृणोतिब्राह्मणस्तंराजन्पारयामसि ॥

(ऋ० अष्टक ८, अ० ५, व० ११; मं० १०, सू० ९७, मं० २२)

(पदच्छेदपूर्वको) मंत्रपाठः।

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणस् तं राजन् पारयामसि ॥

पदसंहितालक्षणम्।

पदविच्छेदोऽसंहितः ॥ (प्रातिशाख्यसूत्रे कात्यायनः) सुप्तिङन्तं पदं (अष्टा०)

[२] पदपाठः।

ओषधयः। सं। वदन्ते। सोमेन। सह। राज्ञा।
१ २ ३ ४ ५ ६

यस्मै। कृणोति। ब्राह्मणः। तं। राजन्। पारयामसि ॥ १ ॥
७ ८ ९ १० ११ १२

क्रमलक्षणम्।

क्रमेण पदद्वयस्य पाठः। क्रमपाठो 'योगरूढा संहिता' इत्युच्यते। 'क्रमः स्मृतिप्रयोजनः' (प्रा०सू०४।१८कात्यायनः

क्रमपाठलक्षणम् शौनकेनोक्तम्।

क्रमो द्वाभ्यामभिक्रम्य प्रत्यादायोत्तरं द्वयोः। उत्तरेणोपसंदध्यात्तथार्धर्चं समापयेत् ॥

[३] क्रमपाठः।

ओषधयः सं। सं वदंते। वदंते सोमेन। सोमेन सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा ॥
१ २ २ ३ ३ ४ ४ ५ ५ ६ ६ ६

यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मणस्तं। तं राजन्। राजन् पारयामसि।
७ ८ ८ ९ ९ १० १० ११ ११ १२

पारयामसीति पारयामसि ॥ १ ॥
१२ १२

*

[४] पञ्चसन्धिः ।

पञ्चसंधिलक्षणम् ।

अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा। संक्रमश्चेति पञ्चैते जटायां कथिताः क्रमाः ।

क्रमः= १ + २; २ + ३। उत्क्रमः= २ + २; ३ + ३। व्युत्क्रमः= २ + १; ३ + २।
अभिक्रमः= १+१; २ + २। संक्रमः= १ + २; २ + ३।

(क्रमः)	(उत्क्रमः)	(व्युत्क्रमः)	(अभिक्रमः)	(संक्रमः)
१-२	२-२	२-१	१-१	१-२
ओषधयः सं।	सं सं।	समोषधयः।	ओषधय ओषधयः।	ओषधयः सं।
१ २	२ २	२ १	१ १	१ २
सं वदन्ते।	वदन्ते वदन्ते।	वदन्ते सं।	सं सं।	सं वदन्ते।
२ ३	३ ३	३ २	२ २	२ ३
वदन्ते सोमेन।	सोमेन सोमेन।	सोमेन वदन्ते।	वदन्ते वदन्ते।	वदन्ते सोमेन।
३ ४	४ ४	४ ३	३ ३	३ ४
सोमेन सह।	सह सह।	सह सोमेन।	सोमेन सोमेन।	सोमेन सह।
४ ५	५ ५	५ ४	४ ४	४ ५
सह राज्ञा।	राज्ञा राज्ञा।	राज्ञा सह।	सह सह।	सह राज्ञा।
५ ६	६ ६	६ ५	५ ५	५ ६
राज्ञेति राज्ञा।				
६ ६				

' तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । ' (ऋ० अ० ३।४।१०; मं० ३।६२।१०) इत्यस्य—

पञ्चसन्धिः।

तत्सवितुः।	सवितुस्सवितुः।	सवितुस्तत्।	तत्तत्।	तत्सवितुः।
सवितुर्वरेण्यं	वरेण्यं वरेण्यं।	वरेण्यं सवितुः।	सवितुस्सवितुः	सवितुर्वरेण्यं।
वरेण्यं भर्गः।	भर्गो भर्गः।	भर्गो वरेण्यं।	वरेण्यं वरेण्यं।	वरेण्यं भर्गः।
भर्गो देवस्य।	देवस्य देवस्य।	देवस्य भर्गः।	भर्गो भर्गः।	भर्गो देवस्य।
देवस्य धीमहि।	धीमहि धीमहि।	धीमहि देवस्य।	देवस्य देवस्य।	देवस्य धीमहि।

धीमहीति धीमहि। (एवमग्रेऽपि)

विकृति-लक्षणानि ।

शैशिरीये समाम्नाये व्यालिनैव [1] महर्षिणा ।
जटाद्या विकृतीरष्टौ लक्ष्यन्ते नातिविस्तरम् ॥ १ ॥
जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥ २ ॥

अष्टौ विकृतयः क्रमपूर्वा भवन्ति । तासु जटा-दण्डसंज्ञके द्वे विकृती मुख्ये। यत एताभ्यामेवान्या विकृतयः संभवन्ति । तत्र जटां शिखाऽनुसरति । तथा च दण्डं माला-रेखा-ध्वज-रथा अनुसरन्ति । घनस्तु जटादण्डावनुसरति ।

[१] जटा।

प्रथमं जटालक्षणम् ।

अनुलोमविलोमाभ्यां त्रिवारं हि पठेत् क्रमम् । विलोमे पदवत्संधिः अनुलोमे यथाक्रमम् ॥

द्वितीयं जटालक्षणम् ।

क्रमे यथोक्ते पदजातमेव द्विरभ्यसेदुत्तरमेव पूर्वम् ।
अभ्यस्य पूर्वं च तथोत्तरे पदेऽवसानमेवं हि जटाभिधीयते ॥

जटा लक्षणम्

अनुलोमविलोमाभ्यां त्रिवारं हि पठेत्क्रमम् । जटाख्यां विकृतिं ब्रूयाद्विज्ञाय क्रमलक्षणम् ।
क्रमो द्वाभ्यामनुक्रस्य व्युत्क्रमोत्क्रमसंधिना । यथावत्स्वरसंयुक्तं सा जटेत्यभिधीयते ॥
ब्रूयात्क्रमविपर्यासौ पुनश्च क्रममुत्तरम् । जटाख्यां विकृतिं धीमान् विज्ञाय क्रमलक्षणम् ।

जटा= अनुलोमः १–२ + विलोमः २–१ + अनुलोमः १–२ ॥ [क्रमः १–२ + व्युत्क्रमः २–१ + सक्रमः १–२]

जटापाठः ।

ओषधयस् सं, समोषधय, ओषधयस् सम् ॥
१ २ २ १ १ २

सं वदन्ते, वदन्ते सं, सं वदन्ते ॥
२ ३ ३ २ २ ३

वदन्ते सोमेन, सोमेन वदन्ते, वदन्ते सोमेन ॥
३ ४ ४ ३ ३ ४

सोमेन सह, सह सोमेन, सोमेन सह ॥
४ ५ ५ ४ ४ ५

सह राज्ञा, राज्ञा सह, सह राज्ञा ॥
५ ६ ६ ५ ५ ६

राज्ञेति राज्ञा ॥
६ ६

यस्मै कृणोति, कृणोति यस्मै, यस्मै कृणोति ॥
७ ८ ८ ७ ७ ८

कृणोति ब्राह्मणो, ब्राह्मणः कृणोति, कृणोति ब्राह्मणः ॥
८ ९ ९ ८ ८ ९

ब्राह्मणस्तं, तं ब्राह्मणो, ब्राह्मणस्तं ॥
९ १० १० ९ ९ १०

तं राजन्, राजंस्तं, तं राजन् ॥
१० ११ ११ १० १० ११

राजन्पारयामसि, पारयामसि राजन्, राजन्पारयामसि ॥
११ १२ १२ ११ ११ १२

पारयामसीति पारयामसि ॥ १ ॥
१२ १२

१ व्यालिना=व्याडिना ।

३

[२] माला ।

मालाया द्वौ भेदौ पुष्पमाला-क्रममाला चेति । तत्र क्रममालायाः लक्षणम्—

क्रम-मालालक्षणम् ।

ब्रूयात्क्रमविपर्यासावर्धर्चस्यादितोऽन्ततः । अन्तं चादिं नयेदेवं क्रममालेति गीयते ॥
अवसानाश्चावसानांतं क्रमादुत्क्रमणं भवेत् । जटाख्यां विकृतिं धीमान् संहितायाः सदा पठेत् ॥
पंचविंशति प्रभेदा वै मालाख्यां विकृतिं पठेत् । संहितादि शिखान्तं च अनुलोमविलोमतः ॥
आदितोऽन्ततश्चापि मालाख्यां विकृतिं पठेत् । पञ्चविंशति प्रभेदाश्च मालाया संभवन्ति हि ॥
मालायाश्च पुनर्भेदा कथिताः पञ्चविंशति ।

(१ क्रम—माला)

ओषधयः सं । राज्ञेति राज्ञा ॥ सं वदन्ते । राज्ञा सह ॥ वदुन्ते सोमेन । सह सोमेन ॥
१ २ ६ ६ २ ३ ६ ५ ३ ४ ५ ४
सोमेन सह । सोमेन वदन्ते ॥ सह राज्ञा । वदुन्ते सं ॥ राज्ञेति राज्ञा । समोषधयः ॥
४ ५ ४ ३ ५ ६ ३ २ ६ ६ २ १
यस्मै कृणोति । पारयामसीति पारयामसि ॥ कृणोति ब्राह्मणः । पारयामसि राजन् ॥
७ ८ १२ ११ ८ ९ १२ ११
ब्राह्मणस्तं । राजँस्तं ॥ तं राजन् । तं ब्राह्मणः ॥ राजन्पारयामसि । ब्राह्मणः कृणोति ॥
९ १० ११ १० १० ११ १० ९ ११ १२ ९ ८
पारयामसीति पारयामसि ॥ कृणोति यस्मै ॥
१२ ११

+ क्रम—माला

ओषधयः सं ।	१	२	राज्ञेति राज्ञा
सं वदन्ते ।	३	४	राज्ञा सह ।
वदुन्ते सोमेन ।	५	६	सह सोमेन ।
सोमेन सह ।	७	८	सोमेन वदन्ते ।
सह राज्ञा ।	९	१०	वदुन्ते सं ।
राज्ञेति राज्ञा ।	११	१२	समोषधयः ।
यस्मै कृणोति ।	१३	१४	पारयामसीति पारयामसि ।
कृणोति ब्राह्मणः ।	१५	१६	पारयामसि राजन् ।
ब्राह्मणस्तं ।	१७	१८	राजँस्तं ।
तं राजन् ।	१९	२०	तं ब्राह्मणः ।
राजन् पारयामसि ।	२१	२२	ब्राह्मणः कृणोति ।
पारयामसीति पारयामसि ।	२३	२४	कृणोति यस्मै ।

+ क्रममालायाः पठनक्रमोऽत्राङ्कैः प्रदर्शितः ।

(क्रम--माला)

[आदितोऽन्ततः] = [अन्तं चादिं नयेत्]

[१]			
	१ ओषधयः सं	— राज्ञेति राज्ञा	६
	२ सं वदन्ते	— राज्ञा सह	५
	३ वदन्ते सोमेन	— सह सोमेन	४
	४ सोमेन सह	— सोमेन वदन्ते	३
	५ सह राज्ञा	— वदन्ते सं	२
	६ राज्ञेति राज्ञा	— समोषधयः	१

[आदितोऽन्ततः] = [अन्तं चादिं नयेत्]

[२]			
	७ यस्मै कृणोति	— पारयामसीति पारयामसि	१२
	८ कृणोति ब्राह्मणः	— पारयामसि राजन्	११
	९ ब्राह्मणस् तं	— राजँस्तं	१०
	१० तं राजन्	— तं ब्राह्मणः	९
	११ राजन् पारयामसि	— ब्राह्मणः कृणोति	८
	१२ पारयामसीति पारयामसि	— कृणोति यस्मै	७

(२ पुष्पमाला ।)

पुष्पमाला—लक्षणम् ।

माला मालेव पुष्पाणां पदानां ग्रन्थिनी हि सा । आवर्तन्ते त्रयस्तस्यां क्रमव्युत्क्रमसंक्रमाः ॥

जटावदेव पुष्पमाला भवति । तत्र प्रतिपदं विराम इतिकारश्चेति विशेषः । केचिच्च पुष्पमालाया-मितिकारं पदसन्धिस्थानेऽपि वदन्ति । यथा—" समोषधय " इति 'सम् ओषधयः' । " ब्राह्मणस्तं " इति ' ब्राह्मणः तम् ' । " राजँस्तं " इति राजन् तम् । इत्यादिः ।

	(क्रमः) विरामः	(व्युत्क्रमः) विरामः	(संक्रमः)		
१	ओषधयः सं	समोषधयः	ओषधयः सं ।	इति ।	(विराम)
२	सं वदन्ते	वदन्ते सं	सं वदन्ते	"	"
३	वदन्ते सोमेन	सोमेन वदन्ते	वदन्ते सोमेन	"	"
४	सोमेन सह	सह सोमेन	सोमेन सह	"	"
५	सह राज्ञा	राज्ञा सह	सह राज्ञा	"	"
६	राज्ञेति राज्ञा				
७	यस्मै कृणोति	कृणोति यस्मै	यस्मै कृणोति	"	"
८	कृणोति ब्राह्मणः	ब्राह्मणः कृणोति	कृणोति ब्राह्मणः	"	"
९	ब्राह्मणस्तं	तं ब्राह्मणः	ब्राह्मणस्तं	"	"
१०	तं राजन्	राजँस्तं	तं राजन्	"	"
११	राजन्पारयामसि	पारयामसि राजन्	राजन्पारयामसि		
१२	पारयामसीति पारयामसि ।				

*

[३] शिखा।

शिखा—लक्षणम्।

पदोत्तरां जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते।

ओषधयः सं, समोषधय, ओषधयः सं, — वदन्ते।
१ २ २ १ १ २ ३

सं वदन्ते, वदन्ते सं, सं वदन्ते, — सोमेन।
२ ३ ३ २ २ ३ ४

वदन्ते सोमेन, सोमेन वदन्ते, वदन्ते सोमेन, — सह।
३ ४ ४ ३ ३ ४ ५

सोमेन सह, सह सोमेन, सोमेन सह, — राज्ञा।
४ ५ ५ ४ ४ ५ ६

सह राज्ञा, राज्ञा सह, सह राज्ञा।
५ ६ ६ ५ ५ ६

राज्ञेति राज्ञा।
६ ६

यस्मै कृणोति, कृणोति यस्मै, यस्मै कृणोति, — ब्राह्मणः।
७ ८ ८ ७ ७ ८ ९

कृणोति ब्राह्मणो, ब्राह्मणः कृणोति, कृणोति ब्राह्मणस् — तम्।
८ ९ ९ ८ ८ ९ १०

ब्राह्मणस्तं, तं ब्राह्मणो, ब्राह्मणस्तं, — राजन्।
९ १० १० ९ ९ १० ११

तं राजन्, राजंस्तं, तं राजन्, — पारयामसि।
१० ११ ११ १० १० ११ १२

राजन्पारयामसि, पारयामसि राजन्, राजन् पारयामसि।
११ १२ १२ ११ ११ १२

पारयामसीति पारयामसि।
१२ १२

[४] रेखा।

रेखा-लक्षणम्।

क्रमाद् द्वित्रिचतुष्पञ्चपदक्रममुदाहरेत्। पृथक्पृथग्विपर्यस्य लेखामाहुः पुनः क्रमात्॥

पूर्वार्धस्य—

२ (पदद्वयं) = ओषधयः सं। समोषधयः। ओषधयः सं॥
३ (पदत्रयं) = सं वदन्ते सोमेन। सोमेन वदन्ते सं। सं वदन्ते॥
४ (पदचतुष्कं) = वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। राज्ञा सह सोमेन वदन्ते। वदन्ते सोमेन॥
सोमेन सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा॥

उत्तरार्धस्य—

२ = यस्मै कृणोति। कृणोति यस्मै। यस्मै कृणोति॥
३ = कृणोति ब्राह्मणस्तं। तं ब्राह्मणः कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः॥
४ = ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि। पारयामसि राजंस्तं ब्राह्मणः। ब्राह्मणस्तं॥
तं राजन्। राजन् पारयामसि। पारयामसीति पारयामसि॥

[यद्वा सर्वस्य मन्त्रस्य]

२ (पदद्वयं) = ओषधयः सं। समोषधयः। ओषधयः सम्॥
३ (पदत्रयं) = सं वदन्ते सोमेन। सोमेन वदन्ते सं। सं वदन्ते॥
४ (पदचतुष्कं) = वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। राज्ञा सह सोमेन वदन्ते। वदन्ते सोमेन॥
५ (पदपञ्चकं) = सोमेन सह राज्ञा यस्मै कृणोति। कृणोति यस्मै राज्ञा सह सोमेन। सोमेन सह।
६ (पदषट्कं) = सह राज्ञा यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं। तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै राज्ञा सह।
सह राज्ञा॥

७ (पदसप्तकं) = राज्ञा यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि।
पारयामसि राजंस्तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै राज्ञा। राज्ञा यस्मै॥
यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मणस्तं। तं राजन्। राजन् पारयामसि।
पारयामसीति पारयामसि॥

[५] ध्वजः ।

ध्वज-लक्षणम् ।

ब्रूयादादेः क्रमं सम्यगन्तादुत्तारयेद्यदि । वर्गे च ऋचि वा यत्र पठनं स ध्वजः स्मृतः ॥*

जटादेः क्रमरूपं तु ह्यन्तादुत्तारयादिव ।
अर्धर्चा वा ऋचा वापि पठनं स ध्वजः स्मृतः ॥

(आदेः क्रमः)	(अन्तादुत्तारणं)
१ ओषधयः सं ।	२ पारयामसीति पारयामसि ।
३ सं वदन्ते ।	४ राजन् पारयामसि ।
५ वदन्ते सोमेन ।	६ तं राजन् ।
७ सोमेन सह ।	८ ब्राह्मणस्तं ।
९ सह राज्ञा ।	१० कृणोति ब्राह्मणः ।
११ राज्ञेति राज्ञा ।	१२ यस्मै कृणोति ।
१३ यस्मै कृणोति ।	१४ राज्ञेति राज्ञा
१५ कृणोति ब्राह्मणः ।	१६ सह राज्ञा ।
१७ ब्राह्मणस्तं ।	१८ सोमेन सह ।
१९ तं राजन् ।	२० वदन्ते सोमेन ।
२१ राजन् पारयामसि ।	२२ सं वदन्ते ।
२३ पारयामसीति पारयामसि ।	२४ ओषधयः सं ।

अत्र विशेषः ।

१ अत्र ध्वजस्य पठनक्रमोऽङ्कैः प्रदर्शितः ।

२ यथा मन्त्रस्यैकस्यैवं ध्वजो भवति, तथैव पञ्च-षट्-सप्त-मन्त्रसंख्याकस्य वर्गस्याप्येवमेव ध्वजो भवति । तत्र वर्गादिस्थितस्य पदद्वयस्य वर्गान्तस्थेन पदेन द्विरुक्तेनेतिकारसहितेन च संबंद्धो ज्ञातव्यः । यथा ' अग्निमीळे...आ गमादिति आ गमत् ' इति प्रथमस्य वर्गस्य ऋग्वेदस्य ध्वजो बोद्धव्यः ।

---

* वर्गे वा ऋचि वा यः स्यात्पठितः स ध्वजः स्मृतः । इति वा पाठः ।

[६] दण्डः ।

दण्ड-लक्षणम् ।

क्रममुक्त्वा विपर्यस्य पुनश्च क्रममुत्तरम् । अर्धर्चादेवमुक्तोऽयं क्रमदण्डोऽभिधीयते ।
चत्वारिंशद्भेदा भवन्ति दण्डस्य ।

पूर्वार्धस्य—

२ = ओषधयः सं ॥ समोषधयः ।
३ = ओषधयः सं । सं वदन्ते ॥ वदन्ते समोषधयः ।
४ = ओषधयः सं । सं वदन्ते । वदन्ते सोमेन ॥ सोमेन वदन्ते समोषधयः ।
५ = ओषधयः सं । सं वदन्ते । वदन्ते सोमेन । सोमेन सह ॥ सह सोमेन वदन्ते समोषधयः ।
६ = ओषधयः सं । सं वदन्ते । वदन्ते सोमेन । सोमेन सह । सह राज्ञा ॥
राज्ञा सह सोमेन वदन्ते समोषधयः ।

ओषधयः सं । सं वदन्ते । वदन्ते सोमेन । सोमेन सह । सह राज्ञा ॥ राज्ञेति राज्ञा ।

उत्तरार्धस्य—

२ = यस्मै कृणोति ॥ कृणोति यस्मै ।
३ = यस्मै कृणोति । कृणोति ब्राह्मणः ॥ ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।
४ = यस्मै कृणोति । कृणोति ब्राह्मणः । ब्राह्मणस्तं ॥ तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।
५ = यस्मै कृणोति । कृणोति ब्राह्मणः । ब्राह्मणस्तं । तं राजन् ॥ राजंस्तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।
६ = यस्मै कृणोति । कृणोति ब्राह्मणः । ब्राह्मणस्तं । तं राजन् । राजन् पारयामसि ॥
पारयामसि राजंस्तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।

यस्मै कृणोति । कृणोति ब्राह्मणः । ब्राह्मणस्तं । तं राजन् । राजन् पारयामसि ॥
पारयामसीति पारयामसि ।

[७] रथः ।

रथ-लक्षणम् ।

अनुलोमं जटान्तं तु विलोमे तु पृथक् पृथक् । रथाख्यां विकृतिं ब्रूयाद्रथभेदः प्रकथ्यते ॥
अनुलोमं जटान्तं तु प्रपठेद्वै पृथक् पृथक् । जटाख्यां विकृतिं धीमान् विलोमे तु पृथक् पृथक् ॥
अथैकादशभेदा भवति । विलोमेनैकादशभेदा ॥

पादशोऽर्धर्चशो वापि सहोक्त्या दण्डवद्रथः ।

रथस्त्रिविधः । द्विचक्रस्त्रिचक्रश्चतुश्चक्रश्चेति । तत्र द्विचक्रो रथोऽर्धर्चशो भवति । त्रिचक्रस्तु रथः प्रतिपादे समानपद-संख्यायुतस्य गायत्रीछन्दस्कस्यैव मन्त्रस्य भवति । चतुश्चक्रो रथस्तु पादश एव भवति ।

[१] द्विचक्रीरथः (अर्धर्चशः)

(पूर्वार्ध) (उत्तरार्ध)

[१] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति । (प्रथम एकपात्क्रमः)
समोषधयः । कृणोति यस्मै । (व्युत्क्रमः)

[२] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति । (द्वितीयो द्विपात्क्रमः)
(२) सं वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः । ,,
वदन्ते समोषधयः । ब्राह्मणः कृणोति यस्मै । (व्युत्क्रमः)

[३] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति । (तृतीयस्त्रिपात्क्रमः)
(२) सं वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः । ,,
(३) वदन्ते सोमेन । ब्राह्मणस्तं । ,,
सोमेन वदन्ते समोषधयः । तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै । (व्युत्क्रमः)

[४] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति । (चतुर्थश्चतुष्पात्क्रमः)
(२) सं वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः । ,,
(३) वदन्ते सोमेन । ब्राह्मणस्तं । ,,
(४) सोमेन सह । तं राजन् । ,,
सह सोमेन वदन्ते समोषधयः । राजंस्तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै । (व्युत्क्रमः)

[५] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति । (पञ्चमः पञ्चपात्क्रमः)
(२) सं वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः । ,,
(३) वदन्ते सोमेन । ब्राह्मणस्तं । ,,
(४) सोमेन सह । तं राजन् । ,,
(५) सह राज्ञा । राजन् पारयामसि । ,,
राज्ञेति राज्ञा । पारयामसीति पारयामसि । (समाप्तिः)

(२) द्विचक्री रथः।

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ ऋ० १।१।१
अ॒यं दे॒वाय॒ जन्म॑ने॒ स्तोमो॒ विप्रे॑भिरास॒या। अका॑रि रत्न॒धात॑मः ॥ ऋ० १।२०।१

अनयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः साकल्येनापि द्विचक्रो रथो भवति। तत्र प्रथमः प्रकारो यथा—

(ऋ० १।१।१) (ऋ० १।२०।१)

[१] अ॒ग्निमी॑ळे। अ॒यं दे॒वाय॑ ॥
ई॒ळेऽग्निं। दे॒वाया॒यं ॥

[२] अ॒ग्निमी॑ळे। ई॒ळे पु॒रोहि॑तं ॥ अ॒यं दे॒वाय॑। दे॒वाय॒ जन्म॑ने ॥
पु॒रोहि॑तमी॒ळेऽग्निं। जन्म॑ने दे॒वाया॒यं ॥

[३] अ॒ग्निमी॑ळे। ई॒ळे पु॒रोहि॑तं। पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ ॥ अ॒यं दे॒वाय॑। दे॒वाय॒ जन्म॑ने। जन्म॑ने॒ स्तोम॑ः। य॒ज्ञस्य॑ पु॒रोहि॑तमी॒ळेऽग्निं। स्तोमो॒ जन्म॑ने दे॒वाया॒यं ॥

[४] अ॒ग्निमी॑ळे। ई॒ळे पु॒रोहि॑तं। पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑। 'पु॒रोहि॑त॒मिति॒ पु॒रःऽहि॑तं'। य॒ज्ञस्य दे॒वं ॥ अ॒यं दे॒वाय॑। दे॒वाय॒ जन्म॑ने। जन्म॑ने॒ स्तोम॑ः। स्तोमो॒ विप्रे॑भिः ॥
दे॒वं य॒ज्ञस्य॑ पु॒रोहि॑तमी॒ळेऽग्निं ॥ विप्रे॑भि॒ः स्तोमो॒ जन्म॑ने दे॒वाया॒यं ॥

[५] अ॒ग्निमी॑ळे। ई॒ळे पु॒रोहि॑तं। पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑। 'पु॒रोहि॑त॒मिति॒ पु॒रःऽहि॑तं'। य॒ज्ञस्य॑ दे॒वं। दे॒वमृ॒त्विज॑ं ॥
अ॒यं दे॒वाय॑। दे॒वाय॒ जन्म॑ने। जन्म॑ने॒ स्तोम॑ः। स्तोमो॒ विप्रे॑भिः। विप्रे॑भिरास॒या ॥
ऋ॒त्विजं॑ दे॒वं य॒ज्ञस्य॑ पु॒रोहि॑तमी॒ळेऽग्निं ॥ आ॒स॒या विप्रे॑भि॒ः स्तोमो॒ जन्म॑ने दे॒वाया॒यं ॥

[६] अ॒ग्निमी॑ळे। ई॒ळे पु॒रोहि॑तं। पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑। 'पु॒रोहि॑त॒मिति॒ पु॒रःऽहि॑तं'। य॒ज्ञस्य॑ दे॒वं। दे॒वमृ॒त्विज॑ं ॥
अ॒यं दे॒वाय॑। दे॒वाय॒ जन्म॑ने। जन्म॑ने॒ स्तोम॑ः। स्तोमो॒ विप्रे॑भिः। विप्रे॑भिरास॒या।
ऋ॒त्विज॒मित्यृ॒त्विजं॑। आ॒स॒येत्या॑स॒या ॥

[७] होता॑रं रत्न॒धात॑मं। अका॑रि रत्न॒धात॑मः ॥
रत्न॒धात॑मं॒ होता॑रं। र॒त्न॒धात॒मोऽका॑रि ॥
होता॑रं रत्न॒धात॑मं। अका॑रि रत्न॒धात॑मः ॥
र॒त्न॒धात॑म॒मिति॒ रत्न॒ऽधात॑मं। र॒त्न॒धात॑म॒ इति॒ रत्न॒ऽधात॑मः ॥

(३) द्विचक्री रथः ।

पूर्वोक्तयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः साकल्येन द्विचक्री रथो भवति । तस्य द्वितीयः प्रकारो यथा—

(ऋ० १।१।१) (ऋ० १।२०।१)

[१] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
ईळेऽग्निं । देवायायं ॥

[२] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
पुरोहितमीळेऽग्निं । जन्मने देवायायं ॥

[३] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निं ॥
स्तोमो जन्मने देवायायं ॥

[४] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
'पुरोहितमिति पुरःऽहितं' ।
(४) यज्ञस्य देवं । स्तोमो विप्रेभिः ॥
देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निं ॥
विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायायं ॥

(ऋ० १।१।१) (ऋ० १।२०।१)

[५] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
'पुरोहितमिति पुरःऽहितं' ।
(४) यज्ञस्य देवं । स्तोमो विप्रेभिः ॥
(५) देवमृत्विजं । विप्रेभिरासया ॥
ऋत्विजं देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निं ।
आसया विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायायं ।

[६] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
'पुरोहितमिति पुरःऽहितं' ।
(४) यज्ञस्य देवं । स्तोमो विप्रेभिः ॥
(५) देवमृत्विजं । विप्रेभिरासया ॥
(६) ऋत्विजमित्यृत्विजं । आसयेत्यासया ॥

[७] (१) होतारं रत्नधातमं । अकारि रत्नधातमः ॥
रत्नधातमं होतारं । रत्नधातमोऽकारि ॥
होतारं रत्नधातमं । अकारि रत्नधातमः ॥
रत्नधातममिति रत्नऽधातमं ।
रत्नधातम इति रत्नऽधातमः ॥

[४] त्रिचक्री रथः।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ (ऋ० १।२२।१९)

इत्यस्य त्रिपदागायत्रीछन्दस्कस्य मन्त्रस्य प्रतिपादं समानपदसंख्यात्वात्त्रिचक्री रथो भवति, यथा—

(प्रथमः पादः) (द्वितीयः पादः) (तृतीयः पादः)

[१] (१) विष्णोः कर्माणि। यतो व्रतानि। इंद्रस्य युज्यः। (प्रथमः क्रमः)

कर्माणि विष्णोः। व्रतानि यतः। युज्य इंद्रस्य। (व्युत्क्रमः)

[२] (१) विष्णोः कर्माणि। यतो व्रतानि। इंद्रस्य युज्यः। (द्वितीयः क्रमः)

(२) कर्माणि पश्यत। व्रतानि पस्पशे। युज्यः सखा। ,,

पश्यत कर्माणि विष्णोः। पस्पशे व्रतानि यतः। सखा युज्य इंद्रस्य। (व्युत्क्रमः)

(प्रथमः पादः) विष्णोः कर्माणि। कर्माणि पश्यत। पश्यतेति पश्यत। (समाप्तिः)

(द्वितीयः ,,) यतो व्रतानि। व्रतानि पस्पशे। पस्पश इति पस्पशे। ,,

(तृतीयः ,,) इंद्रस्य युज्यः। युज्यः सखा। सखेति सखा। ,,

---

[५] चतुश्चक्री रथः।

चतुश्चक्री रथश्चतुष्पान्मन्त्रस्य पादशो भवति, यथा—

(प्रथमः पादः) (द्वितीयः पादः) (तृतीयः पादः) (चतुर्थः पादः)

[१] (१) ओषधयः सं। सोमेन सह। यस्मै कृणोति। तं राजन्। (प्रथमः क्रमः)

समोषधयः। सह सोमेन। कृणोति यस्मै। राजंस्तं। (व्युत्क्रमः)

[२] (१) ओषधयः सं। सोमेन सह। यस्मै कृणोति। तं राजन्। (द्वितीयः क्रमः)

(२) सं वदंते। सह राज्ञा। कृणोति ब्राह्मणः। राजन्पारयामसि। ,,

वदंते समोषधयः। राज्ञा सह सोमेन। ब्राह्मणः कृणोति यस्मै। पारयामसि राजंस्तं। (व्युत्क्रमः)

(प्रथमः पादः) ओषधयः सं। सं वदंते। वदंत इति वदन्ते। (समाप्तिः)

(द्वितीयः ,,) सोमेन सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा। ,,

(तृतीयः ,,) यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मण इति ब्राह्मणः। ,,

(चतुर्थः ,,) तं राजन्। राजन्पारयामसि। पारयामसीति पारयामसि। ,,

[८] घनः ।

घनश्चतुर्विधः । घनो घनवल्लभश्च । तौ च प्रत्येकं द्विधा भवतः ।

[१] प्रथमं घन-लक्षणम् ।

अन्तात्क्रमं पठेत्पूर्वमादिपर्यन्तमानयेत् । आदिक्रमं नयेदन्तं घनमाहुर्मनीषिणः ॥

(१) पूर्वार्धस्य (अन्तादादिपर्यन्तम्)

[१] राज्ञेति राज्ञा । सह राज्ञा । सोमेन सह । वदन्ते सोमेन । सं वदन्ते । ओषधयः सं–

(आदितोऽन्तपर्यन्तम्)

सं वदन्ते । वदन्ते सोमेन सोमेन सह । सह राज्ञा । राज्ञेति राज्ञा ।

(२) उत्तरार्धस्य (अन्तादिपर्यन्तम्)

[२] पारयामसीति पारयामसि । राजन् पारयामसि । तं राजन् । ब्राह्मणस्तं । कृणोति ब्राह्मणः। यस्मै कृणोति–

(आदितोऽन्तपर्यन्तम्)

कृणोति ब्राह्मणः । ब्राह्मणस्तं । तं राजन् । राजन् पारयामसि । पारयामसीति पारयामसि ।

[२] द्वितीयं घनलक्षणम् ।

शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत् । अयं घन इति प्रोक्त इत्यष्टौ विकृतीः पठेत् ॥

[१]

शिखापाठः			तस्य विपर्यासः	तत्पदानां पुनः पाठः
ओषधयः सं	समोषधय	ओषधयः सं वदन्ते	वदन्ते समोषधय	ओषधयः सं वदन्ते ॥
सं वदन्ते	वदन्ते सं	सं वदन्ते सोमेन	सोमेन वदन्ते सं	सं वदन्ते सोमेन ॥
वदन्ते सोमेन	सोमेन वदन्ते	वदन्ते सोमेन सह	सह सोमेन वदन्ते	वदन्ते सोमेन सह ॥
सोमेन सह	सह सोमेन	सोमेन सह राज्ञा	राज्ञा सह सोमेन	सोमेन सह राज्ञा ॥
सह राज्ञा	राज्ञा सह	सह राज्ञा ॥	राज्ञेति राज्ञा ॥	

[२]

यस्मै कृणोति कृणोति यस्मै यस्मै कृणोति ब्राह्मणो ब्राह्मणः कृणोति यस्मै यस्मै कृणोति ब्राह्मणः॥
कृणोति ब्राह्मणो ब्राह्मणः कृणोति कृणोति ब्राह्मणस्तं तं ब्राह्मणः कृणोति कृणोति ब्राह्मणस्तं ॥
ब्राह्मणस्तं तं ब्राह्मणो ब्राह्मणस्तं राजन् राजंस्तं ब्राह्मणो ब्राह्मणस्तं राजन् ॥
तं राजन् राजंस्तं तं राजन् पारयामसि पारयामसि राजंस्तं तं राजन् पारयामसि ॥
राजन् पारयामसि पारयामसि राजन् । राजन् पारयामसि ॥ पारयामसीति पारयामसि ।

घनपाठः।

(१ शिखापाठः, २ तस्यविपर्ययः, ३ तत्पदानां च पुनः पाठो घनः)

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे। (ऋ० १।१०।१)

(१) प्रथमोऽर्धः।

[१] गायंति त्वा, त्वा गायंति, गायंति त्वा, गायत्रिणो, गायत्रिणस्त्वा गायंति, गायंति त्वा गायत्रिणः ॥

[२] त्वा, गायत्रिणो, गायत्रिणस्त्वा, त्वा गायत्रिणो,ऽर्चंत्य;—ऽर्चंति गायत्रिणस्त्वा, त्वा गायत्रिणोऽर्चंति ॥

[३] गायत्रिणोऽर्चंत्य,—ऽर्चंति गायत्रिणो, गायत्रिणोऽर्चंत्यर्कम—ऽर्कमर्चंति गायत्रिणो, गायत्रिणोऽर्चंत्यर्कम् ॥

[४] अर्चंत्यर्कम—ऽर्कमर्चंत्य—ऽर्चंत्यर्कमऽर्किणो;ऽर्किणोऽर्कमर्चंत्य—ऽर्चंत्यर्कमर्किणः ॥

[५] अर्कमर्किणो,—ऽर्किणोऽर्कम—ऽर्कमर्किणः ॥ अर्किण इत्यर्किणः ॥

(२) द्वितीयोऽर्धः।

[१] ब्रह्माणस्त्वा, त्वा ब्रह्माणो, ब्रह्माणस्त्वा, शतक्रतो; शतक्रतो त्वा ब्रह्माणो, ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो ॥

[२] त्वा शतक्रतो, शतक्रतो त्वा, त्वा शतक्रत, उदु—च्छंतक्रतो त्वा, त्वा शतक्रत उत् ॥

[३] शतक्रत उदुच्छंतक्रतो, शतक्रत उद्वंशमिव; वंशमिवोच्छंतक्रतो, शतक्रत उद्वंशमिव ॥ शतक्रतो इति शतऽक्रतो ॥

[४] उद्वंशमिव, वंशमिवोदुद्वंशमिव, येमिरे; येमिरे वंशमिवोदु—द्वंशमिव येमिरे ॥

[५] वंशमिव येमिरे, येमिरे वंशमिव, वंशमिव येमिरे ॥
वंशमिवेति वंशम्ऽइव। येमिर इति येमिरे ॥

पञ्चसन्धियुक्तो घनपाठः ।

(घनवल्लभः)

पदद्वयस्य क्रमोत्क्रमव्युत्क्रामाभिक्रमसंक्रमैः पञ्चसन्धिपाठो भवति। अनुलोमविलोमानुलोमैर्जटापाठो जायते। जटया सहोत्तरपदपाठेन शिखापाठो भवति। क्रममुक्त्वा, विपर्यस्य, पुनश्च क्रमपाठे कृते ध्वजो भवति । जटादण्डाभ्यां घनपाठः सिद्ध्यति । सर्वमेवैतत्पञ्चसंधियुते घनपाठे घनवल्लभे समुच्चयेन संगच्छते ।

परा॑ मे यन्ति धी॒तयो॒ गावो॒ न गव्यू॑ती॒रनु॑ ।
इ॒च्छन्ती॑रु॒रु॒चक्ष॑सम् ॥ (ऋ० १।२५।१६)

[१] परा॑ मे । मे॒ मे॒ । मे॒ परा॑ । प॒रा॒ परा॑ । परा॑ मे ॥
परा॑ मे, मे॒ प॒रा॒, परा॑ मे, यंति; यंति मे॒ प॒रा॒, परा॑ मे यंति ॥

[२] मे॒ यं॒ति॒ । यं॒ति॒ यं॒ति॒ । यं॒ति॒ मे॒ । मे॒ मे॒ । मे॒ यं॒ति॒ ॥
मे॒ यं॒ति॒, यं॒ति॒ मे॒, मे॒ यं॒ति॒, धीतयो॑; धी॒तयो॑ यंति मे, मे यंति धी॒तय॑ः ॥

[३] यं॒ति॒ धी॒तय॑ः । धी॒तयो॑ धी॒तय॑ः । धी॒तयो॑ यंति । यं॒ति॒ यं॒ति॒ । यं॒ति॒ धी॒तय॑ः ॥
यं॒ति॒ धी॒तयो॑, धी॒तयो॑ यंति, यंति धी॒तयो॒, गावो, गावो॑ धी॒तयो॑ यंति, यंति धी॒तयो॒ गाव॑ः ॥

[४] धी॒तयो॒ गाव॑ः । गावो॒ गाव॑ः । गावो॑ धी॒तय॑ः । धी॒तयो॑ धी॒तय॑ः । धी॒तयो॒ गाव॑ः ।
धी॒तयो॒ गावो॒, गावो॑ धी॒तयो॑, धी॒तयो॒ गावो॒; न; न गावो॑ धी॒तयो॑, धी॒तयो॒ गावो॒ न ॥

[५] गावो॒ न । न न । न गाव॑ः । गावो॒ गाव॑ः । गावो॒ न ॥
गावो॒ न, न गावो॒, गावो॒ न, गव्यू॑ती॒; ग॑व्यू॑ती॒र्न गावो॒, गावो॒ न गव्यू॑तीः ॥

[६] न गव्यू॑तीः । गव्यू॑ती॒र्गव्यू॑तीः । गव्यू॑ती॒र्न । न न । न गव्यू॑तीः ।
न गव्यू॑ती॒, र्गव्यू॑ती॒र्न, न गव्यू॑ती॒र ऽन्व, ऽनु॒ गव्यू॑ती॒र्न, न गव्यू॑ती॒रनु॑ ॥

[७] गव्यू॑ती॒रनु॑ । अन्वनु॑ । अनु॒ गव्यू॑तीः । गव्यू॑ती॒र्गव्यू॑तीः । गव्यू॑ती॒रनु॑ ॥
गव्यू॑ती॒रन्व ऽनुगव्यू॑ती॒ र्गव्यू॑ती॒रनु॑ ॥ अन्वित्यनु॑ ॥

[८] इ॒च्छंती॑रु॒रु॒चक्ष॑सं । उ॒रु॒चक्ष॑समु॒रु॒चक्ष॑सं । उ॒रु॒चक्ष॑समि॒च्छंती॑ः । इ॒च्छंती॑रि॒च्छंती॑ः ।
इ॒च्छंती॑रु॒रु॒चक्ष॑सं ॥

उ॒रु॒चक्ष॑स॒मित्यु॒रु॒ऽचक्ष॑सं ॥

पञ्चसन्धियुक्तो जटापाठः ।

←————पञ्चसंधिपाठः————→　　←——जटापाठः——→

[१] परा मे । मे मे । मे परा । परा परा । परा मे ॥ परा मे, मे परा, परा मे ॥

[२] मे यंति । यंति यंति । यंति मे । मे मे । मे यंति ॥ मे यंति, यंति मे, मे यंति ॥

[३] यंति धीतयः । धीतयो धीतयः । धीतयो यंति । यंति यंति । यंति धीतयः ॥
यंति धीतयो, धीतयो यंति, यंति धीतयः ।

[४] धीतयो गावः । गावो गावः । गावो धीतयः । धीतयो धीतयः । धीतयो गावः ॥
धीतयो गावो, गावो धीतयो, धीतयो गावः ॥

[५] गावो न । न न । न गावः । गावो गावः । गावो न ॥ गावो न, न गावो, गावो न ॥

[६] न गव्यूतीः । गव्यूतीर्गव्यूतीः । गव्यूतीर्न । न न । न गव्यूतीः॥ न गव्यूतीर्गव्यूतीर्न न गव्यूतीः॥

[७] गव्यूतीरनु । अन्वनु । अनु गव्यूतीः । गव्यूतीर्गव्यूतीः । गव्यूतीरनु ॥
गव्यूतीरन्वनु गव्यूतीर्गव्यूतीरनु ॥ अन्वित्यनु । अन्वित्यनु ॥

[८] इच्छंतीरुरुचक्षसं । उरुचक्षसमुरुचक्षसं । उरुचक्षसमिच्छंतीः । इच्छंतीरिच्छंतीः ।
इच्छंतीरुरुचक्षसं ॥
इच्छंतीरुरुचक्षसमुरुचक्षसमिच्छंतीरिच्छंतीरुरुचक्षसं ।

उरुचक्षसमित्युरुऽचक्षसं । उरुचक्षसमित्युरुऽचक्षसं ॥

[एवमेव पञ्चसन्धियुक्ताः सर्वा अपि विकृतयः पठ्यन्ते वेदविद्भिः ।
पदक्रम विशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः ।
स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसंपदम् ॥
संहितापाठतः पुण्यं द्विगुणं पदपाठतः ।
त्रिगुणं क्रमपाठेन जटापाठेन षड्गुणम् ॥ (वराहपुराणे)

प्रश्नाः

१ पञ्चसन्धिका लक्षण लिखिये और करके बताइये ।

२ विकृति कितनी हैं ? और उनके लक्षण क्या है ।

३ प्रत्येक विकृति करके बताइये ।

४ ऋषियोंने वेदकी सुरक्षाके लिये इतने यत्न किये थे, पर आप वेदको सुरक्षित रखनेके लिये क्या कर रहे हैं ?

५ क्या आपके घरमें वेदके ग्रंथ हैं ?

६ क्या आप प्रतिदिन वेदोंका पठन पाठन करते हैं ?

७ क्या आपने वेदोंका प्रचार करनेके कार्यमें तन मन धनकी सहायता की है ?

८ क्या आपने अच्छे वेदोंके ग्रंथ लेकर वेदपाठियोंको दिये हैं ?

९ क्या आपने वेदोंका अच्छा मुद्रण होनेके लिये तन मन धनसे सहायता की है ?

१० क्या आप जानते हैं कि 'वेदोंका पढना पढाना, सुनना सुनाना, समझना समझाना, और वेदज्ञानका प्रचार करना और कराना आपका आवश्यक कर्तव्य है ?'

११ क्या आप जानते हैं कि वेद ज्ञानके प्रचारसे विश्वमें शान्ति स्थापन हो सकती है, इसलिये यह प्रचार करना और करवाना आपका कर्तव्य है ?

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान है। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?

छप रहे हैं।

१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायेंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए. भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला - सतरहवाँ व्याख्यान

वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है ?

गत व्याख्यानमें हमने देखा कि कितने प्रयत्न करके वेद मंत्रोंके संरक्षण करनेका प्रयत्न प्राचीन कालके ऋषियोंने किया था। पद पदको स्वरके समेत सुरक्षित रखनेका यत्न हुआ था। इतने प्रयत्नोंसे ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किया और वे वेद हमारे पास आगये हैं। क्या हम इन वेदोंका संरक्षण करनेके लिये यत्न कर रहे हैं ? यह प्रश्न आजके वैदिक धर्मियोंसे पूछना योग्य है।

ब्राह्मणका कर्तव्य

प्राचीन कालमें ब्राह्मण जातीने वेदोंके संरक्षणका भार अपने ऊपर लिया था। ' ब्राह्मणेन निष्कारणो वेदोऽध्येयः ' ब्राह्मणने वेदका अध्ययन करना चाहिए और उसके बदले किसी तरहके वेतनकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। ऋषिकालसे इस समयतक ब्राह्मणोंके इस तरहके अथक परिश्रमसे वेद सुरक्षित रहे हैं। ब्राह्मणके घर पुत्र उत्पन्न हुआ तो वह वेदका अध्ययन करना अपना कर्तव्य ही है ऐसा मानता था, आठवें वर्षमें उपनयन होते ही वह वेदोंको कण्ठ करने लगता था और यही अपना कर्तव्य है ऐसा मानता था। अन्य क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र उस ब्राह्मणका आदर करते थे और अपने घरमें नाना संस्कार करनेके लिये उस ब्राह्मणको बुलाते और उसको दक्षिणा तथा अन्य प्रकारका दान देते थे। इस तरह ब्राह्मणका संरक्षण धनादिका दान देकर वे करते थे। इस पद्धतिसे परस्पर सहकार्यसे वेदोंका संरक्षण होता था।

आज यह सारी परिस्थिति बदल गयी है। अन्य जातियां ब्राह्मणका द्वेष करने लगीं, संस्कार करनेकी इच्छा किसीमें रही नहीं। इस कारण ब्राह्मणका वृत्तिनाश हुआ। वेदपाठी ब्राह्मण भूखों मरने लगे। इस कारण ब्राह्मणोंने वेदपाठ करना छोड दिया और वे दूसरे धंदोंमें लग गये। आजीविकाके लिये कई ब्राह्मणोंको मोचीका धन्दा करना पडा, कई सुतार और लुहारका धन्दा करने लगे, कई व्यापारमें लगे। इस तरह ब्राह्मणोंको अन्य व्यवसाय अपनी आजीविकाके लिये करना आवश्यक हुआ।

जबतक आजीविका चलती रही तबतक ब्राह्मण वेदपाठमें अपना जीवन लगाते रहे। जबसे आजीविका चलनी बन्द हुई, तबसे ब्राह्मण दूसरा धन्दा करने लगे। किसी एक जातीने वेद रक्षणके लिये अपना जीवन समर्पित किया हो ऐसा किसी अन्य देशमें नहीं हुआ। इतिहासमें भारत देशके अतिरिक्त किसी भी अन्य देशकी किसी जातीने अपने धर्म ग्रन्थके संरक्षणार्थ अपने जीवनके जीवन अर्पण किये हों ऐसा उदाहरण ही नहीं है। भारत वर्षके ब्राह्मणोंने ही ज्ञानके संरक्षणके लिये अपने जीवनका ऐसा यज्ञ किया था। सब अन्य जातियोंने यह जान लिया था, इसलिये सब अन्य जातियां ब्राह्मणका आदर करती थीं और उनकी आजीविका चलाती थी। अंग्रेजोंके आनेके पश्चात् यह व्यवस्था टूट गयी और वेदको छोडकर अन्य व्यवसाय ब्राह्मणोंको करना आवश्यक हुआ। इसलिये वेदका संरक्षण इस समय बडे संकटमें पडा है। भारत राष्ट्रपर यह एक आपत्ति ही है। सब भारतीयोंको इसका विचार करना चाहिये।

ब्राह्मण जाति वेदरक्षण करती थी, इसलिये अन्य जातियां ब्राह्मणका आदर करके उसकी आजीविका चलाती थीं। क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रके पास जो था वह वे जातियाँ ब्राह्मणको देती थीं और दानपर अपना निर्वाह करके ब्राह्मण वेदका संरक्षण करते थे।

आज भी यदि ऐसा हो तो ही वेदका संरक्षण हो सकता है। भविष्यमें वेदोंको कण्ठ करनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु वेदोंके ग्रन्थ मुद्रित करना, वेदमन्त्रोंकी नाना प्रकारकी सूचियां तैयार करके उनका मुद्रण करना, वेदोंके सुबोध भाष्य तैयार करना, इस तरहसे भविष्यमें वेदोंका संरक्षण हो सकता है। 'जो ये ग्रन्थ तैयार करेंगे वे ब्राह्मणोंका कार्य करेंगे और अन्य लोग उनका जीवनव्यवहार चलावेंगे तथा उनके मुद्रण कार्यकी सहायता करेंगे' तभी भविष्य कालमें वेदोंका उत्तम रीतिसे संरक्षण हो सकता है।

जैसा पूर्व समयमें ब्राह्मण वेद कण्ठ करते थे और अन्य लोग उनकी आजीविका चलाते थे, वैसा ही वेदोंके मुद्रणका आर्थिक भार अन्य लोगोंको उठाना चाहिये। ब्राह्मणोंने वेदका रक्षण किया, पर अन्य जातियोंने ब्राह्मणोंका पालन पोषण किया। इसी तरह आज भी अन्य धनिकोंने सहयोग दिया तो वेदका आज भी उत्तम रीतिसे संरक्षण हो सकता है।

पर यदि धनी लोग धन न देंगे और वेदग्रन्थोंका प्रकाशन ब्राह्मणोंका ही कार्य है ऐसा धनी लोग समझने लगेंगे, तो वेदोंका संरक्षण नहीं हो सकेगा।

अब हम यहां वेद रक्षणके लिये क्या करना चाहिये और उसको कितना व्यय लगेगा इसका संक्षेपसे विवरण करते हैं। इससे किसपर कौनसी जिम्मेवारी है इसका पता लग जाएगा। जिसकी जो जिम्मेवारी है वह उसने की तो वेदोंका संरक्षण हो सकेगा।

वेद मुद्रण निधि

ईसाई लोग अपने बायबलके प्रचारके लिये करोडों रु. खर्च करते हैं, मुसलमान अपनी कुरानके लिये लाखों रु. खर्च करते हैं। इस लिये इनके ग्रंथ बाजारमें मिलते हैं। वैसा हिन्दु नहीं करते इसलिये हिन्दु-धर्मके ग्रंथ उस प्रमाणमें बाजारमें मिलते नहीं। यह धनिकोंका दोष है। इस लिये अपने धर्मग्रंथका संरक्षण करनेके लिये धनिकोंको अपने धनका दान करना योग्य है। विद्वान ग्रंथ तैयार कर सकते हैं, पर उनका मुद्रण धनके बिना नहीं हो सकता। इसलिये वेद मुद्रणके लिये एक बडा निधि धनिकोंने जमा करके इसी कार्यके लिये रखना चाहिये। वेद रक्षण इस निधिसे ही हो सकता है। वेदग्रंथोंका मुद्रण इस निधिसे होगा, और इन ग्रंथोंका पठन पाठन, मनन तथा विचार और प्रचार होनेसे वेदोंका संरक्षण हो सकता है।

वेदधर्मके ग्रंथरक्षणकी पद्धति अब बदल गयी है, पहिले कण्ठ करते थे, अब मुद्रित करके और उनके पठन पाठनकी व्यवस्था करनेसे वेदोंका उत्तम रीतिसे संरक्षण आज भी हो सकता है। और इन दिनोंमें इससे अधिक उपयोग भी हो सकता है।

अन्य देशोंमें वेदरक्षण

इस भूमंडलपर जो ज्ञान संपन्न देश हैं, वे वेदोंके अध्ययनके लिये बहुत धन लगा रहे हैं। इस विषयके थोडेसे वर्णन यहां देना योग्य है; उदाहरण देखिये—

१ **वेदोंकी पादसूची** – संपूर्ण वैदिक वाङ्मयकी चरण सूची अमेरिकाकी हार्वर्ड युनिवर्सिटीने प्रकाशित की है। और इसके कापर ब्लॉक भी बनाये हैं। लाखों रु. का व्यय इस पर हुआ है। श्री मोरिस ब्लूमफील्डजीका यह ग्रंथ वैदिक वाङ्मयका अध्ययन करनेवालोंके लिये उत्तम सहायक होनेवाला है। यह इंग्लिश लिपिमें छपा है। इसमें और थोडा अधिक ग्रंथोंके वचनोंका समावेश करके कोई भारतीय संस्था इसको देवनागरी अक्षरोंमें छापे तो वह ग्रंथ बडा सहायक हो सकता है। इसके देवनागरीमें मुद्रणके लिये ५००००) रु. लगेंगे। इसके ब्लाक बनाने हों तो एक लाख रु. से अधिक व्यय लगेगा।

२ **अथर्ववेदका अनुवाद** – श्री व्हिटने कृत इसी संस्थाने प्रकाशित किया है।

३ **बृहद्देवता** – ऋग्वेदके देवताओंका दर्शन करानेवाला ग्रंथ।

४ **ऋग्वैदिक पुनरुक्ति** – ऋग्वेदमें जो जो मन्त्र भाग जहां जहां पुनः पुनः आ गया है। वह इन दो भागोंमें दिया है। वैदिक अध्ययन करनेवालोंके लिये ये दोनों भाग बहुत ही सहायक होते हैं।

५ **तैत्तिरीय संहिता का अनुवाद** – श्री कीथ महोदयका किया हुआ है। यह भी अमेरिकामें ही छपा है।

६ श्री मोक्षमुल्लरने जो प्रकाशन किया है वह भी बडी मेहनतसे और बडे संशोधनसे किया है। इनके कई ग्रंथ बहुत ही उपयोगी हैं।

७ जर्मनीमें वेदोंका प्रकाशन—जर्मनीमें वेदोंका प्रकाशन बहुत ही हुआ है और वह बडा ही उपयोगी है। रोमन, लिपिमें ऋग्वेदका प्रकाशन, देवनागरी लिपिमें सामवेदका प्रकाशन, अग्नि मन्त्रोंका प्रकाशन तथा अन्यान्य ग्रंथोंका प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी है।

८ रशियामें, फ्रान्समें, तथा इंग्लैंडमें भी अनेक विद्वानोंने वेदादिग्रन्थोंका जो प्रकाशन किया है वह सब बडा उपयोगी है। इस तरह यूरोप अमेरिकामें वेदोंका अभ्यास और वेदोंके मन्त्रोंकी खोज हो रही है। डेढसौ वर्षोंसे वे वेदकी ओर आकर्षित हुए हैं। जर्मनी, इंग्लैंड, रशिया तथा अमेरिकामें भारतके प्राचीन लिखित ग्रंथ हजारोंकी संख्यामें हैं। इनमें जर्मनी और इंग्लैंडमें बहुत ही हैं। ये लोग भारतके वेदादि ग्रंथोंका अध्ययन करते हैं और इससे लाभ भी प्राप्त करत हैं। परन्तु भारतमें इस विषयमें उदासीनता है। भारतके कुछ पंडित इस खोजमें लगे हैं, परन्तु भारतके धनी लोग इस विषयमें पूर्ण उदास हैं। इस कारण इस विषयमें जैसी होनी चाहिये वैसी खोज नहीं हो रही है। वास्तवमें वेद भारतीयोंके ग्रन्थ होनेके कारण भारतीयोंको ही इसके विषयमें अधिक यत्नवान् होना चाहिये।

भारतीय विद्वानोंकी संमतियां

प्राचीन भारतके विद्वान् तो वेदके विषयमें अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। इसलिये भारतके प्राचीन विद्वान् तो वेदके विषयमें उत्तम संमति प्रकट करेंगे ही। इनकी थोडीसी संमतियां देखिये—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥
ऋ. १०।९०।९; वा. य. ३१।७

'उस सर्वपूज्य परमात्मासे ऋग्वेद, सामवेद उत्पन्न हुए, छन्द (अथवा अथर्ववेदके मंत्र) उत्पन्न हुए और उसीसे यजुर्वेद भी उत्पन्न हुआ।' इस तरह जगदीश पुरुष परमेश्वरसे वेद हुए ऐसा वेदमें कहा है, तथा अथर्ववेदमें भी कहा है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व. १०।७।२०

*

'जिस परमात्मासे ऋचाएं हुईं, ऋग्वेद हुआ, जिससे यजुर्वेद हुआ, सामवेद जिसके लोम जैसे हैं, अथर्ववेद जिसका मुखके समान है, उस परमात्माको सब विश्वका आधारस्तंभ कहते हैं वही अत्यंत आनन्दपूर्ण है।'

इस तरह चारों वेद ईश्वरके शरीरके भाग ही हैं ऐसा वर्णन भी वेदमें है। शतपथ ब्राह्मणमें भी कहा है—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत्
यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः॥
श० ब्रा० १४।५।४।१०

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद इस महा सामर्थ्यशाली परमेश्वरके निश्वास हैं!' जिस तरह प्राणीके शरीरसे श्वास उच्छ्वास चलते हैं, उस तरह परमात्मासे ये चारों वेद निकले या प्रकट हुए हैं अर्थात् ये वेद परमेश्वरके स्वभाव सिद्ध जीवन रूप हैं, जैसे प्राण प्राणीके जीवनरूप होते हैं।

तेभ्यस्तप्तेभ्यः त्रयो वेदा अजायन्त।
अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥
श. ब्रा. ११।५।२।३

'अग्नि वायु सूर्यको तपाया, उन तपाये हुए देवोंसे तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद, और सूर्यसे सामवेद प्रकट हुए हैं।'

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम्॥
मनु. १।२३

'अग्नि वायु सूर्यसे ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद रूप सनातन ब्रह्मका दोहन किया गया।' यह मनुस्मृतिका कहना है।

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं।
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥ श्वे० उ० ६।१८

'जो ब्रह्माको निर्माण करता है और जो वेदोंको प्रकट करता है उस परमात्माको वन्दन करना योग्य है।' परमेश्वर ब्रह्मा चारों वेदोंका ज्ञाता निर्माण करता है और उससे चारों वेदोंका प्रकाश करता है।

तथा न्यायशास्त्रमें गौतमाचार्य कहते हैं—

आप्तोपदेशः शब्दः। न्या. २।१।२

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यं आप्तप्रामाण्यात् ॥ न्या. २।१।६७

साक्षात्कृतधर्मा जो आप्त है उसका शब्द प्रमाण मानने योग्य है। मंत्र और आयुर्वेदके वचनका प्रामाण्य जैसा मानते हैं वैसा ही वेदका प्रामाण्य मानने योग्य है।

कणादमुनि अपने वैशेषिक दर्शनमें लिखते हैं—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । वै. द. १।१।३

'ईश्वरका वचन होनेसे वेदका प्रामाण्य मानना योग्य है।'

योगदर्शनमें पतञ्जलिमुनि लिखते हैं—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।
यो. द. १।१।२६

'परमेश्वर सबका गुरु है, क्योंकि वह कालके परे है। इसलिये उसके वचनका प्रामाण्य मानना चाहिये।'

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास वेदान्तदर्शनमें लिखते हैं—

शास्त्रयोनित्वात् । वे. द. १।१।३

अत एव च नित्यत्वम् । वे. द. १।३।२९

'परब्रह्मसे वेदशास्त्रकी उत्पत्ति होती है, इसलिये वेदका प्रामाण्य है और वे वेद नित्य हैं।'

इस तरह वेदमंत्र, ब्राह्मण वचन, उपनिषद्वचन और दर्शनकारोंके वचन यहां दिये हैं। इन सब वचनोंका आशय यही है कि वेदको प्रमाण मानना योग्य है। प्राचीन ऋषि-मुनि जितने हुए वे सर्व वेदका प्रामाण्य मानते थे।

बृहस्पति, उसका शिष्य चार्वाक ये वेद प्रामाण्य नहीं मानते थे। पर ऐसे न माननेवाले थोडे हैं। प्रायः सभी ऋषिमुनि वेदको आदरकी दृष्टिसे देखनेवाले ही थे। सब स्मृतियां वेद प्रामाण्य माननेवाली हैं। ये स्मृतियां करीब करीब ४८ हैं। इन सबके वचन देनेकी आवश्यकता नहीं है। ऊपर मनुस्मृतिका वचन दिया है। मनुने तो यहांतक कहा है कि—

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः ज्ञेयाः तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
मनु. १२।९५

'जो वेदबाह्य स्मृतियां हैं, वे सब कुदृष्टियां हैं, वे निष्फल हैं और तमरूप हैं, वे त्याज्य हैं।' इस तरह स्मृतियोंका कथन है। सब स्मृतियां वेदको शिरोधार्य मानती हैं। और देखिये—

१ श्री भगवान् मनु महाराज – (वेदोऽखिलो धर्ममूलं) वेद धर्मका मूल है।

२ श्रीमच्छंकराचार्य – (सर्वज्ञानमयो वेदः) = वेद सब प्रकारके उत्तम ज्ञानसे युक्त है।

३ श्री ऋषि दयानन्द सरस्वती – "वेदोंका पढना पढाना आर्योंका परम धर्म है।

इस रीतिसे प्राचीन अर्वाचीन भारतीय विद्वान् वेदके विषयमें उत्तम संमति प्रकट करते हैं। अब विदेशी विद्वान् वेदके विषयमें कितनी प्रशंसा गाते हैं; देखिये—

युरोपीयनोंकी संमतियाँ

१ बार्थ – वेदोंका तत्त्व विशेष ही उत्तम है।

२ श्री आनि बिझांट – (वेदशिरोभागरूप) उपनिषदोंसे अधिक उच्च और अधिक श्रेष्ठ ज्ञान हिंदुओंको दूसरे कोई लोग दे नहीं सकते, क्योंकि वैसा किसी दूसरेके पास नहीं है, वास्तवमें हिंदू धर्म ही अन्य देशोंको धर्मके विषयमें बहुत कुछ दे सकता है।

३ बिओर्न स्तोर्न कोर्ट – ग्रीक और रोमसे हिंदु तत्त्वज्ञान अधिक श्रेष्ठ है। ... ये उच्च तत्त्वज्ञानके ग्रंथ वेद हैं। ये एक ईश्वर है ऐसा प्रतिपादन करते हैं। वह ईश्वर स्वयंभू, अनादि अनंत और सर्व शक्तिमान है और यही विश्वका आधार और विश्वका प्रकाश है।

४ डा. मिर्का एली डे – भारत तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयमें यूरोपको बहुत कुछ सिखा सकता है।

५ डा. गोल्डस्टकर – पूर्वके देश भारत वर्षने वेदान्तका प्रचार करके बहुत ही उत्तम ज्ञान जगत्‌को दिया है।

६ श्री ग्रिफिथ – ऋग्वेदमें हम देखते हैं कि स्वातंत्र्य और मुक्तिके विषयके निश्चित सिद्धान्त प्रतिपादन किये हैं।

७ प्रो० हीरेन – तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयमें भारत वर्षसे अन्य राष्ट्रोंने बहुत कुछ सीखा है। ... वेद प्राचीन ग्रन्थ हैं, प्राचीनसे प्राचीन संस्कृत ग्रंथ वेदका प्राचीनत्व मानते हैं। वेदोंके समान माननीय ग्रंथ किसी दूसरे देशमें नहीं कि संस्कृतसे भिन्न किसी दूसरी भाषामें भी नहीं है मनुष्योंको उन्नतिका मार्ग दिखानेके लिये वेद प्रकाश बताते हैं।

८ म. लुइस जेकोलियट – भारतने अन्य देशोंको उच्च सभ्यता दी है।

९ दी कौंटेस आफ जेर्सी – उपनिषदोंने मानवी

मनोंकी आकांक्षाएं तृप्त की हैं। ऋषियोंके सूक्ष्मतर्कपद्धतिने मानवी विचारोंको परिशुद्ध किया है।

१० मिसेस मानिंग – हिंदु तत्त्वज्ञान (उपनिषदोंके तत्त्वज्ञान) ने सिद्ध किया है कि हिंदु सभ्यतामें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर चुके थे।

११ प्रो० मोक्षमुल्लर – वेद प्राचीनतम ग्रंथ हैं। इससे अधिक प्राचीन ग्रंथ दूसरा कोई नहीं है। ... भारत वर्ष पृथ्वीपरकी स्वर्गभूमि है। ... हिंदू पुराणोंपरसे अन्य देशके पुराण लिखे गये हैं। वेद, वेदभाषा, वैदिक धर्म और वैदिक तत्त्वज्ञान सबसे प्राचीन है। .... वेदके समान महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दूसरा कोई नहीं है। अतः वेदोंका अध्ययन अनिवार्य है इतना इसका महत्त्व है। ... वेद अपूर्व ग्रंथ हैं और उनका संरक्षण भी अपूर्व पद्धतिसे ही किया गया था। वेदमें कोई विदेशीय कल्पना नहीं है।

१२ पिकेट – संस्कृत भाषा सब भाषाओंमें पूर्ण भाषा है और प्राचीनतम भाषा है।

१३ रागोझिन झेनैदे – ऋग्वेद निःसंदेह प्राचीनतम ग्रंथ है और सब ग्रंथोंमें श्रेष्ठ ग्रंथ है।

१४ रोमाँ रोलन्द – मानवोंके स्वप्न जहां यशस्वितासे प्रत्यक्षमें आये हैं, वह भारत देश ही है। भारतके तत्त्वज्ञानने मानवोंको सत्यकी ओर पहुंचाया है।

१५ शोपेन होअर – उपनिषदोंने मुझे जीवनमें शांति दी है और मृत्युके समय भी वे ही मुझे शांति देंगे।

१६ प्रो० वेबर – वैदिक समयमें समाजमें स्त्रियोंका स्थान पूर्ण रीतिसे स्वतंत्र और उच्च था।

१७ प्रो० विल्सन – वैदिक लोग कर्म करनेवाले लोग थे। सुवर्ण तथा लोहेके कवच वहां हम देखते हैं। नौकाओंसे समुद्र पार होनेका वर्णन हम देखते हैं। बहुत प्रकारके शिल्प वहां दीखते हैं।

इस तरह अनेक यूरोपीयन विद्वान् वेदादि ग्रंथोंकी प्रशंसा गाते हैं।

इतने उत्तम ग्रन्थ हमारे पास हैं, पर दुर्दैवकी बात यह है कि ये ग्रन्थ आज शुद्ध सुन्दर और आकर्षक रीतिसे छपे नहीं मिलते और जो मिलते हैं वे सस्ते नहीं मिलते। इसका कारण एक मात्र यह है कि इस कार्यके लिये धनकी आवश्यक सहायता धनिकोंसे नहीं मिलती और पण्डित केवल अपने ही धनसे इतना बडा मुद्रणका कार्य कर ही नहीं सकते। इसलिये हमें ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे ये वेद उत्तमसे उत्तम मुद्रित होकर जनताको मिलें और घर घरमें इनका पाठ हो।

वेदोंका मुद्रण

अब हम यहां बताना चाहते हैं कि वेदोंका मुद्रण किस तरह होना चाहिये।

१ वेदोंका स्थूल अक्षरोंमें मुद्रण

नित्य पाठके लिये वेदोंका मुद्रण स्थूल अक्षरोंमें करना चाहिये। ये ग्रन्थ मन्दिरोंमें, ग्रन्थालयोंमें तथा धनिकोंके और विद्वान् पंडितोंके घरोंमें रहें। अक्षर बडे हों, कागज मोटा और सुन्दर हो, जिल्द उत्तमसे उत्तम हो, सुवर्णाक्षरोंसे जिल्द सुशोभित हो और पुस्तकके तीनों बाजुओंमें सुवर्णका रंग लगा हो।

जितनी सुन्दरता की जा सकती हो उतनी की जाय। इस तरह बने चारों वेदोंका मूल्य ५०) रु. से अधिक होगा। जो मूल्य होना योग्य है वह हो, परन्तु यह मुद्रण सर्वांग सुन्दर होना चाहिये।

इसका नमूना पृष्ठ यह है

(१) पहिला नमूना

—(ऋग्वेद १०।१९१)—

४ संवनन आंगिरसः । १ अग्निः, २--४ संज्ञानम् । अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥

सूचना— यहां स्वर दिये नहीं हैं, परंतु यह स्वरोंके साथ छापा जायगा । और पृष्ठका आकार भी इससे दुगुणा रहेगा ।

[२] दूसरा नमूना

(१)

(ऋग्वेद १०।१६३)

६ विवृहा काश्यपः । यक्ष्मनाशनम् । अनुष्टुप् ।

अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं१ अंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते ॥ ३ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो वि वृहामि ते ॥ ४ ॥
मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ५ ॥
अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

(२)

(ऋग्वेद १०।१६४)

५ प्रचेता आङ्गिरसः । दुःस्वप्ननाशनम् । अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ५ पङ्क्तिः

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ १ ॥
भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम् ।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ २ ॥
यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ ३ ॥
यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः ॥ ४ ॥
अजैष्माद्यासनाम चाऽभूमानागसो वयम् ।
जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ॥ ५ ॥

[३] तीसरा नमूना (अ)

(ऋग्वेद (१०।९०)

१६ नारायणः । पुरुषः । अनुष्टुप्, १६ त्रिष्टुप् ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

(९१)

१५ अरुणो वैतहव्यः । अग्निः । जगती, १५ त्रिष्टुप् । अष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ सूक्त ९१

सं जागृवद्भिर्जरमाण इध्यते दमे दमूना इषयन्निळस्पदे । विश्वस्य होता हविषो वरेण्यो विभुर्विभावा सुषखा सखीयते ॥ १ ॥
स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव । जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्यो३ विशंविशम् ॥ २ ॥
सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् । वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ॥ ३ ॥
प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः । आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः ॥ ४ ॥
तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः । यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमास्ये ॥ ५ ॥
तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः । तमित् समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा ॥ ६ ॥
वातोपधूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक् शर्धांस्यग्ने अजराणि धक्षतः ॥ ७ ॥
मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम् । तमिदर्भे हविष्या समानमित् तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत् ॥ ८ ॥
त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेषु वेधसः । यद्देवयन्तो दधति प्रयांसि ते हविष्मन्तो मनवो वृक्तबर्हिषः ॥ ९ ॥
तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः । तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ १० ॥
यस्तुभ्यमग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशदुत वा हविष्कृति । तस्य होता भवसि यासि दूत्य१मुपब्रूषे यजस्यध्वरीयसि ॥ ११ ॥
इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋचो गिरः सुष्टुतयः समग्मत । वसूयवो वसवे जातवेदसे वृद्धासु चिद्वर्धनो यासु चाकनत् ॥ १२ ॥

[३] तीसरा नमूना (आ)

(ऋग्वेद १०।९०)

१६ नारायणः । पुरुषः । अनुष्टुप्, १६ त्रिष्टुप् ।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः १६

(९१)

१५ अरुणो वैतहव्यः । अग्निः । जगती, १५ त्रिष्टुप् ।

अष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

सं जागृवद्भिर्जरमाण इध्यते दमे दमूना इषयन्निळस्पदे ।
विश्वस्य होता हविषो वरेण्यो विभुर्विभावा सुषखा सखीयते १
स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव ।
जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्यो३ विशंविशम् २
सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् ।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ३
प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः ।
आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः ४
तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः ।
यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमास्ये ५
तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः ।
तमित् समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा ६
वातोपधूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे ।
आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक् शर्धांस्यग्ने अजराणि धक्षतः ७
मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम् ।
तमिदर्भे हविष्या समानमित् तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत् ८
त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेषु वेधसः ।
यद्देवयन्तो दधति प्रयांसि ते हविष्मन्तो मनवो वृक्तबर्हिषः ९
तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः ।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे १०
यस्तुभ्यमग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशदुत वा हविष्कृति ।
तस्य होता भवसि यासि दूत्य१मुप ब्रूषे यजस्यध्वरीयसि ११
इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋचो गिरः सुष्टुतयः समग्मत ।
वसूयवो वसवे जातवेदसे वृद्धासु चिद्वर्धनो यासु चाकनत् १२

सूचना— तीसरे नमूनेमें दो पृष्ठ हैं। दूसरा पृष्ठ अर्थात् (आ) पृष्ठ पढनेके लिये अच्छा है।

[४] चतुर्थ नमूना

(ऋग्वेद १०।७१)

११ बृहस्पतिराङ्गिरसः । ज्ञानम् । त्रिष्टुप्, ९ जगती ।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीद् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

पदपाठः—

१ बृहस्पते । प्रथमम् । वाचः । अग्रम् । यत् । प्र । ऐरत । नामऽधेयम् । दधानाः ॥
यत् । एषाम् । श्रेष्ठम् । यत् । अरिप्रम् । आसीत् । प्रेणा । तत् । एषाम् । निऽहितम् । गुहा । आविः ॥ १ ॥

२ सक्तुम्ऽइव । तितउना । पुनन्तः । यत्र । धीराः । मनसा । वाचम् । अक्रत ॥
अत्र । सखायः । सख्यानि । जानते । भद्रा । एषाम् । लक्ष्मीः । निऽहिता । अधि । वाचि ॥ २ ॥

३ यज्ञेन । वाचः । पदऽवीयम् । आयन् । ताम् । अनु । अविन्दन् । ऋषिषु । प्रऽविष्टाम् ॥
ताम् । आऽभृत्य । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । ताम् । सप्त । रेभाः । अभि । सम् । नवन्ते ॥ ३ ॥

अन्वयः—

१ हे बृहस्पते ! प्रथमं नामधेयं दधानाः यत् प्रैरयत, (तत्) वाचः अग्रं (अस्ति;) एषां यत् श्रेष्ठं, यत् अ-रिप्रं (दोष-रहितं च) आसीत, तत् एषां (ज्ञानं) गुहा निहितं, तत् प्रेणा (प्रेम्णा) आविः (भवति) ॥ १ ॥

२ तितउना सक्तुं इव, पुनन्तः धीराः यत्र मनसा वाचं अक्रत, अत्र सखायः सख्यानि जानते । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीः निहिता (भवति) ॥ २ ॥

३ (धीराः) वाचः पदवीयं (मार्गं) यज्ञेन आयन् । (ते) ऋषिषु प्रविष्टां तां अन्वविन्दन् । तां (वाचं) आभृत्य पुरुत्रा व्यदधुः । तां रेभाः सप्त (छन्दांसि) अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

स्थानान्तर-पुनरुक्त-प्रदर्शनम्— (१) तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा (ऋ० १०।७१।३) = तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा (ऋ० १०।१२५।३) ॥ (२) तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते (१०।७१।३) = सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते (ऋ० १।१६४।३)

(५) पांचवां नमूना

(ऋग्वेद ७।२०) मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। इन्द्र। त्रिष्टुप्।

मंत्र—

उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावाञ्चक्रिरपो नर्यो यत् करिष्यन्।
जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिस्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित् ॥ १ ॥
हन्ता वृत्रमिन्द्रः शूशुवानः प्रावीन्नु वीरो जरितारमूती।
कर्ता सुदासे अह वा उ लोकं दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत् ॥ २ ॥

अन्वयः—

१ स्वधावान् उग्रः इन्द्रः वीर्याय जज्ञे। नर्यः यत् करिष्यन् अपः चाक्रिः। युवा अवोभिः नृषदनं जग्मिः। महः एनसः चित् नः त्राता ॥ १ ॥

२ शूशुवानः इन्द्रः वृत्रं हन्ता। वीरः ऊती जरितारं प्रावीत् नु। सुदासे लोकं कर्ता वै उ। दाशुषे अह वसु मुहुः दाता आ भूत् ॥ २ ॥

अर्थ—

१ अपनी निज शक्तिसे शक्तिमान हुआ इन्द्र पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है। वह मानवोंका हित करनेके लिये जो करना चाहता है वह कर ही लेता है। वह तरुण वीर अपने संरक्षणके साधनोंके साथ मानवोंके घरोंमें जाता है। वह बडे पापसे हमें बचाता है ॥ १ ॥

२ शक्तिशाली इन्द्र शत्रुका नाश करता है। वह वीर अपने संरक्षणके साधनोंसे अपने भक्तोंका संरक्षण करता है। उत्तम दाताके लिये वह निःसंदेह उत्तम स्थान करके देता है। वह दाताको वारंवार धन देता रहता है ॥ २ ॥

मानव धर्म—

१ मनुष्य अपनी निज शक्ति बढावे, उग्रवीर और शूर बने। मानवोंका हित करनेके लिये जो कार्य करना आवश्यक है वह उत्तम रीतिसे करे। तरुण वीर अपने पास संरक्षणके साधन सदा तैयार रखे। इसमें शिथिलता होने न दे। उन साधनोंसे जनताका संरक्षण करे। पापों और दुष्कर्मोंके मार्गमें लोग न जांय ऐसा उनका संरक्षण करे ॥ १ ॥

२ वीर अपना सामर्थ्य बढावे और शत्रुओंका नाश करे। वीर अपने अनुयायियोंका संरक्षण करे। उत्तम सन्मार्गी लोगोंके लिये उत्तम स्थान रहनेके लिये देवे। जो धनका सत्कार्यमें उत्तम व्यय करते हैं उनको अधिक धन देता रहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—

१ स्वधावान् उग्रः वीर्याय जज्ञे - (स्व) अपनी (धा) धारणा शक्तिसे (वान्) जो युक्त है वह शूरवीर पराक्रम करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ होता है।

२ नर्यः यत् करिष्यन् अपः चक्रिः - (नर्यः) मानवोंका हित करनेवाला शूर जो करना चाहता है वह कर्म कर छोडता है।

३ युवा अवोभिः नृषदनं जग्मिः - तरुण वीर संरक्षणके साधनोंके साथ मानवोंके घर जावे।

४ महः एनः त्राता - वीर लोगोंको बडे पापसे बचावे।

५ शूशुवान् वृत्रं हन्ता - बलवान शत्रुका वध करता है।

६ वीरः ऊती प्रावीत् - वीर रक्षणके साधनोंसे रक्षण करता है।

७ सुदासे लोकं कर्ता - उत्तम दाताको उत्तम स्थान देता है।

८ दाशुषे वसु मुहुः दाता आभूत् - दाताको धन वार वार देता रहे।

देवोंके समान आचरण

जो देवताका वर्णन वेदमन्त्रमें होता है, उस वर्णनको मानवी जीवनमें ढालनेसे वही मानव धर्म होता है। यही मन्त्रका भाव है।

यत् देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि।

श० प० ब्रा०

"जैसा देवोंने आचरण किया वैसा आचरण मैं करूंगा," यह नियम है। इसमें विवेक ऐसा करना चाहिये कि देवताओंकी विशेष महत्ता और मानवी शक्तिकी लघुता आदिके कारण जो भावमें परिवर्तन होता है, वह ध्यानमें रखकर यह मानवधर्म विचारपूर्वक मनन करके ही जानना चाहिये।

'देवयन्तः, देवयन्' ये पद वेदमन्त्रोंमें सेंकडों वार आगये हैं। इनका अर्थ 'देवोंके समान आचरण करनेवाले, देव बननेकी इच्छा करनेवाले,' ये शब्द भी यही भाव बताते हैं कि देवोंके गुण मनुष्योंको अपने अन्दर धारण करने चाहिये। मानव धर्म ही वेद मन्त्र बताते हैं और यह मानव धर्म देखकर मनुष्यको उन्नतिका मार्ग स्वीकारना चाहिये। यही देव बननेका अनुष्ठान है।

इस तरह मानवधर्म तथा आवश्यक टिप्पणी देकर यह ग्रन्थ सर्व साधारण जनताके उपयोगके लिये तैयार करना चाहिये।

[६] दैवत संहिता

आज कल जो चारों वेदोंकी संहिताएं मिलती हैं वे अपने ढंगकी हैं। ऋग्वेदका नवम मण्डल 'सोम' देवताका है अर्थात् यह दैवत मण्डल है, पर बाकीके सब मण्डल आर्षेय मण्डल हैं। अर्थात् ऋषि क्रमानुसार उनमें मन्त्र संग्रह है। सामवेदके सब मन्त्र ऋग्वेदके ही मन्त्र हैं, जो ५०।६० मन्त्र इस ऋग्वेदमें नहीं हैं वे सांख्यायन शाखाके ऋग्वेदमें है। इस कारण सामवेदके मन्त्रोंका विचार पृथक् करनेकी आवश्यकता नहीं है। सामवेदके मंत्र केवल गानेके लिये ही हैं।

अथर्ववेदके मन्त्र देवतानुसार नहीं है, ऋषिके अनुसार नहीं है और विषयानुसार भी नहीं है। इनको देवतानुसार और ऋषिके अनुसार रखना चाहिये।

अथर्ववेदकी शौनक और पिप्पलाद ऐसी दो संहिताएं हैं। उन दोनों संहिताओंके मन्त्र इकट्ठे करके उनको देवतानुसार संग्रहित करके दैवत संहिता बनानी चाहिये।

यजुर्वेदके मंत्रोंको भी देवतानुसार संग्रहित करके उसके मन्त्र देवतानुसार रखने चाहिये। इस रीतिसे चारों संहिताओंके मंत्र देवतानुसार विभक्त करके "दैवत संहिता" बनानी चाहिये।

स्वाध्याय मण्डल द्वारा हमने दैवत संहिता प्रकाशित की थी। वह समाप्त हो चुकी है। अब यह दैवत संहिता पुनः दूसरीवार छापनी चाहिये। क्योंकि कई ग्राहक दैवत संहिता लेनेके इच्छुक हैं। यह संहिता अध्ययनके लिये अत्यंत सहायक है। यह पाठकोंको इसी कारण पसंद आयी थी, अतः सब बिक चुकी। इसका पुनः मुद्रण होना आवश्यक है।

[७] आर्षेय संहिता

नवम मण्डलको छोडकर सब ऋग्वेद संहिता आर्षेय संहिता है, अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्र आर्षक्रमानुसार ही हैं। यदि नवम मण्डलके मन्त्रोंको ऋषिके क्रमानुसार ही संग्रह किया जाय तो वह आर्षेय संहिता होगी। अथर्ववेदके मन्त्र ऋषि क्रमानुसार छांटकर संग्रहित करनेसे, तथा यजुर्वेदके मंत्रोंको वैसे छांटनेसे, यह आर्षेय संहिता बन सकती है।

चारों वेदोंके जो मंत्र हैं, वे ऋषिक्रमानुसार रखकर यह आर्षेय संहिता बनाना सुकर कार्य है। इसमें भी ये प्रत्येक ऋषिके मन्त्र विषयक्रमानुसार इकट्ठे किये जांयगे तो बहुत ही बडा कार्य होगा।

ऋषिक्रमानुसार मन्त्र छांटना यह कार्य सोच विचार पूर्वक होनेवाला है। परन्तु यह कार्य बडा उपयोगी है। इस कारण इस कार्यको करना चाहिये।

ऋषिक्रमानुसार मंत्रोंका अर्थ देखनेसे इस ऋषिने क्या किया था इसका पता लग सकता है, इस ऋषिका तत्त्वज्ञान कैसा था इसका भी ज्ञान हो सकता है। इस तरह एक एक ऋषिके मंत्र एकत्रित करनेसे और उनको विषयानुसार संग्रहित करनेसे जो आर्षेय संहिता बनेगी वह बडी उपयोगी होगी।

'आर्षेय संहिता' यह कोई मनबढन्त नयी कल्पना है ऐसा कोई न समझे। ऋग्वेदके नवम मण्डलको छोडकर अन्य सब ऋग्वेदके मण्डल आर्षेय संहिता ही बनी बनायी है। चारों वेदोंकी आर्षेय संहिता इस तरह बनानेसे मन्त्र-बोधका कार्य बडा ही सुगम हो सकता है।

यजुर्वेदके जितने छन्दोबद्ध अर्थात् पादबद्ध मन्त्र हैं वे इस तरह दैवत और आर्षेय संहितामें छांटकर रखना सुगम कार्य है। पर जो गद्य यजु हैं उनको इस तरह छांटना सुगम नहीं है। जो यह कार्य करेंगे वे इसके विचार करनेके लिये जितना समय आवश्यक है उतना समय अवश्य लें।

[८] विषयानुसार मन्त्र संग्रह

मंत्रोंका विषयानुसार वर्गीकरण

दैवत संहिता और आर्षेय संहिता बननेके पश्चात् "विषयानुसार मन्त्र संग्रह" करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। विषयोंमें (१) वैयक्तिक, (२) राष्ट्रीय और (३) जागतिक ऐसे तीन विभाग करके इनमें भी छोटे मोटे उपविभाग बनाना और अर्थानुसार मन्त्रोंका संग्रह उन उन विभागोंमें करना योग्य है। यजुके सब मंत्र इस तरह अर्थानुसार छांटे जा सकते हैं। नमूनेके लिये कुछ मन्त्रोंके विषयानुसार विभाग हम यहां बताते हैं—

अध्यात्मप्रकरण, अमृतत्वं, आत्मगोपन, ब्रह्म, आत्मा, उच्छिष्ट ब्रह्म, जगतः राजा, विभुः एक आत्मा, जगद्बीजः पुरुषः, ज्येष्ठं ब्रह्म, परमात्मा, ब्रह्मा, भुव, नस्पतिः, भुवनेषु ज्येष्ठः, मधुविद्या, स्वस्त्ययनं-मृत्युंजयः, विराट्, विश्वकर्मा, विश्वजित्, विश्व-प्राणः विश्वस्रष्टा, व्यापको देवः, सौमनस्यं, शान्तिः, संतरणं, स्वस्ति, स्वर्ज्योतिः, विघ्न विनाशनं, ब्रह्मचर्य, ब्रह्मयज्ञः, मेधा, मेधाजननं, वाक्, वेदमाता, अतिथिसत्कारः, आनृण्यं।

कामः, कामस्य इषुः, कामिनोऽभिमुखीकरणं, कुलपा कन्या, पतिः, गर्भाधानं, जाया कामना, तृतीयो नाकः, दम्पती, पतिलाभः, पुष्टिकर्म, पुंसवनं, विवाहः, वीरपुत्रप्रसवः, शाला, संपत्प्राप्ति, स्मरः, अंगानि, आयुर्वर्धनं, दीर्घायुत्वं, पूर्णायुः प्राप्तिः, अञ्जनं, अपामार्गः, भेषजं, आपः, ओषधयः, केशवर्धनं, गर्भस्रावः, पिप्पली, रोहिणी, लाक्षा, वाजीकरणं, विषनाशनं, सौभाग्यवर्धनं, कासशमनं, कुष्ठनाशनं, क्लीबत्वं, गर्भदोषनिवारणं, ज्वरनाशनं, गण्डमाला, तक्मनाशनं, दुःस्वप्ननाशनं, क्रिमिघ्नं विषघ्नं, सर्पविषनाशनं।

अरिष्टक्षयणं, अलक्ष्मीनाशनं, असुरक्षयणं, कृत्या परिहरणं, दस्युनाशनं, पिशाचनाशनं, अभयं, अभ्युदयः, ऊर्जः प्राप्तिः, बलप्राप्तिः, विजयप्राप्तिः, सांमनस्यं, स्वस्तिवाचनं, वीरः, राज्ञः संवरणं, मातृभूमिसूक्तं, राजा, राज्याभिषेकः, राष्ट्रं, राष्ट्रभिवर्धनं राष्ट्रीदेवी, स्वराज्ये राज्ञः स्थापनं, क्षत्रियः।

दुन्दुभिः, वर्मधारणं, रथः, शत्रुसेना नाशनं, सेनानिरीक्षणं, सेनासंयोजनं, संग्रामजयः। अमित्रक्षयणं, शत्रुदमनं, शत्रुनाशनं, मणिः, सपत्नक्षयणो मणिः।

अरातिनाशनं, दुःखनाशनं, पापदूरीकरणं, बन्धमोचनं, शापमोचनं, अन्नं, ओदनः, ब्रह्मौदनं, वासः, शर्म, समृद्धिः, हिरण्यधारणं, सुखं, तपः, यज्ञः, दधिः, घृतं, रात्रिः, पूर्णिमा, अमा, अश्वः, ऋषभः, गावः, गोष्ठः, पशवः, पशुपोषणं, वशा, वाजी, कृषिः, वाणिज्यं।

इस तरह अनेकानेक विषय हैं। यहां दिये हैं वे केवल दिग्दर्शनके लिये ही हैं। वास्तवमें इससे दस गुने ऐसे विषय हैं। इन विषयोंका निश्चय मंत्रार्थकी दृष्टीसे करके उन मंत्रोंको उन विषयोंके अन्दर संगृहीत करना चाहिये। किसी किसी समय एक छंदके या मंत्रके ३।४ टुकडे भी होंगे, किसी स्थानपर अनेक मंत्र एक स्थानपर लाने पडेंगे। कई वार तो वही मंत्र अनेक शीर्षकोंके नीचे लेना पडेगा। अस्तु इसमें जो करना पडे वह करना चाहिये और विषयवार मन्त्र संग्रह करके यह संग्रहग्रंथ बनाना चाहिये।

ब्रह्म पारायण यज्ञ, स्वाहाकार यज्ञ

आज यज्ञमें क्रमसे मन्त्र बोलते हैं और स्वाहा करके आहुतियां डालते जाते हैं। स्वस्ति कर्मके यजनमें अन्त्येष्टीके भी मन्त्र पढते हैं और स्वाहा कह कर आहुतियां डालते हैं। इस तरह जो मन्त्र आवश्यक हैं वे भी असंबद्ध रीतिसे बोलकर आहुतियां डालते हैं। पौराणिक लोग भी 'संहिता स्वाहाकार' करते हैं, इनमें सब संस्कारोंके मन्त्र बोले जाते हैं। आर्य समाजी भी संहिता पाठ करके 'ब्रह्म पारायण यज्ञ' करते हैं और इसमें क्रमसे मन्त्र बोलते और आहुतियां देते जाते हैं।

ये सब कर्म अयोग्य हो रहे हैं। इनकी असंबद्धता दूर करनेके लिये विषय वार मन्त्र रचनाका ग्रन्थ ही सहायक हो सकता है। जिस समय जिस कार्यके लिये हवन करना हो, मन्त्रजप करना हो, सूक्तपाठ करना हो, या और कुछ यज्ञकर्म करना हो, तो तदनुकूल प्रकरणोंके मन्त्र इकट्ठे किये जा सकते हैं और वह कर्म किया जा सकता है। योग्य मन्त्र बोले जानेके कारण यजमान और ऋत्विजोंको भी योग्य रीतिसे कर्म करनेका आनन्द प्राप्त होगा, और अयोग्यमन्त्र अयोग्य स्थानमें नहीं बोला गया यह यथासांग कर्म करनेका जो आनन्द है वह कर्ताको प्राप्त होगा।

वेदाध्ययनकी सहूलियत

इसके अतिरिक्त चारों वेदोंके मन्त्र प्रकरणोंमें योग्य क्रमसे लगे रहनेके कारण इनका अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन सहज और सुखसे हो सकता है। आज चार वेदोंका अध्ययन करनेके लिये १० वर्ष लगते हैं, पर प्रकरणशः मन्त्र बांटे जानेके बाद यही चारों वेदोंका अध्ययन २।३ वर्षोंके अन्दर सहजहीसे हो सकता है। इस लिये प्रकरणानुसार वेद मंत्रोंका बंटवारा करके जहांतक हो सके वहांतक शीघ्र ही यह ग्रंथ निर्माण करना आवश्यक है।

वेदका धर्म क्या है, वेदके सिद्धान्त निश्चयसे कौनसे हैं, कौनसा मत वेदानुकूल है और कौनसा मत वेद विरुद्ध है यह सब इस ग्रन्थसे विदित हो सकता है। इस ग्रंथके प्रकाशनसे वेदका शुद्ध धर्म जनताके सामने सूर्य प्रकाशके समान प्रकट होगा। इस हेतुसे यह ग्रन्थ शीघ्र प्रसिद्ध होना चाहिये।

४।५ विद्वान विचार पूर्वक निष्पक्ष भावसे एक स्थानपर बैठकर यह कार्य करेंगे तो इस ग्रन्थकी निर्मिति एक वर्षमें हो सकती है। २५००० मन्त्र चारों वेदों और शाखा संहिताओंके मिलकर हैं। पांच विद्वान् इसी कार्यके लिये बैठेंगे तो एकके ऊपर ५००० मन्त्रोंका भार आ जायगा। एक दिनके लिये १५।२० मंत्रोंका वर्गीकरण करनेसे एक वर्षके अन्दर इन सब मंत्रोंका वर्गीकरण हो सकता है। यह कोई असंभव अथवा अशक्य कार्य नहीं है। इतनी ही बात है कि ये विद्वान अपनी संमति वेदोंपर लगानेवाले नहीं होने चाहिये। परन्तु वेद मन्त्र जो अर्थ बोल रहा है उसका स्वीकार करके उसका वर्गीकरण इन्होंने करना चाहिये।

जनताका कर्तव्य

वेदधर्म राष्ट्रीय धर्म है। सब मानवोंका धर्म है। इस समय ये वेद भारतीयोंके पास हैं; इस लिये भारतीयोंको ही इसका प्रकाशन पूर्वोक्त रीतिसे करना चाहिये और घर-घर वेदके धर्मकी जाग्रति करके भारतीयोंका अभ्युत्थान अतिशीघ्र होनेके लिये यह यत्न करना चाहिये।

वेद और स्मृतिग्रंथ

वेदका जो धर्म है वह स्मृतियोंमें सुबोध रीतिसे दर्शाया है। इसलिये कौनसा स्मृतिवचन वेदमन्त्रके अनुकूल है और कौनसा वचन वेदके विरुद्ध है, इसका भी निर्णय विद्वानोंको करना चाहिये। जब इस रीतिसे वेदोंका अध्ययन होगा और वेदके ज्ञानका प्रकाश जनतामें पडेगा, उस समय वेदमन्त्र और स्मृतिवचनोंकी तुलना की जा सकती है। इसी तरह इतिहास और पुराणोंकी भी तुलना करनी चाहिये। पर यह कार्य वेदाध्ययनके पश्चात् होनेवाला है। परन्तु यह कार्य करना चाहिये और इसकी तैयारी अभीसे करनी चाहिये।

व्ययका प्रबंध

यह कार्य वेदके धर्मका प्रकाश करनेके लिये करना आवश्यक है। यदि पंडित लोग विचार पूर्वक यह कार्य करेंगे तो ये सब ग्रन्थ ४।५ वर्षोंमें निर्माण हो सकते हैं। परन्तु इनके मुद्रणके लिये व्यय दस बारह लाख रु. लगेगा। वह धनिकोंको देना चाहिये। पंडित लोग अपना कर्तव्य करें और धनी लोग अपना कर्तव्य करें। इस तरह सबके सहकार्यसे ही यह वेदके धर्मकी जाग्रती हो सकती है।

परमेश्वर करे और सब भारतीयोंका सहकार्य इस वेद प्रकाशनके लिये मिले और यह वेद प्रकाशनका कार्य शीघ्र ही सुसंपन्न हो।

यहां प्रत्येक पाठकसे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि "प्राचीन ऋषियोंने वेदका संरक्षण करनेके लिये इतने परिश्रम किये थे, परन्तु आप वेदका रक्षण होनेके लिये क्या कर रहे हैं और आज पर्यंत आपने क्या किया है ?" इस प्रश्नका उत्तर हरएक भारतीय देवे।

प्रत्येकको उचित है कि उससे जो हो सकता है वह वेदकी जाग्रति और वेदका रक्षण करनेके लिये करे।

आर्योंका परम धर्म

'वेदोंका पढना पढाना, सुनना सुनाना आर्योंका परम धर्म है।' वेदोंको समझना समझाना, वेदानुसार अपना आचरण करना और दूसरोंको वेदानुसार आचरण करनेके लिये प्रोत्साहित करना भी आर्योंका परम धर्म है। महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीने यह नियम आर्योंके लिये लिखा है, सब हिंदुओंकी उन्नतिके लिये ही यह नियम है। वेदका धर्म छोडने और अन्यान्य मतमतान्तरोंमें फंस जानेसे हिंदुओंका पतन हुआ है। यह ऋषि दयानन्द महाराजने देखा। जो राष्ट्रके लिये श्रेष्ठसंदेश देता है वही 'ऋषि' कहलाता है। स्वा० दयानन्द सचमुच ऋषि थे, क्योंकि उन्होंने हिंदुओंके पतनका सच्चा कारण देखा और उन्नतिका सच्चा मार्ग भी देखा। यह सत्य दृष्टिही ऋषिकी दृष्टि है। स्वामीजीको हुवे ७५ वर्ष हो चुके। उनके समय बहुत लोग थे, नेता भी बहुत थे। वे नेतागण हिंदुओंके उद्धारका मार्ग सोचते भी थे। परन्तु किसीने वेदका मार्ग देखा नहीं। उस समय शास्त्री पंडित भी बहुत थे पर वे बिचारे वेदको जान भी नहीं सकते थे, फिर वेदके धर्मसे मानवोंका तारण होनेकी बात जानना और वैसा उपदेश करना तो दूरकी बात है।

केवल अकेले ऋषिदयानन्दजीके पास ही यह ऋषित्व आता है। इन्होंने ही यह सच्ची रीतिसे जाना और कहा कि वेदोंको पढो और वेदोपदेशको आचरणमें ले आओ। अब हिंदुओंको उचित है कि वे अपने घरोंमें वेदग्रंथ रखें, उसका पाठ नित्य प्रति करें, वेदमंत्रोंका उपदेश जानें और उसको आचरणमें लावें। ऐसा करनेसे हिन्दु राष्ट्रकी उन्नति हो सकती है।

इसी कार्यके लिये अनेक प्रकारके वेदोंके संस्करण छापकर प्रकाशित करने चाहिये। यहां हमने ७।८ प्रकारके संस्करणोंके नमूने बताये हैं।

१ पहिला नमूना— बडे अक्षरोंका है। इसके पृष्ठ भी बडे हों और अक्षर भी बडे हों। ऐसे बडे अक्षरोंमें वेद छापें जांय तो करीब ३००० पृष्ठोंका चारों वेदोंका ग्रन्थ हो सकता है। इसका टाइप मोटा हो, कागज भी मोटा हो, आकार भी इस पृष्ठके दुगुणा हो, मुद्रण अच्छा हो, प्रति पृष्ठपर वेल पत्तीकी सुन्दर सजावट हो। वेलपत्ती और स्वरोंका मुद्रण लाल स्याहीमें हो और मन्त्रके अक्षर काले रंगमें छपें। जिल्द अत्यंत सुन्दर हो, सुनहरी अक्षर जिल्दपर हों। पुस्तकके तीनों ओर सुनहरी रंग लगा हो। ऐसा सर्वांग सुन्दर इसका मुद्रण हो। संध्या करनेके पश्चात् लोक इस पुस्तकको खोलें और घण्टा आधा घण्टा पाठ करें। कितना आनन्द प्राप्त होगा!!! यह आनन्द पाठ करनेवालेको ही मिल सकता है।

कौन धनी इस कार्यके लिये धन देगा? यही प्रश्न है। कमसे कम ७००००) रु. इसका व्यय होगा। इसमें २००० प्रतियां तैयार हो सकेंगी। एक प्रति ३५) या ४०) रु. में घरमें पडेगी। इसलिये इसका विक्रीका मूल्य ६०) से कम नहीं होगा। कदाचित अधिक भी रखना पडे तो भी कोई आश्चर्य नहीं है। इसकी बडे आकारकी १००० पृष्ठोंकी तीन जिल्दें होंगी।

यह पुस्तक घरकी शोभा बढा सकता है। वेद पाठ करनेसे थोडा संस्कृत जाननेवाले स्वयं अर्थ जान सकते हैं। दस पाठ होनेपर पूर्वापर अनुसंधान भी हो सकता है और उससे अपूर्व आनन्द मिल सकता है।

२ दूसरा नमूना– यह नमूना स्वाध्यायमण्डलके छपे चारों वेदोंके समान है। यह भी वेदपाठके लिये योग्य है। इस तरह छपनेपर चारों वेदोंके १६०० पृष्ठ हो सकते हैं। सूचियां मिलाकर दोसौ पृष्ठ अधिक होंगे। ये ग्रन्थ दो जिल्दोंमें तैयार हो सकते हैं। इसकी १०००० कापियां छापी जाय तो ७००००) हजार रु. व्यय लग सकता है। घरमें ७) रु. के लिये चारों वेदोंकी एक प्रति पडेगी और १५) में दी जा सकती है।

३ तीसरा नमूना– यह बारिक टाइपमें छापना है। ऐसा छपनेपर चारों वेदोंका मुद्रण ७०० पृष्ठोंमें हो सकता है। ५००० प्रतियां छपनेसे यह ग्रन्थ एक जिल्दमें तैयार होकर ५) में भी दिया जा सकता है। यह ग्रन्थ अल्प मूल्यमें तैयार होनेकी संभावना है। इसके दो प्रकारके नमूने (अ और आ यहां दिये हैं।) चारों वेद सस्तेसे सस्ते इस तरह दिये जा सकते हैं।

४ चौथा नमूना– इसमें मूल मन्त्र पदपाठ और अन्वय तथा स्थानान्तर और पाठान्तर दिये हैं। जो थोडासा संस्कृत जानते हैं वे इस स्थानपर दिये अन्वयको देखकर स्वयं

मंत्रका अर्थ जान सकते हैं और वेदोंके अर्थका मनन भी कर सकते हैं। नित्य पाठके लिये ये ग्रन्थ बडे उपयोगी हैं। मनन करनेके लिये ये पुस्तक बडे उपयोगी हैं; दूसरेका किया अर्थ पढना यह पारतंत्र्य है। स्वयं संस्कृत पढकर अर्थ जानना और मनन करना इसमें स्वतन्त्रता है। हरएक स्वावलंबन करके वेदको पढे और समझे। ऐसा होनेके लिये इस तरहका वेद छापना चाहिये। यह पुस्तक २५) में (चारों वेदोंके तीन जिल्द) दिये जा सकते हैं।

५ पांचवा नमूना— इसमें मूल मन्त्र, अन्वय, अर्थ, मानव धर्म, और टिप्पणी है। जो स्वयं मनन नहीं कर सकते, जिनके पास मनन करनेके लिये आवश्यक फुरसद नहीं है, उनके लिये अर्थ ज्ञानके सब साधन यहां दिये हैं। वे इसका केवल पाठ करें और लाभ उठावें। इसके मूल्यका अंदाजा इस समय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसके कितने पृष्ठ होंगे इसका अंदाजा आज नहीं कहा जा सकता।

इसमें दोष होनेकी संभावना है। जो दोष होंगे उनको भविष्यके विद्वान दूर कर सकते हैं। दोष होंगे इसलिये कार्य ही न करना योग्य नहीं है। प्रमाण पूर्वक कार्य करते रहना, भविष्यके विद्वान दोषोंको दूर करेंगे।

६ छठां नमूना- आर्षेय संहिता, इसमें ऋषिक्रमसे मन्त्र रहेंगे।

७ सातवां नमूना— इसमें दैवतसंहिता है देवतानुसार मन्त्र संग्रह इसमें होगा।

ये दोनों नमूने यहां दिये नहीं है, क्योंकि देनेकी जरूरी नहीं है।

८ आठवां नमूना— विषयवार मन्त्र संग्रह। इसका भी नमूना यहां दिया नहीं जा सकता। यही सबसे उत्तम संहिता होगी। यदि वेदका धर्म है तब तो ऐसी विषयवार संग्रह करके संहिता बनानीही चाहिये। इसको बनाना है। मुद्रण तो पीछेसे होनेवाला है। यह ग्रन्थ १५) में दिया जा सकता है। यह ग्रन्थ बननेपर इसीका प्रचार होगा इतनी इसकी उपयोगिता है। जब यह बनेगा वह सुदिन समझना योग्य है।

इसके अतिरिक्त नीचे लिखे कार्य भी करने चाहिये-

९ सचित्र वेदमुद्रण - वेदके सूक्ष्म गुह्य ज्ञानको बतानेवाले तिरंगे चित्र स्थान स्थानपर रहेंगे। ऐसे ३०० चित्र कमसे कम चारों वेदोंमें देने योग्य हैं।

१० वेदोंका ध्वनिमुद्रण - इससे रेडियोद्वारा वेदपाठ हो सकता है। इसका व्ययका अंदाजा १०००००) एक लाख रु. होगा।

११ वेदोंके ब्लाक - सवा लाख रु. का व्यय होगा। अथवा आफसेट पर छापनेके लिये फोटो तथा प्लेट तैयार करना।

१२ वेदोंकी नाना सूचियां तैयार करके उनका मुद्रण करना।

वेदके लिये क्या करना चाहिये इसका यह दिग्दर्शन मात्र है।

इस सबका विचार करके वेदरक्षण और वेदधर्म प्रचार करनेके लिये आप स्वयं क्या कर सकते हैं, वह अति शीघ्र कीजिये।

वैदिक धर्मकी जय हो!

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान है। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?

छप रहे हैं।

१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — अठारहवाँ व्याख्यान

देवत्व प्राप्त करनेका
अनुष्ठान

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष-स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान

मनुष्यका देव बनना है

शतपथ ब्राह्मणके प्रारंभमें कहा है कि "यद् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि। (श. ब्राह्मण) 'जैसा देव करते हैं वैसा मैं करूंगा।' इसका अर्थ 'मैं देव बनूंगा' यह है। मनुष्यने देव बनना है। देव वह है कि जिसमें दिव्य गुण होते हैं, मनुष्यमें दिव्य गुण प्रकाशने लगे, तो मनुष्यका देव बन गया। इसके लिये मनुष्यको विशेष अनुष्ठान करना आवश्यक है। बिना अनुष्ठान किये मनुष्यकी उन्नति नहीं हो सकती।

मनुष्यकी तीन श्रेणियां

मनुष्योंकी तीन श्रेणियां हैं "राक्षस, मनुष्य और देव" देव उच्च हैं, राक्षस नीचे हैं और मानव बीचमें हैं।

देव	दिव्यभाव	सूर
मनुष्य	मननस्वभाव	मानव
राक्षस	क्रूरभाव	असुर

राक्षस क्रूर होते हैं, क्रूरता छोडकर मननशीलता धारण करनेसे वे मनुष्य श्रेणीमें पहुंचते हैं और दिव्य भाव प्राप्त होनेसे वे देव होते हैं। यह उच्चभावकी प्राप्ति अनुष्ठानसे हो सकती है।

देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान

शतपथमें कहा है—

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति। तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यं, तस्मात्ते यशो यशो ह भवंति। य एवं विद्वान् सत्यं वदति। श. ब्रा. १।१।१।५

"यहां दो ही हैं, तीसरा नहीं है। सत्य और अनृत। सत्य ही देव है और अनृत मनुष्य है। यह मैं अनृतसे सत्यको प्राप्त करता हूं, इसका अर्थ मनुष्य भावसे मैं देवभावको प्राप्त करता हूं। जो यह अनुष्ठान करना चाहता है वह सत्य ही बोले। यह व्रत देव आचरणमें लाते हैं। सत्य पालनका ही यह व्रत है। इसलिये वे यशको प्राप्त करते हैं। वे यशस्वी होते हैं। जो यह जानकर सत्य बोलता है, वह देवत्व प्राप्त करता है।"

यह देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान है, जो सत्यका पालन करना है, वह देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान करना है। देवत्वकी प्राप्तिके लिये 'सत्य पालन' का व्रत धारण करना, यह पहिला और मुख्य व्रत है। उसके साथ अन्यान्य व्रत बहुत हैं। मुख्यतया देव शब्दमें जो 'दिव' धातु है, उसके अर्थोंसे कई अनुष्ठानोंका पता लग सकता है। वे अर्थ अब यहां देखिये—

देवत्वके लक्षण

दिव्=क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु।

पाणिनीय धातुपाठ

१ क्रीडा, खेल खेलना, मर्दानी खेल खेलनेमें कौशल प्राप्त करना;

२ विजिगीषा, विजय प्राप्त करनेकी इच्छा धारण करना; शत्रुका पराभव करना और अपने पक्षके लिये विजय प्राप्त करा देनेका प्रयत्न करना;

३ व्यवहार, व्यापार व्यवहार करनेमें प्रवीण होना,

४ द्युति, तेजस्वी होना, प्रकाशना, अपने तेजका विस्तार करना,

५ स्तुति, स्तुति करना, प्रशंसनीयकी प्रशंसा करना, ईश्वरकी स्तुति करना,

६ मोद, आनंदित रहना, प्रसन्नचित्त रहना, हास्यमुख रहना, कभी दुःखी कष्टी चित्तसे युक्त न होना,

७ मद, हर्ष और तृप्तिभावसे युक्त होना, सदा मनमें हर्ष और तृप्ति तथा संतोषका भाव रखना,

८ स्वप्न, निद्रापर प्रभुत्व रहना, निद्राको स्वाधीन रखना,

९ कान्ति, आकर्षकता शरीरमें रखनी, सौंदर्य, प्रेम, तेजस्विता और मधुरता अपनेमें रखना,

१० गति, फुर्ती, प्रगति, चपलता, कार्य करनेमें स्फूर्तिका होना, हलचल करनेकी शक्ति, प्रगति करनेका उत्साह अपनेमें होना।

देवत्वके ये दस लक्षण हैं। जिसके अन्दर ये होते हैं वह देव कहलाता है। इनमेंसे प्रायः सभी लक्षण मनुष्य अपने अन्दर ला सकता है और बढा भी सकता है। प्रत्येक मनुष्य प्रथम यह जाने कि ये देवत्वके गुण हैं और ये अपने अन्दर होने चाहिये। मनुष्य प्रयत्न करके इनको अपने अन्दर धारण करनेका प्रयत्न करे। इनके धारण करनेसे मनुष्य अधिक ऊंचा हो सकता है। जिस मनुष्यके अन्दर ये गुण बसते हैं, उस मनुष्यमें देवत्व बसता है, दिव्यभाव बसता है और यही दिव्यभाव मनुष्यको अपने अन्दर बढाना चाहिये। यही मनुष्यका विकास है। मनुष्य जन्म इसीलिये है।

मनुष्यका जन्म ही अपने अन्दर इस देवत्वकी उन्नति करनेके लिये हुआ है। मनुष्यने अपने जन्ममें अपने अन्दरसे आसुरभावको दूर करने और देवभावको अपने अन्दर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। अब देवोंके और लक्षण देखिये—

अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः।
सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः ॥७॥
आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः।
आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः ॥८॥
बर्हिर्मुखाः क्रतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः।
वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम् ॥९॥
अमर० १

१ ये नाम देवोंके हैं। पुल्लिंगमें 'देवः देवाः' स्त्रीलिंगमें 'देवताः वा देवी (देव्यः)' और नपुंसकलिंगमें 'दैवतानि, दैवतं' ऐसा कहा जाता है, तीनोंका अर्थ एक ही है। लिंगभेदके शब्द प्रयुक्त होनेसे वस्तुमें परिवर्तन नहीं होता। देवके लक्षण इससे पूर्व बताये हैं।

२ अ-मराः, अ-मर्त्याः, निर्जराः- ये तीन पद शरीरका वर्णन कर रहे हैं। अकालमृत्यु जिनको नहीं है और वृद्धावस्थामें भी जो जरारहितसे, युवा जैसे दीखते हैं। जो सूर्यादि देव हैं उनको मृत्यु और जरा नहीं है। परंतु जिस समय मानवी जातिके देवोंका वर्णन करनेके लिये ये 'अमराः, अमर्त्याः, निर्जराः' पद प्रयुक्त होते हैं, उस समय इनका अर्थ मर्यादित समझना योग्य है। अकालमृत्यु तथा जराको यावच्छक्य दूर रखना, यह देवोंके लक्षणोंमें एक लक्षण है।

३ विबुधाः विशेष ज्ञानी, विशेष रीतिसे विद्यासंपन्न, ज्ञान विज्ञानसे सुभूषित 'विद्वांसो हि देवाः' (श० प. ब्रा.) देव विद्वानोंको कहते हैं अथवा देव ज्ञानी होते हैं। 'भू देव' ब्राह्मणोंका नाम सुप्रसिद्ध है और ब्राह्मण विबुध अर्थात् ज्ञानी होते हैं। अर्थात् 'ज्ञान, विज्ञान' ये देवोंके लक्षण हैं।

४ लेखाः— लेखन कार्यमें निपुण, लिपि अर्थात् लेखन कला जाननेवाले। लेखन कार्य, चित्र कार्य जानना, सुन्दर अक्षर लिखना यह भी एक देवोंका लक्षण है। जो लोग मानते हैं कि भारतमें प्राचीन समयमें लेखनकला नहीं थी, वे इस पदका विशेष विचार करें। देवोंमें 'लेखाः' (लेखक) यह एक लेखकोंका वर्ग ही था, जो लेखकोंका धंदा करता था। और देव जाति आर्य जातिके पूर्व तथा समकालमें शासन करती थी। इससे देवजातिके पास लिपी थी, ऐसा सिद्ध होता है। अर्थात् आर्य जातिके पूर्व देव जातिके पास लेखन कला थी।

५ सु-मनसः= उत्तम मनवाले देव होते हैं। जो 'विबुध' हों, और जो 'लेखक' भी हों अर्थात् ग्रंथ लेखक भी हों, तो वे उत्तम मनवाले होनेकी संभावना है, इसमें संदेह नहीं है।

६ अ-स्वप्नाः= जो सुस्त नहीं हैं। जो आलसी नहीं हैं, जो अपने कर्तव्य करनेमें तत्पर रहते हैं, वे 'अ-स्वप्न' कहलाते हैं। देव होनेके लिये आलस छोडनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

७ गीर्वाणाः= (गीः) वाणी रूप (बाणाः) बाण शत्रुपर छोडनेवाले, अर्थात् वाणीसे शत्रुके अपसिद्धान्तका खंडन करनेवाले, शास्त्रार्थ महारथी। अपनी विद्वत्तासे शत्रु पक्षके मन्तव्यका खंडन करनेवाले। अथवा (गीः) स्तुतिका

(बाणाः) सेवन करनेवाले, जिनकी सब लोग प्रशंसा गाते हैं, स्तुतिके लिये जो योग्य हैं ।

८ ऋभवः, ऋभुवः= (उरुभान्ति) बहुत प्रकाशते हैं, तेजस्वी, कारीगर, ऋभु इन्द्रके लिये जो वज्र आदि शस्त्र बनाते हैं, रथ बनाते हैं । ऋभुओंका वर्णन ऐसा आया है-

> य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी ॥ २ ॥
> तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम् ।
> तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम् ॥ ३ ॥ ऋ० १।२०

' ऋभुओंने इन्द्रके लिये दो घोडे अच्छे सिखला कर दिये जो शब्दोंके इशारेसे चलते थे । अश्वि देवोंके लिये सुखदायक रथ बनाकर दिया और दुधारू गौ भी अधिक दूध देने योग्य बनवाकर दी । '

ये ऋभु कारीगर देव थे । नाना प्रकारकी कारीगिरी ये करते थे । जिस तरह देवोंमें (लेखाः) लेखक थे वैसे ही (ऋभवः) कारीगर भी थे ।

९. वृन्दारकाः— (प्रशस्तं वृन्दं येषां ते) जिनका संघ प्रशंसा योग्य होता है । जिनमें संघशक्ति प्रशंसनीय होती है । जो संघटना करनेमें अत्यंत चतुर होते हैं । कारीगरोंकी संघटनाएं आज भी जगत्में हैं । देव विबुध थे, उत्तम मनवाले थे, उद्यमशील थे, कारीगर थे, इस कारण उनके प्रबल संघ होते होंगे इसमें संदेह नहीं है । यह 'वृन्दारक' पद उनकी संघशक्ति बता रहा है ।

१०. अमृतान्धसः (अ-मृत-अन्धसः)— मरे हुए भोजनका नाम ' मृतान्धस् ' है, प्रेतभोजन करनेवालोंका यह नाम है । मांस भोजन एक प्रकारका प्रेत भोजन ही है । जो प्रेतका भोजन नहीं करते उनको ' अ-मृत-अन्धसः ' कहते हैं । ' अन् ' प्राण व्यापारका नाम है, जीवनव्यवहारका यह नाम है । (अन्+धस्) प्राणका धारण जिससे होता है वह अन्न है यही ' अन्धस् ' है । ' अन्नमय शरीर ' है अर्थात् शरीरका जीवन अन्नसे रहता है । अन्न खानेसे प्राणीका शरीर जीवित रहता है । यह अन्न कैसा होना चाहिये इसका उत्तर ' अ-मृत-अन्धस् ' इस पदने दिया । मृत अन्न नहीं होना चाहिये । मुर्देका अन्न न हो । वेदमें अन्नवाचक अनेक नाम हैं, उनमें मांस भोजनको बतानेवाला एक भी पद नहीं है । मांस भोजन तो मृत भोजन ही है ।

११ क्रतुभुजः— यज्ञ करके जो अवशेष अन्न रहता है उस यज्ञशेष अन्नका भक्षण जो करते हैं, यज्ञमें देव, पितर और अतिथि इनका भोजन होनेपर जो यज्ञका प्रसाद-रूप शेष रहता है, वही अन्न खाना चाहिये । गीतामें कहा है—

> यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
> गीता ४।३१
> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः ॥
> गीता ३।१३

' यज्ञशेष भक्षण करनेवाले सब पापोंसे मुक्त होते हैं और सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । ' यही अर्थ ' क्रतुभुजः ' पदसे प्रकट होता है ।

१२ सुराः— (सुष्ठु राजन्ते) उत्तम रीतिसे प्रकाशते हैं । अपनी विद्यासे अपने शिल्पसे, अपनी मनःशक्तिसे जो उत्तम रीतिसे प्रकाशते हैं । जो तेजस्वी दीखते हैं ।

१३ सुपर्वाणः— ' पर्व ' नाम शरीरके संधिस्थानका है । घुटने, हात पांव के संधि ये जिनके निर्दोष होते हैं । जो आसनादि व्यायामों द्वारा अपने संधिस्थानोंको निर्दोष अवस्थामें रखते हैं । संधिस्थानोंमें संधिवात आदि रोग होते हैं, जिनके संधियोंमें कोई दोष नहीं होता वे जरा रहित होते हैं और वेही पूर्णायु होते हैं । संधिस्थान ही रोगका स्थान होता है, वह जिनका निर्दोष है वे नीरोग रहेंगे ही । ' सुपर्वाणः ' का दूसरा अर्थ है जो उत्तम उत्सव करते हैं, जिनमें उत्सव करनेका उत्साह है, जो महा-पुरुषोंके उत्सव मनाते हैं ।

१४ त्रिदशाः— जो तीन दशाओंमें रहते हैं । बाल्य, कौमार और यौवन ये तीन ही दशाएं जिनकी होती हैं । तारुण्य प्राप्त होनेपर जो नित्य तरुण ही रहते हैं, वृद्ध, जीर्ण, क्षीण नहीं होते । जिनका रहन सहन उनको नित्य तरुण रखता है, क्षीण होने नहीं देता । यह उत्तम नीरोग रहनेका जीवन है । बाल्यके पश्चात् कौमार और उसके पश्चात् यौवन । यौवन प्राप्त होनेपर जो सदा तरुण जैसे ही रहते हैं । कभी जीर्ण नहीं होते । ऐसा जीवन इन देवोंने साध्य किया था ।

१५ त्रिदिवेशाः, दिवौकसः, दिविषदः– ये नाम सूर्यादि देवोंके हैं कि जो देव द्युलोकमें ही रहते हैं । इनका मनुष्य वाचक अर्थ ' तेजस्वी स्थानमें रहनेवाले ' इतना ही है । सुंदर उच्च और तेजस्वी स्थानमें रहनेवाले ।

*

१६ आदितेयाः, अदितिनंदनाः, आदित्याः– ये नाम अदितिके पुत्र होनेका अर्थ बताते हैं। 'दिति' का अर्थ 'बंधन, नाश' है, 'अदिति' का अर्थ स्वातन्त्र्य' अविनाश' है। जो अविनाशी है। अथवा जो स्वातंत्र्यप्रिय हैं। जो प्रकाशका फैलाव करते हैं। जो प्रकाशमार्गसे ही जाते हैं, जहां जाते हैं वहां प्रकाश फैलाते रहते हैं।

१७ वह्निमुखाः— जो विशेष करके यज्ञ करते हैं। जिनका यज्ञ ही मुख है। जिनका जीवन यज्ञमय है।

१८ दानवारयः (दानव-अरयः)— राक्षसोंके जो शत्रु हैं, राक्षसों, आसुरी वृत्तीवालोंके साथ जो विरोध करते हैं। दुष्टोंको जो शत्रु मानते हैं।

देवोंके २६ नामोंका भाव यहां दिया है। इनमें पूर्वोक्त १० अर्थ मिलाये जांय तो ये सब देवोंके लक्षण होते हैं। इन लक्षणोंसे जो युक्त होते हैं वे देव हैं। इस तरह देव नाम उत्तम श्रेष्ठ दिव्य मनुष्योंका है यह सिद्ध होता है। ऐसे जो देव होंगे, उनका सदा सत्कार ही होता रहेगा। इस तरह देव बनना मनुष्योंके लिये योग्य है। देव बननेका अर्थ श्रेष्ठ बनना है। सर्वोत्तम बनना ही देव बनना है। मनुष्योंको राक्षसी भावका त्याग करना और दिव्य भावका अपने अन्दर संवर्धन करना आवश्यक है।

देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान

अब हम देखते हैं कि यह देवभाव मनुष्य अपने अन्दर किस तरह अनुष्ठानसे बढा सकते हैं—

को देवयन्तमश्नवत् जनम् । ऋ० १।४०।७

'देवत्व प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले मनुष्यकी कौन भला बराबरी कर सकता है ?' अर्थात् देव प्राप्तिका अनुष्ठान करनेवालेको घेरा जाय, उसका पराभव करे ऐसा कोई नहीं है। यहां 'देवयन्' पद है। 'देव अपनेको प्राप्त हो ऐसी इच्छा करनेवाला' यह इसका अर्थ है। किसी मनुष्यको देव प्राप्त हुआ तो देव प्राप्त होते ही वह देव ही बनता है। लोहा अग्निको प्राप्त होते ही लोहा अग्निरूप बनता है, लकडी अग्निरूप बनी तो वह लकडी अग्नि ही बनती है। देवको प्राप्त करनेका अर्थ देव बनना है, देवके गुणधर्म अपने अन्दर प्रकट होनेका अर्थ ही देवकी प्राप्ति है। देव किसीको प्राप्त हुआ तो वह उपासक देव जैसा बनता है। किसीके घर राजा आकर वसने लगा तो वह घर राजमहल जैसा बनता है, फिर किसीके पास देव आकर वसने लगा, किसीको देव प्राप्त हुआ, तो उसकी सब दीनता दूर होती है और वह देव जैसा बनता है। इसीलिये वेदमें देव प्राप्तिके अनुष्ठान कहे हैं और समझाया है कि मनुष्य देवत्व प्राप्तिके अनुष्ठान करे और उन्नत हो जाय।

इस हेतुसे इस मंत्रमें कहा है कि देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान करनेवालेका पराभव कोई कर नहीं सकता। इतनी उसकी शक्ति बढती है।

यहां 'देवयन्, देवयु' ये मंत्रमें पद आते हैं। ये पद बडे मननीय हैं। 'देवयन् देवं आत्मने इच्छन्' देवकी प्राप्ति अपने लिये हो ऐसी इच्छा करनेवाला, देवका संबंध मेरे साथ हो ऐसी इच्छा करनेवाला और इसकी सिद्धिके लिये यत्न या अनुष्ठान करनेवाला। 'देवयु' देवके साथ स्वयं संयुक्त होनेवाला। ये इन पदोंके अर्थ हैं। देवमें जो शक्ति है वह अपनेमें आजाय और उस शक्तिसे मैं शक्तिशाली बनूं यह इच्छा यहां मुख्य है। वेदके मंत्रमें भी यही भाव है। देखिये—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि। वा. य. १९।९

'तू तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सहन शक्तियोंसे युक्त है, इसलिये मुझमें इन शक्तियोंकी स्थापना कर।' यह प्रार्थना बता रही है कि यहाँ देवत्वकी प्राप्ति होनेका अर्थ क्या है। देवोंमें जो शक्ति है वह शक्ति इसमें प्राप्त हो और हम उस शक्तिसे शक्तिवान बनें। यही अनुष्ठान है। यही देव बनना है।

देवोंकी सहायता

जो साधक देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, उनको देव सहायता करते हैं—

प्राचैः देवासः प्रणयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते।
ऋ० १।८३।२; अथर्व २०।२५।२

'जो (ब्रह्मप्रियं देवयुं) परमात्मापर श्रद्धा रखनेवाला और देवत्व अपने अन्दर बढानेकी इच्छा करनेवाला साधक होता है, उसकी देव (जोषयन्ते) प्रीतिसे सहायता करते हैं और उसको वे सरल मार्गसे आगे बढाते हैं।' अर्थात्

उनकी उन्नति करनेके लिये हर प्रकारकी वे सहायता करते हैं। केवल साधकके अन्दर ईश्वरके विषयमें प्रेमशक्ति चाहिये और मनसे देवत्व प्राप्तिकी सच्ची इच्छा होनी चाहिये ' इसका परिणाम ऐसा होता है—

ऋजुरिच्छंसो वनवद्वनुष्यतो
देवयन्निददेवयन्तमभ्यसत्।
सुप्रावीरिद् वनवत् पृत्सु दुष्टरं
यज्वेदयज्योर्वि भजाति भोजनम् ॥ ऋ० २।२६।१

सीधा आचरण करनेवाला हिंसक शत्रुका पराभव कर सकता है, (देवयन्) देवत्व प्राप्त करनेवाला देवत्वप्राप्ति की इच्छा न करनेवाले नास्तिकका पराभव करता है, (सु प्र आवीः) जो वीर उत्तम प्रकारसे चारों ओरसे सुरक्षित रहता है वही (दुस्तरं) बडे शक्तिमान शत्रुका भी (पृत्सु) युद्धोंमें पराभव करता है और जो यज्ञकर्ता है वह यज्ञ न करनेवालोंके भोगोंको प्राप्त करता है।

इसमें कहा है कि जो देवत्वकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करता है, वह देवकी भक्ति न करनेवालेका पराभव करता है। उस नास्तिकको पीछे हटाकर स्वयं आगे बढता है। देवत्वको प्राप्त करनेवालेका ऐसा लाभ होता है तथा—

प्र पूर्वाभिस्तिरते देवयुर्जनः। ऋ० ५।४८।२

' देवोंके साथ अपना संबंध जोडनेवाला मनुष्य अपूर्व शक्तियोंसे युक्त होता है और दुःखोंसे पार होता है।' देवोंके साथ रहनेसे ही अपने अन्दर देवोंके गुण आते हैं और उन गुणोंकी अपने अन्दर वृद्धि होनेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो जाती है। और देखिये—

गौओंको पास रखना

आ देवयुं भजाति गोमति व्रजे। ऋ० ५।३४।५

' देवत्व प्राप्त करनेवाला अथवा देवोंके साथ रहनेवाला गौओंके बाडेमें रहता है।' अर्थात् उसके पास बहुतसी गौवें रहती हैं, वह धनधान्यसंपन्न होता है। तथा—

अग्ने स क्षेषद् ऋतपा ऋतेजा उरु ज्योतिः
नशते देवयुः ते ॥ ऋ० ६।३।१

' वह देवोंके साथ रहनेवाला सत्यका पालन करनेवाला सत्यकी पालनाके लिये ही जीवन लगानेवाला (क्षेषत्) दीर्घायु प्राप्त करता है, और उपास्य देवकी विशेष ज्योति भी प्राप्त करता है।' अर्थात् वह देवताके समान तेजस्वी और जरारहित होता है।

यहां देवोंके साथ रहनेका अर्थ दिव्यगुणयुक्त सत्पुरुषोंके साथ रहना है। जो ऐसे सज्जनों, विबुधोंके साथ रहता है, वह विशेष तेज प्राप्त करता है, इसमें संदेह नहीं है। देवत्व प्राप्त करनेवालेकी उन्नति किस तरह होती है वह देखिये—

देवत्व प्राप्त करनेवालेकी उन्नति

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न
स्वं मुषायति। भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्
अभिन्ने खिल्ये निदधाति देवयुम् ॥
ऋ० ६।२८।२; अथर्व० ४।२१।२

' इन्द्र यज्ञ करनेवाले और प्रसन्न करनेवालेको धन देता है, निःसंदेह धन देता रहता है, कभी उसका धन कम नहीं होने देता। वारंवार इसके धनको बढाता ही जाता है और देवत्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवालेको सुरक्षित स्थानमें रख देता है।'

दैवी गुणोंको अपने अन्दर धारण करनेवालोंकी इस तरह उन्नति होती है, उनको धन मिलता है और संरक्षण भी प्राप्त होता है। यह बात देखिये—

यत् देवयन्तं अवथः शचीभिः। ऋ० ७।६९।४

' देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान करनेवालेका संरक्षण प्रभु अपनी संपूर्ण शक्तियोंसे करता रहता है।'

देवके साथ रहनेसे देवसे सब प्रकारका संरक्षण प्राप्त होता है। जैसा कोई मनुष्य राजाके साथ रहेगा, तो राजा उसका संरक्षण करता है, उसी तरह देवत्व प्राप्त करनेवाला देवके साथ रहता है, इसलिये देवको उसका संरक्षण करना आवश्यक ही होता है।

देवत्व प्राप्तिका सरलमार्ग

एहि मनुर्देवयुर्यज्ञकामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्यग्ने।
सुगान् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि
सुमनस्यमानः ऋ० १०।५१।५

' आओ, यहां देवत्व प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मनुष्य यज्ञ करनेकी इच्छा कर रहा है। परन्तु हे अग्ने! तुम तो अलंकार धारण करके अंधेरेमें ही बैठे हो। देवोंके पास

जानेके मार्ग हमारे लिये सुगम करो, और प्रसन्न अन्तः-करणसे अन्नोंको ले चलो।'

देवत्व प्राप्तिके अनुष्ठान सुगम हैं, आसुरी प्रवृत्तिको दूर करना और दैवी वृत्तिको धारण करना, ऐसा करनेसे ही ये अनुष्ठानके मार्ग सुगम हो जाते हैं। जो देवत्वकी प्राप्ति करना चाहता है वह यज्ञ करे अर्थात् (१) पूजनीयोंका सत्कार करे, (२) लोगोंकी संघटना करे और (३) दीनोंकी सहायता करे। यज्ञके ये तीन अंग हैं। देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान करनेवाला इस यज्ञको करे। यह देवत्व प्राप्तिका मुख्य अनुष्ठान है। इस तरह यज्ञ द्वारा मानव समाजरूपी परमेश्वरकी, ज्ञानी-शूर-व्यापारी-शिल्पी ये जिसके सिर बाहू पेट और पांव हैं उसकी यज्ञ द्वारा सेवा करनेसे यज्ञकर्ताको देवत्व प्राप्त होता है।

धातु शुद्धि

नयत अग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुम्।

वा० य० १।१२

'इस यज्ञके कर्ता, देवत्वको प्राप्त करनेवाले उत्तम धारणा शक्तिवालेको आगे बढाओ।' यहां देवत्वको अपने अन्दर बढानेवाला आगे बढता जाता है, ऐसा सूचित किया है। ऐसे अनेक वर्णन इसके पूर्व भी आचुके हैं। इस मंत्रमें 'सुधातु' पद मननीय है। जिसके शरीरके सप्त धातु अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सप्त धातु शुद्ध हैं, वह 'सु-धातु' कहलाता है। जिसके शरीरमें ये सप्त धातु शुद्ध रहते हैं, वह ओजस्वी, मनस्वी, तेजस्वी और दीर्घजीवी तथा नीरोग होता है। देवत्व प्राप्तिके लिये अपने शरीरके सप्त धातु निर्दोष रखनेके अनुष्ठानका बहुत ही महत्व है। खानपान आचार व्यवहारकी परिशुद्धतासे ये धातु शुद्ध रहते हैं। देवोंका शरीर निर्दोष रहता है, शरीरको पसीनेकी दुर्गंध नहीं आती, एक प्रकारका उत्तम प्रसन्नता दर्शक सुवाससा आता है। यह है देव शरीरका लक्षण, वह यहां 'सु-धातु' पदसे बताया है। दूध, दही, घी, मधु, घी १ भाग, मधु २ भाग, शक्कर २ भाग, दही ४ भाग और दूध ८ भाग, केला ८ भाग इनका मिश्रण खानेसे पसीनेकी दुर्गन्ध हट जाती है, इसी तरह दुर्गन्धवाले पदार्थ भी नहीं खाने चाहिये। प्याज, लसन आदि पदार्थ दुर्गन्धवाले होते हैं, इनके खानेसे पसीनेकी दुर्गन्ध बढती है। श्वास उच्छ्वासको भी दुर्गन्ध नहीं आनी चाहिये। यह सब पेटकी पाचनशक्ति ठीक रही और योग्य खानपान होता रहा, तो होनेवाला है। शरीरमें 'सु-धातु' किस तरह रह सकते हैं, इसका वर्णन आर्य वैद्यकमें बहुत अच्छी तरह दिया है। जो पाठक देखेंगे, तो उनको पता लगेगा, कि इस विषयमें अपना कर्तव्य क्या है।

यहांतक देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान करनेके लिये व्यक्तिशः क्या करना चाहिये इसका विचार हुआ। अब सामुदायिक रीतिसे देवत्व प्राप्त करनेवाले क्या करें इसका विचार करना है। मनुष्यके जीवनके ये दो अंग हैं, एक वैयक्तिक और दूसरा सामुदायिक। दोनोंकी उत्तमतासे मनुष्य पुरुषोत्तम बन सकता है। यहांतक अकेला क्या करे इसका विचार किया, अब संघशः क्या करना चाहिये इसका विचार करेंगे।

देवत्वप्राप्तिका सांघिक अनुष्ठान

देवत्व प्राप्तिके लिये सामुदायिक अनुष्ठान विशेष रीतिसे करनेकी आवश्यकता है। उसके कुछ निर्देश अब हम वेदके मंत्रोंमें देखेंगे—

देवयन्तो यथा मतिं अच्छा विदद्वसुं गिरः।
महामनूषत श्रुतम्॥ ऋ० १।६।६; अथर्व० २०।७०।२

'देवत्व प्राप्त करनेवाले अपने सुविचार (महां श्रुतं) बडे प्रसिद्ध और (विदद्वसुं मतिं) धन प्राप्तिके मार्गको अपनी बुद्धिसे जाननेवाले वीरके पास सीधे पहुंचा देते हैं।' देवत्व प्राप्त करनेवाले बडे विद्वान् और धन प्राप्तिके सन्मार्गको जाननेवाले ज्ञानी वीरकी ही प्रशंसा करते हैं।

'विदद्-वसु' = धन प्राप्त करनेका उत्तम साधन जाननेवाला, 'मति' = बुद्धि, बुद्धिमान, 'श्रुतं' = ज्ञान, श्रुतिका ज्ञान; देवत्व प्राप्त करनेवाले ऐसे बुद्धिवानोंके साथ रहते हैं। क्योंकि देवत्व प्राप्तिके लिये ये गुण आवश्यक हैं तथा—

सामुदायिक उपासना

प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्। ... ईमहे।

'जो देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं उन नागरिक प्रजाजनोंके लिये जो सामर्थ्यवान् उपास्य है उसीकी हम सब मिलकर उपासना करते हैं;

यहां कहा है कि नागरिकोंकी सामुदायिक उपासना चलती है और उसमें देवत्व प्राप्त करनेके इच्छुक तत्काल शामिल होते हैं। 'यह्व' का अर्थ 'सामर्थ्यवान्, समर्थ, शक्तिमान्' है। प्रभुकी सामुदायिक उपासनामें प्रविष्ट होना देवत्व प्राप्तिके लिये आवश्यक है।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।

ऋ० १।४०।१; वा० य० ३४।५०

'हे ज्ञानके स्वामिन्! उठो और हमें सहायता करो। हम देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे तुम्हारी स्तुति करते हैं।' यहां ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानीकी उपासना करना, देवत्व प्राप्तिके लिये सामुदायिक (मिलकर) उपासना करना आवश्यक बताया है। ज्ञानीसे ज्ञानकी प्राप्ति होनेके विना देवत्व प्राप्त नहीं हो सकता। तथा—

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुः मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः। तं मेधेषु प्रथमं देवयतीर्विशः उपब्रुवते दस्ममारीः ॥ ऋ० १।७७।३

'वह प्रभु (क्रतुः) कर्मोंका कर्ता है, वह (मर्यः) मानवोंका हितकारी है, (साधुः) वह सद्भावनावाला अथवा सद्भावयुक्त है, (मित्रः न) वह मित्र जैसा सहायक है, वह (अद्भुतस्य रथीः भूत्) अद्भुत धनको रथमें रखकर लानेवाला है, वह (मेधेषु प्रथमं तं) वह यज्ञोंमें प्रथम वंदनीय है, तथा (दस्मं) वह दर्शनीय है। (आरीः देवयतीः विशः) मिलकर प्रगति करनेवाली और देवत्वप्राप्त करनेवाली प्रजा उस प्रभुकी उपासना करती है।'

यहां प्रभुके गुण प्रथम वर्णन किये हैं, कर्मोंको उत्तम रीतिसे करनेवाला, जनताका हित करनेवाला, सद्भावनायुक्त, मित्रवत् सहायक और अपूर्व धन देनेवाला प्रभु है। देवत्व प्राप्त करनेका अर्थ ये गुण अपनेमें लाना और बढाना है। कुशलतासे कर्मोंको करना, जनताका हित करना, सद्भावना अपनेमें बढाना, मित्रके समान व्यवहार करना, अपूर्व धन प्राप्त करना, ये प्रभुके गुण मनुष्य अपने अन्दर धारण करें।

देवत्व प्राप्त करनेवाली प्रजा स्वयं कैसा आचरण करे यह भी इसी मंत्रमें बताया है- प्रजा (आरीः) अपनी प्रगति करनेके लिये तत्पर हो, (देवयतीः) देवके प्रभुके गुण अपने अन्दर धारण करनेके लिये तत्पर हो। प्रजामें ये गुण होंगे तो ही वे प्रजाजन अपने अन्दर देवत्व प्राप्त कर सकते हैं।

देवके-प्रभुके-और दो गुण हैं, वह (दस्म) दर्शनीय है और (प्रथमं) सबमें पहिला है। देवत्व प्राप्त करनेवाले स्वयं सुन्दर बनें और प्रथम स्थानमें विराजें। ऐसे लोग देवत्व प्राप्त कर सकते हैं। देवत्व प्राप्त करनेके इच्छुकोंको यह मंत्र बडा मार्गदर्शक है। पाठक इसका अधिक मनन करें। तथा—

यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्। ऋ० १।११५।२; अथर्व० २०।१०७।१५

'(देवयन्तः नरः) देवत्व प्राप्त करनेवाले मनुष्य (युगानि वितन्वतः) दम्पतिके जोडे, पतिपत्नीके जोडे बनाते हैं, विवाह करके पतिपत्नी रूप जोडा बनाकर साथ साथ रहते हैं, गृहस्थी जीवन व्यतीत करते हैं और (भद्राय) अपना कल्याण होनेके लिये (भद्रं) कल्याणकारक कर्म करते हैं।

यहां ऐसा कहा है कि देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले लोग गृहस्थी बनकर, अपनी पत्नीके साथ रहें और मिलकर अपने कल्याण होनेके लिये कल्याण करनेवाले कर्म करें। देवत्व प्राप्तिके विरुद्ध गृहस्थधर्म नहीं है, इतना ही नहीं, परंतु देवत्व प्राप्तिके लिये उसकी आवश्यकता भी है।

ज्ञानियोंका मार्ग

देवत्व प्राप्त करनेवालोंको ज्ञानियोंके मार्गसे जाना चाहिये, इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

प्रत्यग्निः उषसः चेकितानोऽबोधि विप्रः पदवीः कवीनाम्। पृथुपाजा देवयद्भिः समिद्धोऽप द्वारा तमसो वह्निरावः॥ ऋ० ३।५।१

'(उषसः चेकितानः) उषःकालोंमें करने योग्य कर्मोंको जाननेवाला (विप्रः) ज्ञानी और (कवीनां पदवीः) ज्ञानियोंके मार्गपरसे जानेवाला (प्रति अबोधि) जागता है। यह (पृथु-पाजाः) बहुत तेजस्वी (देवयद्भिः समिद्धः) देवत्व प्राप्त करनेवालोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (तमसः द्वारा) अन्धकारके द्वारोंको (अप आवः) बंद करता है।' अन्धकारको हटाता है और प्रकाश करता है।

उषःकालमें उठकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करना, ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानियोंके मार्गोंपरसे चलना; अन्धकारको

*

तथा अज्ञानको दूर करना, सदा जाग्रत रहना ये देवत्वके लक्षण हैं, इनको अपने अन्दर बढाना देवत्व प्राप्तिके लिये आवश्यक है। और देखिये-

बलवर्धक प्रकाशका ध्यान

विशो मानुषीः देवयन्तीः प्रयस्वतीः ईळते शुक्रं अर्चिः। ऋ० ३।६।३

' मानवी प्रजा देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेके लिये प्रयास करती हुई स्वच्छ बलवर्धक प्रकाशके गुणगान गाती है।' बल बढानेवाले प्रकाशके गुण वर्णन करती है और उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करती है। प्रकाश अन्धकार दूर करता है, मार्ग दर्शाता है, शत्रुको दूर करता है, ये गुण देवत्व चाहनेवाले अपने अन्दर धारण करें। और यह मन्त्र क्या कहता है, देखिये-

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥ ऋ० ३।८।४

' ज्ञानी तरुण उत्तम वस्त्र परिधान करके सभामें आता है, वह आते ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है, मनसे देवत्व प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले, ध्यान धारणा करनेवाले ज्ञानी कवि उसी ज्ञानी तरुणको उच्च स्थानपर बिठलाते हैं।' प्रमुख स्थानपर बिठलाते हैं।

यदि कोई विद्वान् सभामें आया तो उसका संमान करना ज्ञानी लोगोंका कर्तव्य है। देवत्व प्राप्त करनेका यह एक लक्षण है। श्रेष्ठ पुरुषको श्रेष्ठ स्थानपर बिठलाना देवत्वका लक्षण है। योग्य विद्वानका संमान करना और उनसे द्वेष या मत्सर न करना यह दैवीभावसें होता है। देखिये—

जीवनकी शुद्धि

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः॥ ऋ० ४।२।१७; अथर्व० १८।३।२२

' (सुकर्माणः) उत्तम कर्म करनेवाले, (सुरुचः) उत्तम तेजस्वी दिव्य विबुध (देवयन्तः) अपनेमें देवत्व बढानेवाले अपने (जनिमा) जीवनोंको (अयः न धमन्तः) सोना चांदी लोहा आदिको जैसा भट्टीमें डालकर तपाकर शुद्ध करते हैं, उस तरह अपने जीवनव्यवहारको परिशुद्ध करते हैं।'

सुनार सोने चांदीको शुद्ध पवित्र और निर्दोष बनानेके लिये अग्निमें डालते हैं और धोंकनीसे वायुके प्रवाह द्वारा अग्निको अधिक प्रदीप्त करते और उस अग्निसे उस सोने चांदीको शुद्ध करते हैं। यहां आत्माकी अग्नि है, श्वासोच्छ्वासकी धोंकनीसे वह अग्नि प्रज्वलित की जाती है और इस अग्निमें मनुष्यका जीवन परिशुद्ध होता है। इस तरह जीवात्माका तेज तप करनेसे बढता ही जाता है।

यहां परिशुद्ध होनेका अनुष्ठान बताया है। प्राणायामसे यह तपोऽग्नि प्रज्वलित होती है। इससे मानवी जीवन परिशुद्ध होता है। यही देवत्वकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है। तथा—

त्वामग्ने प्रथमं देवयन्तो देवं मर्ता अमृत मन्द्रजिह्वम्। द्वेषोयुतमा विवासन्ति धीभिर्दमूनसं गृहपतिममूरम्॥ ऋ० ४।११।५

'हे अमर अग्ने! (देवयन्तः मर्ताः) देवत्वकी प्राप्ति करनेकी इछा करनेवाले मनुष्य (मन्द्रजिह्वं प्रथमं देवं) तुझ प्रिय बोलनेवाले पहिले दिव्य विबुध (द्वेषो युतं) शत्रुओंका नाश करनेवाले (दमूनसं) दुष्टोंका दमन करनेवाले (अमूरं गृहपतिं) ज्ञानी गृहपालककी (धीभिः आ विवासन्ति) बुद्धिपूर्वक सेवा करते हैं।' देवत्वकी प्राप्ति करनेके इच्छुक किसकी सेवा करें, किसका अनुकरण करें? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका उत्तर इस मंत्रने दिया है। वह इस तरह है। जो (द्वेषः युतं) शत्रुओंका समूल नाश करनेवाले, (दमूनसं) दुष्टोंका दमन करनेवाले, (मन्द्र-जिह्वं) जिसकी भाषामें मिठास है, (अमूरं गृहपतिं) जिसमें मूढता नहीं है और अपने घरका, अपने राष्ट्रका योग्य रीतिसे पालन करता है ऐसा जो (प्रथमं देवं) प्रथम स्थानमें बैठने योग्य विबुध है उसके साथ रहकर (धीभिः आ विवासन्ति) बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले शुभकर्मोंसे उसकी परिचर्या करें। अर्थात् उसके साथ रहें और बुद्धिपूर्वक शुभ कर्म करते रहें। यहाँ जो गुण कहे हैं वे शुभ गुण देवत्व प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। ये गुण मनुष्य अपनेमें धारण करें। और ये निर्देश देखिये—

तं त्वा वयं नव्यमग्ने सुम्नायव ईमहे देवयन्तः॥ ऋ० ६।१।७

'हम सब (सु-म्न-आयवः) उत्तम मनसे जिनकी आयु

पवित्र हुई है, जो उत्तम विचार धारण करते हैं ऐसे (देवयन्तः) देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले, हे अग्ने! तुम्हारे पास ही हम आते हैं।' यहां मनमें सुविचार धारण करना देवत्वकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है ऐसा स्पष्ट रीतिसे कहा है। तथा और देखिये—

अच्छा गिरो मतयो देवयन्तीरग्निं यन्ति द्रविणं भिक्षमाणाः। सुसंदृशं सुप्रतीकं स्वञ्चं हव्यवाहमरतिं मानुषाणाम्॥ ऋ० ७।१०।३

(देवयन्तीः मतयः) देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाली मनुष्योंकी बुद्धियाँ और (द्रविणं भिक्षमाणाः गिरः) धनकी इच्छा करनेवाली वाणियां (सु-सं-दृशं सु-प्रतीकं) उत्तम दर्शनीय और सुरूप (सु-अञ्चं) उत्तम प्रगति करनेवाले (मनुष्याणां अरतिं) मानवोंके नेताके पास (अच्छा यन्ति) सीधी जाती हैं।

नेताके गुण

नेता कैसा हो? इस प्रश्नके उत्तरमें यह मंत्र कहता है कि नेता (सुसंदृशं) सुंदर दर्शनीय (सुप्रतीकं) रमणीय दीखनेवाला (सु-अञ्चं) उत्तम प्रगतिशील व्यवहार करनेवाला और मानवोंको (अरतिं) आगे ले जानेवाला हो। यह नेता देवत्वके गुणोंसे युक्त होता है। इसलिये देवत्व प्राप्त करनेके इच्छुक इसके पास जाते हैं, इसके साथ रहते हैं और इन गुणोंको अपने अन्दर धारण करते हैं। देवत्व प्राप्तिका यह अनुष्ठान है। देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान करनेवाले अपना अनुष्ठान होनेपर ऐसा अनुभव करते हैं—

अतारिष्म तमसस्पारं अस्य प्रतिस्तोमं देवयन्तो दधानाः॥ ऋ० ७।७३।१

'हम इस अन्धकारके पार हो गये हैं और देवत्वकी इच्छा करते हुए हम स्तोत्र और शुभकर्मका धारण करते हैं।' प्रभुके स्तोत्रमें शुभगुणोंका संकीर्तन होता है, इससे किन शुभगुणोंका धारण मनुष्यने करना चाहिये इसका ज्ञान होता है। यह ज्ञान होनेसे शुभ कर्मोंका भी ज्ञान होता है। इस ज्ञानकी प्राप्ति होते ही मनुष्यका अज्ञान दूर हो जाता है। यही अन्धकारको पार करना है। इस समयतक कितने मंत्र दिये हैं जिनमें प्रभुके शुभगुणोंका वर्णन है, और उस वर्णनसे शुभ कर्मोंका भी ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान होना ही अन्धकारको पार करना है। वही बात इस मंत्रमें कही है।

बलकी वृद्धि

देवत्व प्राप्तिसे बलकी वृद्धि होती है। इस विषयमें एक मंत्रमें कहा है—

अदेवयुं विदथे देवयुभिः सत्राहतं।

ऋ० ७।९३।५

'देवत्वको प्राप्त करनेवाले मिलकर युद्धमें देवत्व प्राप्त न करनेवाले शत्रुको परास्त करते हैं।' देवत्व प्राप्त करनेसे संघटना शक्ति बढती है, सामर्थ्य भी बढता है, इसलिये इस सामर्थ्यसे युक्त हुए पुरुष अपने शत्रुका पराभव करते हैं। देवत्व प्राप्तिके अनुष्ठानसे बलकी वृद्धि होनेका अनुभव इस तरह मनुष्योंको प्राप्त होता है।

पवित्रता होती है।

देवत्व प्राप्त करनेवाले पवित्र होते जाते हैं, ऐसा एक मंत्र कहता है—

सुदानवः मर्मृज्यन्ते देवयवः। ऋ० ८।१०३।७

'उत्तम दान देनेवाले देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे अपनी पवित्रता करते हैं।' अर्थात् वे शुद्ध होते हैं। अपनी पवित्रता करनेसे अपना बल बढ जाता है। और भी देखिये—

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते।

ऋ० १०।१७।७; अथर्व. १८।१।४१; १८।४।४५

न्यध्वरे असदन् देवयन्तीः। ऋ० १०।३०।१५

'देवत्वकी प्राप्ति करनेवाले विद्यादेवीकी उपासना करते हैं।' अर्थात् विद्याको प्राप्त करते हैं। तथा 'वे देवत्व प्राप्त करनेवाले हिंसारहित (अ-ध्वरे) कर्म करनेके लिये इकट्ठे होकर बैठते हैं।'

इन मन्त्रोंमें कहा है कि देवत्व प्राप्त करनेवाले विद्याको प्राप्त करके विद्वान् होते हैं और वे ऐसा कर्म करते हैं कि जिसमें हिंसा नहीं होती। विद्याको प्राप्त करना और हिंसारहित कर्म करना यह देवत्व प्राप्तिके लिये आवश्यक है। और भी कहा है—

द्युमान् द्युमत्सु नृभिर्मृज्यमानः सुमित्रेषु दीदयो देवयत्सु॥ ऋ० १०।६९।७

"तेजस्वियोंमें तेजस्वी मनुष्योंद्वारा सुशोभित होनेवाला देवत्व प्राप्त करनेवाले उत्तम मित्रोंमें प्रकाशित होता है।" यहां कहा है कि देवत्व प्राप्त करनेवाले लोग परस्पर मित्र

बनकर रहते हैं और उनके अन्दर वह प्रभु प्रकाशित होता है कि जो तेजस्वियोंमें तेजस्वी है और जो स्वयं प्रकाशी है और जिसका वर्णन ज्ञानी नेता सदा करते हैं।

देवत्व प्राप्त करनेवालोंके अन्दर जो गुण होते हैं वे इस मन्त्रमें दिये हैं—

त्वं नृभिः दक्षिणावद्भिः अग्ने सुमित्रेभिः इध्यसे देवयद्भिः। ऋ० १०।६९।८

(देवयद्भिः) देवत्व प्राप्त करनेवाले (सुमित्रेभिः) उत्तम मित्र होते हैं, परस्परकी उत्तम सहायता करते हैं, परस्पर सहकार्य करते हैं, (नृभिः) वे नेतृत्व करते हैं, अनुयायियोंको शुद्ध मार्गसे ले जाते हैं और (दक्षिणावद्भिः) दक्षिणा देते हैं, दान देते हैं। दक्षतासे कार्य करते हैं। मित्रभाव, नेतृत्व, दाक्षिण्य ये गुण देवत्व प्राप्त करनेवालोंमें होने चाहिये। जिन मनुष्योंको यह विदित होगा, वे इन गुणोंको अपने अन्दर बढायेंगे और देवत्व प्राप्त करेंगे।

अथर्व वेदके देवत्व प्राप्त करनेके विषयमें कई मन्त्र तो इससे पूर्व दिये हैं। अब कुछ विशेष महत्त्वकी बात कहनेवाले दो तीन मंत्र यहां देते हैं-

इडैवास्माँ अनुवस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः॥ अथर्व. ७।२८।१

'(इडा) प्रशंसनीय विद्या (व्रतेन) व्रतके साथ हमारे साथ रहे। इसके साथ रहकर देवत्व प्राप्त करनेवाले (पुनते) पुनीत होते हैं।' मनुष्योंके साथ उत्तम व्रत और उत्तम विद्या रहे और मनुष्य उनसे परिशुद्ध होवे और अपने अन्दर देवत्व प्राप्त करे।

देवत्व प्राप्त करनेवालोंका राष्ट्र

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुः त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः। प्रजामेका जिन्वति ऊर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥ अथर्व० ८।९।१३

'सत्यके मार्गसे तीन बल मनुष्यको प्राप्त होते हैं। ये तीन धर्मके बल अपने संपूर्ण वीर्यके साथ ही आते हैं। इनमेंसे एक प्रजाका पालन करता है, दूसरा अन्नको देता है अथवा सामर्थ्य बढाता है और तीसरा देवत्वको प्राप्त करनेवालोंके राष्ट्रका रक्षण करता है।'

यहां एक महत्वकी बात ध्यानमें आगयी है कि 'देवयूनां राष्ट्रं रक्षति' देवत्व प्राप्त करनेवालोंका राष्ट्र सुरक्षित रहता है। ऋतके मार्गसे देवत्व प्राप्त करनेवाले राष्ट्र होते हैं। अर्थात् देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान जैसा वैयक्तिक रीतिसे होता है, वैसा ही राष्ट्र भी देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान करता है और राष्ट्रका राष्ट्र देवत्व प्राप्त करता है और वह देवोंका राष्ट्र होता है। हमने इससे पूर्व व्यक्ति देवत्व प्राप्त करती है यह देखा, अनेक सज्जनोंका संघ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान करता है यह भी देखा, अब यहां (देवयूनां राष्ट्रं) देवत्व प्राप्त करनेवालोंका राष्ट्र है और वह देव बननेका यत्न करता है। अर्थात् यहां राष्ट्र शासक देवत्व प्राप्त करनेके इच्छुक होने चाहिये, तब वे वैसा उत्तम राज्य शासन करेंगे, जिससे सब लोगोंको उसका लाभ मिलेगा। देवत्वके जो गुण हैं वे गुण जनतामें बढें, ऐसा राष्ट्रका शासन चलाना चाहिये और ऐसा चलाया भी जा सकता है, यह एक नया आशाका किरण इस वेदमंत्रने हमें दिया है। एक मनुष्य देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान कर सकता है, कुछ थोडे मनुष्य भी मिलकर देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान कर सकते हैं। यहांतक तो देवत्व प्राप्तिके अनुष्ठानकी शक्यता हमें भी प्रतीत होती है। पर राष्ट्रका राष्ट्र देवत्व प्राप्तिके प्रयत्न करेगा, ऐसा एकदम दीखता नहीं। इस समय इतनी अधोगति हुई है। जो वैदिक समयमें राष्ट्रके व्यवहारमें था, वह सत्य था इस विषयमें भी हमें आज संदेह प्रतीत हो रहा है !!!

इस मंत्रमें 'देवयूनां राष्ट्रं' ये पद स्पष्ट बता रहे हैं कि देवत्व प्राप्त करनेवालोंका राष्ट्र होता है और वह देवत्व प्राप्त करता है। वहांके लोग आचार व्यवहारसे कितने ऊंचे होंगे इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

जिस राष्ट्रमें (ऋतस्य पंथां अनु आगुः) ऋतके मार्गसे चलनेवाले लोग होंगे और अनृतकी ओर कभी नहीं झुकेंगे उन्हीं लोगोंका राष्ट्र यहां वर्णन किया है।

हम कब इस अवस्थातक पहुंचेंगे इसका पता लगाना आज कठिन है। क्योंकि आज ऋतका मार्ग ही रहा नहीं है ! स्थान स्थानपर अनृत भरा है। इसलिये देवत्व प्राप्त करनेवालोंका हमारा राष्ट्र बनाना आज कठिन है। आज इस मंत्रने हमें अपनी उच्चताकी राष्ट्रीय अवस्थाका ज्ञान करा दिया है। छांदोग्य उपनिषदमें कहा है कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
छां० उ०

'हमारे राज्यमें चोर, कृपण, मद्यपी, अविद्वान्, स्वैरी, स्वैरिणी तथा अग्निहोत्र न करनेवाला नहीं है।' ऐसा राज्य जब होगा तब उस राज्यके लोग देवत्वको प्राप्त हुए होंगे। वैसा राज्य ही पूर्वोक्त अथर्व मंत्रमें कहा 'देवयूनां राष्ट्र' है। ऐसे राज्यमें रहनेका भाग्य ऋषियोंको था। अब हमें आसुर प्रवृत्तीके लोगोंके राष्ट्रमें रहनेका अवसर आगया है। अस्तु। हमारी राष्ट्रीय उन्नति यहांतक होनी चाहिये।

अब हमने यहांतक जो वेदमंत्र देखे हैं, उनसे देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान जो सिद्ध होता है, उसको क्रमपूर्वक अब पुनः बतायेंगे। यहां व्यक्तिशः तथा संघशः जो अनुष्ठान करनेका है उसको पृथक् पृथक् बतायेंगे और इससे ही राष्ट्रने कौनसा अनुष्ठान किस तरह करना चाहिये यह भी आप ही आप सिद्ध हो जायगा।

वास्तवमें व्यक्ति और संघके लिये गुण एक ही हैं। जो गुण व्यक्तिने धारण करने हैं वे ही संघने तथा राष्ट्रने अपने आचरणमें लाने हैं। व्यक्तिके लिये देवत्वके गुण पृथक् और समूहके लिये पृथक् ऐसी बात नहीं है। दोनों स्थानोंमें एक ही गुण हैं। इसलिये हम यहां सामान्यतः देवत्वके गुणोंका विचार करेंगे और देवत्वके गुणोंका निश्चय करेंगे। फिर वे व्यक्ति धारण करें, संघ धारण करें अथवा राष्ट्र धारण करे।

देवताके गुण

देवत्व प्राप्त करनेका विचार वेदका मुख्य विचार है। वेद मंत्रोंके हजारों सूक्तोंमें देवत्वके गुणोंका वर्णन किया है। प्रत्येक सूक्तमें एक या अनेक देवताएं होती हैं और उस देव या देवताओंका वर्णन उस सूक्तमें होता है। यह उपासक देखें और वह अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करें। इसीलिये वह वर्णन होता है। देवताकी स्तुति देवताके लिये नहीं है, परन्तु उपासकके लिये है। देवता तो स्वतः पूर्ण है, उसमें न्यूनाधिकता होनी नहीं है। जो होना है और बनना है, वह उपासकका बनना है। उपासकने देवत्व प्राप्त करना है, देव जैसा बनना है। इसलिये उपासकको देवत्वके गुण मंत्रोंमें देखकर उन गुणोंको अपनेमें धारण करना चाहिये। वेद मंत्र इसीलिये हैं।

इस लेखमें हमने देवत्वके गुणोंका विशेष विचार किया नहीं है, परंतु देवत्व प्राप्त करनेवाला साधक क्या करता है यही बताया है और आगे भी यही देखना है। देवोंके गुणोंका विचार करके साधक किस तरह अनुष्ठान करे इसका विचार स्वतंत्र निबंधमें होगा। यहां केवल साधक वा उपासक कैसा आचार व्यवहार करे और अपनेमें किस तरह देवत्वके गुण बढावे इतना ही देखना है।

अयो न ...जनिमा धमन्तः। ऋ० ४।२।१७

सोने चांदी या लोहा इस धातुको शुद्ध करनेवाले जिस तरह उस धातुको अग्निमें डालकर धोंकनीसे अग्निमें तपाते जाते हैं, उसी तरह अपने जीवनको तपाना चाहिये। यही अपने जन्मको पवित्र करना है। इस तरह अपने तपसे जो पवित्र बनेंगे वेही देवत्व प्राप्त कर सकते हैं।

इस तपका विचार मनुष्यको करना आवश्यक है।

ऋतपालन

देवत्व प्राप्त करनेके अनुष्ठानमें ऋतपालन, सत्यपालनका महत्त्व विशेष है। सत्य और ऋतमें थोडा भेद है। 'ऋत' का अर्थ 'योग्य, सरल, सीधा' जो है वह ऋत है और सत्य वह है कि जो जैसा है। किसी मनुष्यका मुख टेढा है, तो उसको 'टेढे मुखवाला' कहना सत्य तो है, परंतु वैसा कहना योग्य है वा नहीं इसका विचार 'ऋत' में होता है। इस कारण देवत्व प्राप्तिके अनुष्ठानमें 'ऋत-पालन' का महत्त्व विशेष है।

ऋतेजा ऋतपाः देवयुः उरुः ज्योतिः नशते
स क्षेषत्। ऋ० ६।३।१

'ऋतका पालन करनेवाला, जिसका जीवन ही ऋत पालनके लिये है। ऐसा मनुष्य देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करके विशेष ज्योति प्राप्त करता है और वह इस भूमिपर रहता है।'

(ऋतपा) ऋतपालनके लिये ही जो जन्मा है, जन्मसें नियमसे जो ऋतका पालन करता है। ये गुण देवत्व बढाने वाले हैं। ऋतका पालन न करनेवाले मनुष्यका व्यवहारमें क्या होता है इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। वह तो व्यवहारमें भी भ्रष्ट होता है और उसको देवत्व प्राप्त होना

तो दूर ही है। मनुष्य सहज ही से राक्षस असुर दानव बन सकता है, देव बनना ही कष्टसे होनेवाला है।

तेजः वीर्यं बलं ओजः मन्युः सहोऽसि।

वा.य. १९।९

यह देवके गुण हैं। हे प्रभो! तू इन गुणोंसे युक्त हो, तुम्हारे ये स्वाभाविक गुण हैं, मैं तुम्हारे साथ रहकर, तथा तुम्हें प्राप्त करके इन गुणोंको अपने अन्दर बढाना चाहता हूं। ईश्वरके अथवा देवताके ऐसे गुणोंका गान इसलिये करना है कि उपासकको, इन शुभ गुणोंका पता लगे और उसके अन्दर ये गुण अपनेमें धारण करनेकी अभिलाषा उत्पन्न हो। जितने वेदके अन्दर मन्त्र हैं उनमें जो ईश-गुणका वर्णन है वह इसीलिये है।

कई लोग समझते हैं कि ईशस्तुति ईशकी संतुष्टि या प्रसन्नता करनेके लिये है। भक्त लोग ऐसा समझें। पर यह बात सत्य नहीं है। ईश्वरकी स्तुति भक्तकी उन्नति करनेके लिये मार्गदर्शन करनेवाली है। इसके कई उदाहरण देखिये।

इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया। ये वर्णन वेदके अनेक मंत्रोंमें है। इसमें शत्रुका नाश करनेके कारण इन्द्रका गौरव है। पर यह सब कथा मानवोंको मार्गदर्शन करनेके लिये है। मानवोंको इस कथासे यह बोध मिलता है कि वे अपने राष्ट्रके शत्रुको परास्त करें, विनष्ट करें अथवा उनको दूर करें। राष्ट्रको शत्रुरहित करनेका उपदेश यहां है।

भगवान् रामचन्द्रने रावणका वध किया। इसमें रामचन्द्रजीका गौरव निःसंदेह है, पर भगवान् रामचन्द्रजीको इससे अब क्या लाभ होनेवाला है? उसने अपना कर्तव्य किया, उससे उस समय जो बनना था वह बना। अब वह कथा हमें उपदेश देती है और कहती है कि तुम भी ऐसा करो और राष्ट्रके शत्रुको हटा दो। राष्ट्रको शत्रुरहित करो।

ईश्वरका प्रत्येक गुण इस तरह मानवको बोध देता है कि हे मानव तू इस गुणका धारण कर और देवत्व प्राप्त कर, ऊंचा उठ, दैवी भावनासे युक्त हो। गीतामें ब्राह्मीस्थितिका जो वर्णन है वह भी यह भाव बताता है। ब्रह्मकी जो स्थिति है वह ब्राह्मीस्थिति है। ब्रह्म जैसा बननेसे ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होती है। ब्रह्मके गुण अपने अन्दर धारण करनेसे ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होती है। ब्रह्मके कुछ गुण गीतामें कहे हैं। उनको अपने अन्दर धारण करनेसे ब्राह्मी अवस्था प्राप्त होती है। सबका आशय यही है कि साधकको उठानेके लिये यह सब प्रयत्न है। ईशके प्रत्येक स्तोत्रसे ऐसा ही लाभ होता है। केवल पाठमात्रसे कल्याण नहीं होगा, यह बात इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें आजायगी। भगवान रामचन्द्रजीका चरित्र पढनेसे रामचन्द्रके समान गुण अपनेमें धारण करनेकी स्फूर्ति होनी चाहिये। पश्चात् प्रयत्न करके उन गुणोंका धारण करना चाहिये। केवल रामचन्द्रजीका चरित्र सहस्रोंवार पढा जाय और उनके समान एकपत्नी, एकवचनी, एकवाणी बननेका यत्न न हो जाय, तो कोई लाभ नहीं है। इसी तरह वेदके सूक्तों और मंत्रोंका पाठ करने मात्रसे कुछ विशेष लाभ नहीं होगा, परंतु उनमें कहे गुणोंका धारण करनेसे ही जो हो सकता है वह लाभ होगा।

ज्ञानकी प्राप्ति

वेदमंत्रसे तथा वेदके सूक्तोंके पाठसे ज्ञान होता है कि यह देव ऐसे गुणोंसे युक्त हैं, ये गुण श्रेष्ठ हैं, क्या मेरे अन्दर ये गुण हैं? यदि हैं तो वे कैसे बढ सकेंगे? इसका विचार करना चाहिये। यदि नहीं है तो उनका अपने अन्दर धारण किस रीतिसे हो सकता है इसका मनन करना चाहिये। मंत्रको या सूक्तको रटनेसे कोई लाभ नहीं है। मंत्रमें कहा है–

ब्रह्मप्रियं देवयुं देवासः प्रणयन्ति।

ऋ० १।८३।२

'देवत्व प्राप्त करनेका इच्छुक (ब्रह्म-प्रियः) ज्ञानपर प्रेम करनेवाला चाहिये। जो ऐसा होगा उसीको सब देव आगे बढाते हैं।' मंत्रमें जो ज्ञान रहता है उस ज्ञानपर प्रेम करनेवाला भक्त होना चाहिये। साधक मंत्रमें विद्यमान ज्ञान देखे, उसको अपनावे और वैसा स्वयं बने।

ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डक ३।२।९

इसका अर्थ यही है कि 'देवं ज्ञात्वा देवो भवति' देवको जाननेसे देव होता है। गुणोंको धारण करनेसे यह होता है। ज्ञानप्रिय मनुष्यको देव आगे बढाते हैं ऐसा जो ऊपर कहा है वह इसी रीतिसे अनुभवमें आ सकता है।

देवयन् अदेवयन्तं अभ्यसेत् ऋ० २।२६।१

'देवत्व प्राप्त करनेवाला देवत्व न प्राप्त करनेवालेको परास्त करता है।' उसको पीछे रखकर स्वयं आगे बढता

है । इसके लिये इसी मंत्रमें उदाहरण दिया है वह यह है–

सुप्रावीः पृत्सु दुष्टरं वनवत् । ऋ० २।२६।१

' सुरक्षित किलेमें रहनेवाला युद्धमें पराजय करनेमें कठिन शत्रुको भी परास्त करता है । जो देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान करता है वह किलेमें बैठे वीरके समान सुरक्षित होता है, इसलिये वह शत्रुको परास्त करता है । अर्थात् देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान अपना ही बल बढाता है ।

देवयुः मनुः, देवयानान् पथः सुगान् कृणुहि ।

ऋ० १०।५१।५

' देवत्व प्राप्त करनेवाला यह मनुष्य है । इसके लिये देवत्व प्राप्त करनेके मार्ग सुखसे जाने योग्य करो । ' यह आवश्यक ही है । देवत्व प्राप्त करनेके अनुष्ठान थोडे कष्ट देनेवाले तो होंगे ही, परंतु वारंवार अनुष्ठान करते रहनेसे वेही कष्टप्रद अनुष्ठान सुगम होसकते हैं।

बालक प्रथम दिन अक्षर लिखता है तो उसको कितने कष्ट होते हैं ? परंतु आगे वही बालक सहजहीसे लिखता है । यह तो वारंवार करनेसे प्रवणिता प्राप्त होती है। अर्थात् मार्ग सुगम होते जाते हैं । वारंवार प्रयत्न करनेसे यह सुगमता स्वयं आ जाती है । इसी तरह हरएक कार्यमें कुशलता प्राप्त होती है ।

देवयन्तं शचीभिः अवथः । ऋ० ७।६९।४

' देवत्व प्राप्त करनेवालेका संरक्षण देव अनेक शक्तियोंसे करते हैं । ' देवताओंसे अनेक प्रकारकी शक्ति प्राप्त होती है । देवत्व प्राप्त करनेवालेको दैवी शक्ति किस तरह प्राप्त होती है यह किसीको मालूम नहीं होता है । पर दैवी शक्तियोंकी अनुकूलता इसको होती जाती है यह सत्य है । यही बात इस मंत्रमें कही है । ' शची ' इन्द्रकी शक्ति है ! इन्द्रके पास अनंत शक्तियाँ हैं । इन शक्तियोंको बतानेके लिये इस मंत्रमें ' शचीभिः ' पद बहुवचनमें है । ये अनंत शक्तियां देवत्व प्राप्त करनेवालेको सहायता करती हैं । इसलिये देवत्व प्राप्त करनेका इच्छुक न डरे, न उदासीन हो, न निरुत्साहित हो, परंतु अपना देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान करता चला जाय । ऐसा करनेसे वे दैवी शक्तियां उसके पास आने लगती हैं और उसके अन्दर प्रकट होने लगती हैं । दिन प्रतिदिन उसका सामर्थ्य बढता जाता है और यह सामर्थ्यवान् हो गया है ऐसा उसको प्रतीत होता है और इसके सामर्थ्यका अनुभव दूसरोंको भी आता है ।

देवके गुण

देवके गुण किस तरह मंत्रमें वर्णन किये होते हैं और उपासक उससे किस रीतिसे लाभ उठा सकता है यह अब देखिये—

स हि क्रतुः मर्यः साधुः मित्रः अद्भुतस्य रथीः ।
दस्मः मेधेषु प्रथमः ॥ ऋ० १।७७।३

वह ईश्वर (क्रतुः) शुभ कर्म करता है, मैं वैसा शुभ कर्म, यज्ञरूप कर्म, करूंगा । वह (मर्यः) मनुष्योंका हित करता है वैसा मैं मानवोंका हित करता रहूंगा, मानवोंके दुःख दूर करता रहूंगा । वह (साधुः) सत्प्रवृत्तिवाला है मैं साधु बनूंगा । वह (मित्रः) मित्रवत् आचरण करता है, मैं वैसा ही सबके साथ मित्रवत् आचरण करता रहूंगा । वह (दस्मः) दर्शनीय है, मैं दर्शनीय बनूंगा, वह (मेधेषु प्रथमः) यज्ञोंमें प्रथम सत्कार करने योग्य है, मैं श्रेष्ठ बन कर मैं भी प्रथम सत्कार करने योग्य बनूंगा, वह (अद्भुतस्य रथीः) अद्भुत सामर्थ्यको लाता है, अपूर्व धन लाता है, वैसा मैं भी विशेष सामर्थ्य प्राप्त करके अपूर्व धनको प्राप्त करूंगा ।

ईश्वरके गुण देखकर अपने अन्दर वे गुण किस रीतिसे आ सकते हैं इसका मनन इस रीतिसे करना चाहिये । यह मनन इस रीतिसे किया जा सकता है । वेदमंत्रके मननकी यह रीति है । यही उपासना है, यही वेदमंत्रके उपदेशको अपने अन्दर ढालना है । वेदधर्मसे मनुष्यका उद्धार इसी रीतिसे हो सकता है । जिस समय मनुष्यमें इस मंत्रके गुण आजायंगे, उस समय मनुष्य कितना ऊंचा उठेगा, इसका विचार पाठक कर सकते हैं । यह पद्धति पाठक स्वयं विचार करके सहज ही समझ सकते हैं । यदि पाठकोंको इस तरह मंत्रको अपने अन्दर ढालनेका अनुष्ठान किस रीतिसे करना है । यह समझमें आ जायगा, तो वे किसी मंत्रको लेकर वे अपनी उन्नति स्वयं कर सकते हैं । मंत्रको अपने जीवनमें ढालना चाहिये । पाठक इस विधिको समझनेका यत्न करें ।

देवयन्तीः प्रयस्वतीः मानुषी विशः शुक्रं अर्चिः ईळते । ऋ० ३।६।३

'देवत्व प्राप्त करनेवाली प्रयत्नशीला मानवी प्रजा बल वर्धक ज्योतिकी स्तुति करती है।' बलवर्धक तेजके गुण गानेसे अपने अन्दर वे ही गुण बढानेकी इच्छा होती है और इससे बल बढानेका अनुष्ठान शुरू होता है। 'शुक्र अर्चिः' यह अपना ध्येय है, 'बलवर्धक ज्योति' प्राप्त करना अपना जीवनोद्देश्य है। मानव देह प्राप्त करके इसी ज्योतिको प्राप्त करना चाहिये।

सुकर्माणः सुरुचः देवयन्तः। ऋ० ४।२।१७

'देवत्व प्राप्त करनेवाले तेजस्वी लोग उत्तम कर्म करते हैं।' यहां 'सुकर्माणः' यह पद है अच्छे कर्म करनेकी सूचना यहां मिलती है। उत्तमोत्तम कर्म करने चाहिये। मनुष्य कर्मोंके करनेसे ही उन्नत होते हैं। शुभ कर्म करनेसे और कभी अशुभ कर्म न करनेसे मनुष्य उन्नत होता है।

मनुष्यका नाम ही 'क्रतु' है, इसने १०० वर्ष जीवित रहना है और १०० वर्षोंमें सौ क्रतु करने हैं। इस तरह यह शतक्रतु होता है। यही इन्द्रत्व प्राप्ति है। सौ क्रतु करनेसे इन्द्र पद मिलता है, यह जो पुराणोंमें कथाएँ हैं, उनका यह अर्थ है। और प्रभुके गुण देखिये—

मन्द्रजिह्वं द्वेषो युतं दमूनसं अमूरं गृहपतिम्।
ऋ० ४।११।५

'ईश्वर (मन्द्र-जिह्वः) आनन्दवर्धक भाषण करनेवाला है, मैं भी ऐसा भाषण करूंगा कि जिसको सुननेसे सुनने-वालोंको आनन्द होता रहेगा। ईश्वर (द्वेषो युतः) शत्रुओं का नाश करनेवाला है वैसा मैं भी शत्रुओंको दूर करूंगा। ईश्वर (दमूनस्) वैरियोंका दमन करनेवाला है, वैसा मैं भी वैरियोंका दमन करूंगा, इतनी शक्ति मैं प्राप्त करूंगा कि जिससे शत्रु स्वयं दूर होंगे। ईश्वर (अ-मूरः) अमूढ अर्थात् ज्ञानी है, मैं भी ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी बनूंगा। ईश्वर (गृह-पतिः) अपने विश्वरूपी घरका स्वामी है, वैसा मैं भी अपने घरका, अपने ग्रामका और अपने राष्ट्र-रूपी घरका योग्य रीतिसे पालन करूंगा। इस रीतिसे ईश्वरका प्रत्येक विशेषण देखकर उसको अपने जीवनमें ढाल-नेका विचार करना चाहिये। प्रत्येक मंत्रका इस तरह विचार करके साधकको बोध लेना योग्य है।

द्युमत्सु द्युमान् सुमित्रियेषु देवयत्सु दीदयः।
ऋ० १०।६९।७

'ईश्वर (द्युमत्सु द्युमान्) तेजस्वियोंमें तेजस्वी है, वैसा मैं तेजस्वियोंमें तेजस्वी बनूंगा, श्रेष्ठोंमें श्रेष्ठ, ज्ञानि-योंमें ज्ञानी बनूंगा। उत्तम मित्रोंसे भी उत्तम मित्र और उत्तम दाता बनूंगा।

देवयन्तः व्रतेन पुनन्ते। ऋ० ७।२८।१

'देवत्व प्राप्त करनेवाले व्रतपालन करके पवित्र होते हैं।' व्रतपालन मुख्य है। पूर्वस्थानमें जो बताया है वह व्रतपालन है। ईश्वर ज्ञानी है मैं व्रत धारण करता हूं कि मैं भी ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी बनूंगा। इस तरह वेद-मंत्रोंसे मानवी उन्नतिके व्रत पालन करनेके लिये मिलें। प्रत्येक मंत्रसे ये व्रत ध्यानमें आते हैं। इनका पालन जितना होगा, उतना मनुष्यका तेज बढता जायगा। स्तु-तिके प्रायः प्रत्येक मंत्रमें ये व्रत हैं, केवल वह स्तुति अपने जीवनमें ढालनेकी दृष्टिसे उसका मनन करना चाहिये। यह कोई कठिन बात है ऐसी नहीं है, परंतु साधकने इस दृष्टिसे इस व्रतका विचार करना चाहिये।

देवयन्तः विद्वद्वसुं महां श्रुतं अनूषत। ऋ० १।६।६

'देवत्व प्राप्त करनेवाले धनप्राप्त करनेके मार्गको जानने वाले बडे विद्वानकी सेवा करते हैं।' उनके साथ रहते हैं। बडे विद्वानके साथ रहनेसे उनको ज्ञान प्राप्त होता है और उस ज्ञानसे नाना प्रकारके धन प्राप्त करनेके मार्ग विदित हो जाते हैं। 'वसु' का अर्थ केवल रुपये आने पाई ही नहीं है। जिससे मनुष्यका निवास सुखसे होता है वह वसु है। यह वसु जिसको प्राप्त होता है, वह यहां सुखसे रह सकता है। वैसा न भी मिले, परंतु अन्य साधन मिले, तो मनुष्य यहां सुखसे रह सकता है। इसलिये मनुष्यको श्रुत (ज्ञान) और वसु (धन) प्राप्त करना योग्य है।

यहां कोई पाठक प्रश्न पूछ सकते हैं कि देवत्व प्राप्त होनेके लिये श्रुत (ज्ञान) तो चाहिये यह ध्यानमें आ सकता है, परंतु वसु (निवास साधक धन) किस लिये चाहिये? इसका उत्तर यह है कि जिसका यहां इस पृथ्वीपर सुखसे निवास ही न होगा, वह देवत्व किस तरह प्राप्त कर सकेगा? जो यहां सुखसे रह सकता है, वही यथा-योग्य अनुष्ठान कर सकता है। इसलिये यहां सुखसे निवास होना भी देवत्व प्राप्तिका एक मुख्य साधन है इसमें संदेह नहीं है। इसी उद्देश्यसे कहा है—

गृहस्थीका अनुष्ठान

देवयन्तः नरः युगानि भद्राय भद्रं वितन्वते।

ऋ० १।११५।२

' देवत्व प्राप्त करनेवाले साधक (युगानि) पति-पत्नीका जोडा तैयार करते हैं, विवाहित होते हैं और कल्याण प्राप्त करनेके लिये कल्याण करनेवाला कर्म करते हैं। यहां 'युगानि वितन्वते ' कहा है। पति-पत्नीके जोडे तैयार करते हैं। अर्थात् गृहस्थाश्रम स्वीकार करके यहां निवास करते हैं। यही यहां सुखसे रहना है। अर्थात् गृहस्थ बन कर यहां सुखसे रहना और देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान करना है। देवत्व प्राप्तिके अनुष्ठानके लिये गृहका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही यहां कहना है। बहुतसे लोग ऐसा समझते हैं कि प्रत्येक अनुष्ठानके लिये गृहत्यागरूपी वैराग्यकी आवश्यकता है। वास्तवमें ऐसा नहीं है।

सब वैदिक ऋषि गृहस्थी थे। वैदिक यज्ञ पत्नीके बिना नहीं होता। छांदोग्य उपनिषदमें जहां धर्मस्कंध कहे हैं वहां ब्रह्मचर्य २४ वर्षोंका गृहस्थाश्रम ३६ वर्षोंका और वानप्रस्थाश्रम ४८ वर्षोंका मिलकर १०८ वर्षोंकी मर्यादा तीन आश्रमोंकी बतायी है। इसमें बालपनके ८ वर्ष मिलाये जायंगे तो ११६ वर्ष होते हैं। ११६ वे वर्ष वानप्रस्थ आश्रम समाप्त होता है। यहांतक अर्थात् ११६ वर्षकी आयु होनेतक गृहत्याग या संन्यास लेनेका विचार भी कोई करता नहीं है। यह है वैदिक देवत्व प्राप्तिका अनुष्ठान। यह सब गृहमें रहकर अपने बाल बच्चोंमें रहकर अपने परिवारके साथ रहकर ही करना है। इसलिये वैदिक समयमें कोई ऋषि गृहत्याग करते नहीं थे। संन्यासकी जो प्रथा आज चली है वह बुद्धोत्तर कालकी प्रथा है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ ही वैदिक कालके पुरुषार्थके और जनताका सुख बढानेवाले आश्रम थे। इसलिये कहा है कि—

देवयुं गोमति व्रजे आभजाति। ऋ० ५।३४।५

' देवत्व प्राप्त करनेवाला साधक गौओंके बाडेमें रहता है। ' अर्थात् उसके घरमें बहुत गौवें रहती हैं। उसका परिवार गौका दूध, दही, मक्खन, घी खाता है और आनन्दसे रहता है। यह वर्णन बताता है कि देवत्व प्राप्त करनेका अर्थ इस जगत्में आनन्दसे उत्तम अवस्थामें रहना है। इसीलिये कहा है—

देवयूनां राष्ट्रं जिन्वति।
एका प्रजां जिन्वति
एका ऊर्जं रक्षति। ऋ० ८।९।१३

' देवत्व प्राप्त करनेवालोंके राष्ट्रका रक्षण होता है, एक प्रजाका रक्षण करती है, दूसरी प्रजाकी शक्तिका रक्षण करती है। ' और ये सब शक्तियां देवत्व प्राप्त करनेवालेके पास रहती है। यहां देवत्व प्राप्त करनेवालोंका राष्ट्र सुरक्षित रहता है, विकसित होता है, ऐसा कहा है। यह भी पृथ्वीपरके सुराज्यकी व्यवस्था है।

यहां स्पष्ट हुआ कि देवत्व प्राप्त करनेवालोंको अपना वैयक्तिक सुधार करना होता है। इस सुधारमें ज्ञानविज्ञान, शारीरिक बल, बुद्धिकी शक्ति, मनका सामर्थ्य प्राप्त करना होता है। इसी तरह इनको कुटुंबका स्वास्थ्य रखना होता है, पति पत्नी इकट्ठी रहें और कल्याण प्राप्त करें ऐसे उद्योग देवत्व प्राप्त करनेमें करने होते हैं। देवोंमें भी पत्नीवाले देव बहुत हैं, क्वचित कोई देव पत्नीरहित हैं। फिर देवत्व प्राप्त करनेका अर्थ संन्यास लेना किस तरह हो सकता है? कुटुंबका संरक्षण देवत्वके अनुष्ठानमें आता है। इसके पश्चात् इससे भी अधिक विस्तृत राष्ट्रका क्षेत्र है। वह भी इस अनुष्ठानमें संमिलित है। देवत्व प्राप्त करनेवालोंका राष्ट्र है और वह सुरक्षित होता है। इतनी शक्ति उसमें रहती है। अथर्व वेदमें ' देवानां अष्टाचक्रा नवद्वारा पूः अयोध्या ॥ (अथर्व १०।२।३१), ' जिसके तटपर आठ चक्र शत्रुके नाश करनेके लिये लगाये हैं, जिसकी दिवारमें नौ द्वार हैं ऐसी यह अयोध्या नगरी देवोंकी नगरी है। ' देवत्व प्राप्त करनेवालोंके पास भी यही आदर्श नगरी है। देवत्व प्राप्त करनेवाले इससे दूसरा क्या सोच सकते हैं? जैसा देव करते हैं वैसा ही ये करेंगे।

जैसी देवोंकी नगरी होगी, वैसीही ये अपनी नगरी बना देंगे। यह इनकी नगरी ' अ-योध्या ' होगी। अर्थात् शत्रुसे छिन्नभिन्न न होनेवाली यह नगरी होगी। सब शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित यह होगी। कोई शत्रु इसपर आक्रमण ही नहीं कर सकेगा।

ऊंचा उठना है

इससे पाठकोंको पता लगेगा कि देवत्व प्राप्त करनेवाले वैयक्तिक, कौटुंबिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंके

करनेमें पीछे नहीं रहेंगे। देवत्व प्राप्त करना कंगाल बनना नहीं है, भिक्षु बनना भी नहीं है, परंतु सुंदर उच्च श्रेणीका श्रेष्ठ नागरिक बनना है। देवत्व मनुष्योंको ऊंचा उठाता है, श्रेष्ठ श्रेणीमें ले जाता है। अभ्युदयके उच्च स्थानपर पहुंचाता है।

सुवासाः श्रेयान् युवा भवति। ऋ० ३।८।४

'उत्तम कपडे पहननेवाला युवा तरुण यशस्वी हो' यह देवत्व है। 'देवयन्तः तं उन्नयन्ति' (ऋ० ३।८।४) देवत्व प्राप्त करनेवाले ऐसे पुरुषको ऊपर उठाते हैं। यह देखनेसे देवत्व प्राप्तिसे मनुष्यकी उन्नति निःसंदेह होती है यह बात स्पष्ट होगी। नागरिक जीवनका त्याग इसमें नहीं है, परंतु श्रेष्ठ श्रेणीके नागरिक जीवनका विकास यहां अभिप्रेत है।

लोग अच्छे कपडे (सुवासाः) पहने, वस्त्रालंकार धारण करें, सुन्दर बनें यह देवत्वमें होता है। सदाचारका सच्चा श्रेष्ठ ध्येय, अर्थात् पवित्र व्यवहार यहां अभीष्ट है। सब प्रकारका सच्चा अभ्युदय यहां इस देवत्व प्राप्तिके अनुष्ठानसे सिद्ध होता है।

देवयुभिः विदथे अदेवयुं सत्रा हतं।

ऋ० ७।९२।५

'देवत्व प्राप्त करनेवाले युद्धमें देवत्व न प्राप्त करनेवालोंका वध करते हैं।' यह राष्ट्रीय शक्तिका विकास स्पष्ट है। अपना संगठन करना, शत्रुको परास्त करना, यह सब इसमें आगया है। देवत्व प्राप्तिमें शत्रुको परास्त करनेका भी गुण आ जाता है। देव असुरोंको स्वयं परास्त करते हैं इसी तरह देवत्व प्राप्त करनेवाले भी करते हैं। देवत्व प्राप्त करना यह—

कवीनां पदवीः विप्रः पृथुपाजाः। ऋ० ३।५।१

'कवियोंका मार्ग है, यह बहुत समर्थ बनना है, यह ज्ञानी बनना है।' यहां निर्बलताका किसी तरह कोई संबंध नहीं है। यह प्रकाशका मार्ग है, इसीलिये कहा है कि—

अतारिष्म तमसस्पारं अस्य। ऋ० ७।७३।७

यहां देवत्व प्राप्त करनेसे हम अज्ञानान्धकारके परे प्रकाशके स्थानपर पहुंचे हैं। देवत्व प्राप्त करनेसे हम अन्धेरेको दूर करके प्रकाशके स्थानपर पहुंचे हैं। देवत्व प्राप्त होनेसे उनको प्रकाशमें आनेका आनंद होता है।

इस स्थानपर अन्यान्य देवत्वकी बातोंका भी विचार करना योग्य है पाठक वह विचार वेदमंत्रोंको देखकर करते रहें। अस्तु। वैदिक अनुष्ठानोंमें यह देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान विशेष महत्वपूर्ण अनुष्ठान है। यह अनुष्ठान प्रत्यक्ष लाभ देनेवाला और प्रत्यक्ष सुधार करनेवाला है।

पाठक इसका विचार करें और वेदमंत्रको अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करके अपने अन्दर देवत्वका प्रकाश जितना अधिक हो सकता है उतना करें।

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।

छप रहे हैं।

१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — उन्नीसवाँ व्याख्यान

जनताका हित करनेका
कर्तव्य

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष-स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

जनताका हित करनेका व्रत

राष्ट्रमें जो जनता है, उस जनताका हित होना चाहिये। मनुष्योंको ऐसा कर्म करना चाहिये कि जिससे रा ष्ट्रमें जो मानव समाज है, उसका कल्याण हो। सब जनोंका हित करना मानवोंका श्रेष्ठ कर्तव्य होता है। वैयक्तिक आचरण हो अथवा राष्ट्रका शासन हो, इसका परिणाम सर्वजनके हितमें ही होना चाहिये।

राष्ट्र एक पुरुष है।

राष्ट्र एक पुरुष है, संपूर्ण राष्ट्र मिलकर एक ही शरीर है, देखिये वेद कहता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥
ऋ० १०।९०

'जिसके हजारों सिर, हजारों आंख, हजारों पांव हैं ऐसा एक पुरुष है, वह पृथ्वीपर चारों ओर व्यापता है इस पुरुषकी कैसी कल्पना की है? इसका मुख कौनसा, इसके बाहू, ऊरू और पांव कौनसे हैं? ब्राह्मण इसका मुख है, क्षत्रिय इसके बाहू हैं। वैश्य इसकी जांघें हैं और शूद्र इसके पांव हैं।'

राष्ट्ररूपी पुरुष है, उसके शरीरके सिर, बाहू, पेट, जांघें और पांव क्रमशः ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कृषक और कर्म-चारी ये हैं। इस तरह संपूर्ण राष्ट्रमें जितने मनुष्य हैं उन सबका एक ही राष्ट्रशरीर है, जिसके सिरके स्थानमें विद्वान हैं, बाहुओंके स्थानमें संरक्षक वीर हैं, व्यापारी पेटके स्थानमें है, कृषीकर्म करनेवाले जांघोंके स्थानमें हैं और कर्मचारी पांवोंके स्थानमें हैं। ये सब व्यक्तिशः पृथक् पृथक् दीखते हैं तथापि ये सबके सब राष्ट्र शरीरके अभिन्न अवयव हैं। व्यक्तिशः विभिन्नता दीखती है, पर राष्ट्र दृष्टिसे सब करोडों व्यक्तियां मिलकर एक ही राष्ट्र शरीर होता है। इसलिये जैसा व्यक्तिशः व्यक्तिका हित होना चाहिये वैसा ही राष्ट्रीय संघशः सब राष्ट्रके सब पुरुषोंका हित होना चाहिये। इस वैदिक विचार पद्धतिसे ठीक ठीक कल्पना हो सकती है कि राष्ट्रपुरुषका एक शरीर है, व्यक्तिशः भिन्नभाव होनेपर भी राष्ट्रीय दृष्टिसे राष्ट्रमें अभिन्न भाव अर्थात् एकताका भाव है, अनन्य भाव है। ये दोनों भाव मनुष्योंके समझमें आने चाहिये। ठीक तरह इनका ज्ञान होनेसे ही मनुष्य अपना कर्तव्य करनेमें अशुद्धि नहीं कर सकता।

व्यक्तिशः भिन्नता और राष्ट्रशः अनन्यता

व्यक्तिशः प्रत्येक मानव भिन्न भिन्न है, प्रत्येकके लिये रहना, स्नान भोजन आच्छादन आदि सब आवश्यकताएं पृथक् पृथक् चाहिये। इतनी भिन्नता होनेपर भी राष्ट्रीय दृष्टिसे इन सब करोडों प्राणियोंकी एकता अथवा अनन्यता निःसंदेह है। सब राष्ट्रको मिलकर कुछ बातें करनी चाहिये। इसलिये पूर्वोक्त मंत्रमें-राष्ट्रको भी 'पुरुष' कहा है। यहां पुरुषका अर्थ व्यक्तिका शरीर है। जैसा व्यक्तिका शरीर होता है वैसा ही राष्ट्रपुरुषका भी एक ही शरीर होता है।

व्यक्तिका शरीर	राष्ट्रका शरीर
सिर	ब्राह्मण, ज्ञानीजन
बाहु	क्षत्रिय, रक्षकवीर
पेट	वैश्य, व्यापारी,
जांघें	,, कृषी करनेवाले
पांव	शूद्र, कर्मचारी
करोडों अणुजीव	करोडों मानव

मनुष्यके शरीरमें करोडों अणुजीव हैं, सिरस्थानमें करोडों, बाहुस्थानमें करोडों, पेट जंघा और पांवोंके स्थानमें करोडों सूक्ष्मजीव हैं। इनमेंसे सैंकडों अणुजीव प्रतिक्षण मरते हैं और नये उत्पन्न होते हैं। साढेसात वर्षोंमें इस

तरह मनुष्यका संपूर्ण नया शरीर होता है। मानवी शरीरका प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, जीवित रहता और मरता है। इसके शरीरके अणुजीवोंके जन्म-रक्षण-मृत्युसे मानवी शरीरके जीवनमें कोई हेरफेर दृग्गोचर नहीं होता।

इसी रीतिसे राष्ट्रमें करोडों मानवी प्राणी रहते हैं, प्रति दिन हजारों जन्मते और हजारों मरते हैं। इनके जन्मने और मरनेसे राष्ट्र शरीरको कुछ भी न्यूनाधिक प्रतीत नहीं होता। यह व्यक्तिका शरीर और राष्ट्रका शरीर इन दोनोंमें समानता है। यह समानता बतानेके लिये ही पूर्वोक्त मंत्रमें 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया है। जिस तरह व्यक्तिका शरीर एक पुरुष है, यद्यपि उस शरीरमें करोडों अणुरूपी स्वतंत्र जीव हैं, उसी तरह राष्ट्रके शरीरमें भी करोडों मानव व्यक्तिशः स्वतंत्र होनेपर भी वे संघशः अनन्य हैं। यही अनन्यता प्रत्येक मनुष्यके समझमें आनी चाहिये। मनुष्य व्यक्तिशः स्वतंत्र है, परंतु राष्ट्रशः अथवा संघशः राष्ट्र और संघका हित करनेके लिये परतंत्र है। इस तरह व्यक्ति और राष्ट्रकी तुलना करनी चाहिये।

शरीरके अवयव

शरीरमें सिर, आंख, नाक, कान, मुख, हात, पांव, पेट-आदि अनेक अवयव हैं। ये अवयव सब शरीका हित करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं। इनको ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये कि, जिससे शरीरका नाश हो जाय। इसी रीतिसे ज्ञानी, शूर, वीर, रक्षक, व्यापारी, कृषक, कर्मचारी, सुतार, लुहार, आदि जो राष्ट्रमें संघ हैं, वे सबके सब राष्ट्र शरीर-के अवयव हैं, अतः इनको कभी ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिये कि, जिससे राष्ट्रका हित न हो और राष्ट्रकी हानि हो जाय।

व्यक्तिके शरीरके अन्दरका कार्य देखनेसे राष्ट्रकार्यका ज्ञान इस तरह हो जाता है। यहां पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ गई होगी कि सर्वजन हित करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है।

शरीरमें क्या हो रहा है ?

मनुष्यके सामने अन्न आ गया, हाथोंने अपनेमें उस अन्नको लिया और मुखके स्वाधीन किया, मुखने उसको चबाया, रसास्वाद भी जाना और उस सब अन्नको पेटके स्वाधीन किया, पेटने भी उसका रस और रक्त बनाया और सब शरीरमें घुमानेके लिये हृदयके पास दिया। हृदयने उस रक्तको सब शरीरमें घुमाया, इस तरह प्रत्येक अवयव सब शरीरके हितके लिये प्रमाद न करता हुआ कार्य करता है, इसलिये सब शरीर स्वस्थ रहता है। कोई एक अवयव अपने पास ही अन्न आदिको रखनेका स्वार्थ करेगा, तो सब शरीरका नाश होगा। देखिये पेटमें आया अन्न पेटने अपने पास ही रख दिया, तो अपचन होकर पेट फूलेगा और सब शरीरपर आपत्ति आ जायगी। राष्ट्रमें भी कोई एक स्वार्थ करता है तो उस एकके स्वार्थसे राष्ट्रपर भयानक संकट आ जाता है।

इस संक्षिप्त विवेचनसे पता लग सकता है कि सर्वजन हित करनेका भाव धारण करना चाहिये, केवल अपना ही स्वार्थ देकर राष्ट्रहितका नाश करना किसीको भी योग्य नहीं है। सबका हित करनेका कार्य किया, तो उसमें व्यक्तिका हित होता ही है, और किसीका नाश नहीं होता, परंतु एकके स्वार्थके बढ जानेसे उसका स्वार्थ राष्ट्रका घात करता है और राष्ट्रकी हानिसे सबकी ही हानि हो जाती है।

राष्ट्रहितके तीन भेद हैं

राष्ट्रमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी तथा वन्य ऐसे पांच प्रकारके लोग होते हैं। अर्थात् राष्ट्रका हित करनेका अर्थ इन पांचों प्रकारके मानवोंका हित करना है। इन पांचोंका हित करना यह एक प्रकार है। इसीका नाम 'पाञ्चजन्य' वेदमें है, दूसरा सर्वश्रेष्ठ नेताओंका हित विशेषतः करना है, इसको वेदमें 'नर्य' कहा है, नरोंका, नेताओंका, श्रेष्ठोंका जो हित करता है वह नर्य है और तीसरा प्रकार सर्व साधारण मर्त्योंका, सर्व साधारण जनताका हित करना है, इसको वेदमें 'मर्त्य' कहा है। ये तीनों प्रकार वेदके मंत्रोंमें अनेक स्थानोंपर कहे हैं। अब इन तीनोंका हम विचार करते हैं।

पञ्चजनोंका हित

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद अर्थात् 'ज्ञानी-शूर-व्यापारीकृषक-कर्मचारी-वन्य इन पांचों प्रकारके मानव संघोंका हित करना 'पांचजन्य' शब्दने वेदमें बताया है। पांचजनोंका हित करनेका कार्य बडा भारी उत्तरदायित्वके साथ होनेवाला है। देखिये—

ज्ञानी लोगोंको क्या चाहिये, शूरवीरोंकी तथा रक्षकोंकी आवश्यकता क्या है, व्यापारियोंका किसकी जरूरी है, किसानोंको कौनसे कष्ट हो रहे हैं, गोपालन हो रहा है वा नहीं, कर्मचारियोंको किसकी जरूरत है और वन्य जातियोंकी आवश्यकताएं कौनसी हैं, इसका ज्ञान प्राप्त करना और उनकी न्यूनताओंको दूर करना यह कार्य बडा भारी महत्त्वका है, जो यह करता है, उसको वेद 'पांचजन्य' कहता है, यह एक सन्मानकी पदवी वैदिक सभ्यतामें थी।

'पांचजन्य' पदका आज अर्थ 'शंख' अथवा 'मूढ मानव' हो गया है। परंतु वैदिक समयमें यह श्रेष्ठत्वदर्शक पदवी थी!

नरोंका हित

(नरति इति नरः) जो जनताका संचालन करता है, जो मानवी समुदायको श्रेष्ठ मार्गसे ले जाता है, जो सुपथसे मनुष्योंको चलाता है, वह नर है। यह नेता है। (न रमते इति नरः) जो स्वार्थी भोगोंमें रमता नहीं, वह नर है, जो जनताका सुख बढानेके लिये सेवाभावसे कार्य करता रहता है, वह नर श्रेणीका मनुष्य है। ऐसे श्रेष्ठ मानवोंका नेताओंका, संचालकोंका हित करना और इन नायकोंका हित होनेसे ये इनके अनुयायियोंका हित अवश्य ही करेंगे ऐसी जहां व्यवस्था होती है वह व्यवस्था 'नर्य' पदसे बतायी जाती है। यहां भी संघके संचालकने संघीयोंका हित साधन करना है। इससे भी सब जनोंका हित ही होता है। पर 'पांचजन्य' पद्धतिसे यह पद्धति भिन्न है।

मर्त्योंका हित

मरनेवालोंका नाम मर्य, मर्त, मर्त्य है। हीन दीन दुःखी अवस्थामें ये सडते रहते हैं, रोगोंसे पीडित, दारिद्र्यसे ग्रस्त, हीन अवस्थासे संत्रस्त जो होते हैं वे मर्त्य हैं, दुःखरूप अवस्थामें कष्ट भोगनेवाले ये होते हैं। इनको विशेषतः सुख पहुंचानेका कार्य जो करते हैं, उनका संकेत 'मर्य' है। इन मर्त्योंका सुख बढानेवाला, ऐसा इसका भाव है।

मानवोंका हित साधन करनेके ये तीन प्रकार हैं। वेदमंत्रोंमें इनका पृथक् पृथक् मंत्रोंमें वर्णन किया है, इसलिये हम भी इस निबंधको इन तीन विभागोंमें बांटकर, तीनोंका पृथक् पृथक् वर्णन करना चाहते हैं। इससे पाठकोंको इन तीनों रीतियोंका उत्तम बोध हो जायगा। और सर्वजन हितका साधन करनेकी वैदिक पद्धतिका भी ज्ञान हो जायगा।

पञ्चजनोंका हितसाधन

ज्ञानी, शूर, व्यापारी-कृषक, कर्मचारी तथा वन्य ये पांच प्रकारके लोग सब राष्ट्रोंमें होते हैं। भारतमें इन पांचोंको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद नामोंसे वर्णन किया है। वेदस्मृति आदि ग्रंथोंमें इन शब्दोंसे इनका वर्णन होता है। राष्ट्र शब्दमें इन पांचोंका समावेश होता है। इन पांचोंका हित होना चाहिये, राष्ट्रशासनका मुख्य ध्येय ही यह है कि इन पांचोंका हित हो जाय।

ऋषिलोग पंचजनोंका हित करते थे

ऋषि लोग पांचों प्रकारके मानवोंका अर्थात् ज्ञानी, वीर, व्यापारी, कर्मचारी और वन्य लोगोंका हित करते थे। ऐसे पंचजनहितके कार्य करनेवालोंको वेद 'पाञ्चजन्य' पदवी देता है। अत्रि ऋषि इस तरहका पञ्चजनोंका हित करता था, इस कारण असुरसम्राटने उसको कारागृहमें अनुयायियोंके साथ प्रतिबंधमें रखा था। इसको जनताके नेता अश्विदेवोंने मुक्त करके छोड दिया, यह बात पाठक निम्नलिखित मन्त्रमें देख सकते हैं—

पंचजनोंके हितके लिये राज्यक्रांति

ऋषिं नरावंहसःपाञ्चजन्यं ऋबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन। मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता॥ ऋ० १।११७।३

(वृषणा नरौ) बलवान् नेता अश्विदेवोंने (अनुपूर्वं) क्रमसे चलाये हुए (अशिवस्य दस्योः मायाः) अशुभ दस्यु असुर सम्राट्के कपट जालोंको जानकर और उनको नष्ट करके (पाञ्चजन्यं अत्रिं ऋषिं) पांचों जनोंका हित करनेके लिये सदा प्रयत्न करनेवाले अत्रि ऋषिको (गणेन सह) उसके अनुयायियोंके साथ (अंहसः ऋबीसात् मुञ्चथः) दुःख देनेवाले कारागृहसे मुक्त किया।

इस मंत्रका विचार करनेसे निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती है—

१ अशिवस्य दस्योः मायाः - अशुभ कार्य करनेवाले दस्यु चोर असुर राजाका राज्य था। इसका राज्यशासन प्रजाको कष्ट देनेवाला था।

२ पाञ्चजन्यः अत्रिः ऋषिः — पञ्चजनोंका हित

करनेकी इच्छा करनेवाला अत्रि ऋषि था । यह ऋषि असुर राज्यको नष्ट करके उस स्थानपर आर्यराज्य हो ऐसा चाहता था ।

३ ऋषिः अत्रिः गणेन सह — अत्रि ऋषिके साथ उसके बहुत अनुयायी थे । इनके साथ रहकर असुरोंके विरोधमें अत्रि हलचल करता था ।

४ ऋषीसात् मुंचथः — असुरोंने अत्रिको अनुयायियोंके साथ कारागृहमें बंदिस्थ रखा था । उसको लोगोंके अनुयायी अश्विदेवोंने छोड दिया ।

इस तरहका वृत्तांत इस मंत्रसे ज्ञात होता है । यह वृत्तांत अन्धकार उषासूर्यपर रूपक है, या दूसरा कोई रूपक है, इसका विचार संशोधक करें । यहां ' पांचजन्यः अत्रिः ' पंचजनोंका हित करनेवाला अत्रि है, यह मुख्य बात है । और इससें भी पंचजनोंका हित करनेका उद्देश्य ऋषियोंका होता था, यही उपदेश यहां मिल रहा है इसीका मनन करना है । यह मंत्रमें असुर राज्यको उलटा कर आर्यराज्यकी वहां स्थापना करनेका ध्वनि स्पष्ट रूपसे दीख रहा है अर्थात् राज्यक्रान्ति करके पंचजनोंका हित करनेका राजकीय कार्यक्रम यहां है । पंचजनोंका हित करना है । इस कार्यके लिये आवश्यक होनेपर राज्यशासन भी बदलना आवश्यक हो तो बदलना ही योग्य है । अत्रिकी हलचल असुर राज्यके विरोधमें थी । और वह योग्य थी । अत्रिपुत्र रातहव्य ऋषिकी घोषणा इस विषयमें यह है—

आ यद् वां ईयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः ।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥
ऋ० ५।६६।६

' हे दूर दृष्टिवालो, मित्रवत् आचरण करनेवालो तुम और हम सब विद्वान मिलकर विस्तृत बहुपाय्य स्वराज्यमें (पंचजनोंका हित करनेके लिये) प्रयत्न करते रहेंगे । '

अत्रि ऋषिने पंचजनोंका हित करनेके लिये जो हलचल चलायी थी, उसका परिणाम बहुपाय्य स्वराज्य शासन होनेमें हुआ । इससे पञ्चजनोंका हित करनेकी अभिलाषा और बहुपाय्य स्वराज्यका जो संबंध है वह राजकीय संबंध है यह बात ध्यानमें आ जायगी । तथा—

अग्निः ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।
तमीमहे महागयम् । ऋ० ९।६६।२०; वा. य. ९

' (पांच-जन्यः) पञ्चजनोंका हित करनेवाला (पवमानः) अपनी और पंचजनोंकी पवित्रता करनेवाला (ऋषिः) ज्ञानी (अग्निः) अग्निके समान तेजस्वी (पुरोहितः) पुरोहित हो, लोगोंने अपना अग्रणी करके जो आगे रखा हुआ हो वह ऐसा हो, उस (महागयं तं ईमहे) महाभागको हम प्राप्त होते हैं, उसकी हम प्रशंसा करते हैं । '

यहां ऋषिको ' महा-गय ' कहा है, महाभाग, महाशाल, महागृह, महाधन ये इसके अर्थ हैं । जिसके गुरुकुलमें अनेक विद्यार्थी पढते हैं । उनके पालन पोषणके लिये जिसका घर बडा है, जिसके पास धन भी बहुत हैं ऐसा आचार्य होना चाहिये । सैकडों ब्रह्मचारियोंकी पालना करनेवाला राष्ट्रका पुरोहित ऐसा होना चाहिये ।

इसको यहां ' पांचजन्यः ' कहा है । यह पंच जनोंका हित करता है । विद्यादान देकर यह जनताका हित करता है । विद्या पढानेसे भी पंचजनोंका हित होता है ।

पंचजनोंका हित करनेवाला धन

धनसे भी पंचजनोंका हित होता है । इस विषयमें एक मंत्र यहां देखिये—

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात् । आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ऋ. ७।७२।५

' हे सत्यस्वरूपी अश्विदेवो ! आप पीछेसे, आगेसे, नीचेसे, ऊपरसे अथवा किसी भी दिशासे आओ, पर आते समय पांचों प्रकारके लोगोंका जिससे हित होता है, ऐसा ही धन लेकर आओ और तुम सब मिलकर हमारा संरक्षण सदा कल्याणकारक साधनोंसे ही करते रहो । '

यहां ' पाञ्चजन्येन राया ' ये पद महत्त्वके हैं । पंचजनोंका जिस धनसे सदा हित होता है, ऐसा धन लाना चाहिये । यह विचारपूर्वक देखना चाहिये कि, इससे पंचजनोंका सच्चा हित होगा या नहीं । वही व्यवहार करना और वैसाही धन प्राप्त करना योग्य है । परंतु जिससे पंचजनोंमेंसे किसीकी भी हानि होती हो, तो वैसा व्यवहार करके धन कमाना योग्य नहीं है ।

उदाहरणार्थ देखिये कि अपने देशमें कपडा बुननेवाले लोग हैं । यदि कोई व्यापारी उनसे कपडा न लेता हुआ, विदेशके कपडेका व्यापार करेगा, तो उसे धन तो मिलेगा,

परंतु वह देशके पंचजनोंका हित करनेवाला धन नहीं होगा। इस तरह अपने देशकी एक जातिकी हानि करनेवाला धन नहीं प्राप्त करना चाहिये।

इसी रीतिसे मद्यका व्यवहार करके जो धन कमाना है वह भी पंचजनोंमेंसे बहुतोंकी हानि करनेवाला है अतः ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये।

इस कारण 'पाञ्चजन्येन राया' (पञ्चजन हितकारी धन) ये पद अत्यन्त महत्त्वके हैं। राष्ट्रमें निवास करनेवाले पांचों प्रकारके लोगोंका जो हित करनेवाला है वही धन प्राप्त करना चाहिये। यह वेदका उपदेश बडा बोधप्रद है। राष्ट्रीय अर्थशास्त्रका यह बडा भारी महत्त्वका सिद्धांत है।

पंचजनोंका हितकर्ता राजा

इन्द्र सब विश्वका राज्य करता है वह पंचजनोंका हित करता है। यही राजाका एक महत्त्वका कार्य है-

स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा। चम्रीषो न शवसा पांचजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ऋ. १।१००।१२

'वह इन्द्र वज्र धारण करनेवाला, दस्युओं, चोरों, लुटेरोंका नाश करनेवाला (भीमः उग्रः) भयानक उग्रवीर है। वह (सहस्र-चेताः) अनेक प्रकारकी बुद्धियोंसे युक्त, (शतनीथ) सेकडों मार्गोंसे सिद्धिको प्राप्त करनेवाला अत्यंत तेजस्वी है। सोमके समान बल बढानेवाला और (पांचजन्यः) पंचजनोंका हित करनेवाला है। यह मरुतोंकी सेनाके साथ रहनेवाला इन्द्र हमारा संरक्षण करे।'

यह क्षत्रियका अथवा राजाका वर्णन है। राजा प्रजाका उत्तम रीतिसे संरक्षण करे। राष्ट्रमें जो पंचजन रहते हैं उन सबका हित हो ऐसा राज्यशासन करे। शत्रुओंका नाश करें, शस्त्रास्त्र अपने पास रखे। अनेक (सहस्र-चेताः) अनेक आयोजनाएं करें और (शत-नीथः) सेकडों मार्गोंसे पंचजनोंका संरक्षण और हित करे। किसी भी तरह प्रजाका अहित होने न दें। इस मंत्रने पंचजनोंका हित करना राजाका विशेष कर्तव्य है यह बताया है।

इन्द्र देवोंका राजा है, वह पंचजनोंका हित करता है। वैसा मानवोंका राजा करे। यह भाव यहां है। यही बात और एक मंत्रमें कही है वह मंत्र अब यहां देखिये-

एकं नु त्वा सत्पतिं पांचजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु। तं मे जगृभ्र आशसो नविष्ठं दोषा वस्तोर्हवमानास इन्द्रम्॥ ऋ. ५।३२।११

'यह इन्द्र अकेला ही (सत्पतिं) सज्जनोंका पालन करनेवाला (पांचजन्यं) पंचजनोंका हित करनेवाला और (जनेषु यशसं जातं) सब जनोंमें यशस्वी करके प्रसिद्ध हुआ है ऐसा मैं सुन रहा हूं। इस प्रशंसनीय इन्द्रको दिन-रात अपनी उन्नतिकी इच्छा करनेवाले धारण करें, इसकी भक्ति करें।'

यह वर्णन आदर्श राजाका है। राजा सज्जनोंका उत्तम रक्षण और पालन करे, पंचजनोंका उत्तम रीतिसे हित करे, किसीकी हानि और उस हानिसे दूसरेका लाभ होने न दे। सबका योग्य रीतिसे कल्याण हो ऐसा राज्यशासन करे। इस तरहका जो राजा होगा, वही प्रजाजनोंमें यशस्वी राजा करके प्रसिद्ध होता है। प्रजाजन भी ऐसे राजाको सब प्रकारसे अपनी अनुकूल संमति देते रहें। इससे राजा और प्रजा इन दोनोंका कल्याण हो सकता है।

पंचजनोंकी अनुकूलतामें राजाका सामर्थ्य

यत् पांचजन्यया विशा इन्द्रे घोषा असृक्षत। अस्तृणाद्बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः॥ ऋ० ८।६३।७

'जब (पांचजन्यया विशा) प्रजाके पांचों वर्गोंने इन्द्रके पास अपनी संमतियोंकी घोषणाएं भेजीं, अर्थात् उसको अपनी संमति दी, तब (बर्हणा अस्तृणात्) अपने महत्त्वसे उसने शत्रुओंका नाश किया और (विपः मानस्य) विद्वानोंके संमानका (सः अर्यः क्षयः) वह श्रेष्ठ राजा आश्रय-स्थान बना। अर्थात् उसे उत्तम संमान प्राप्त हुआ।'

राष्ट्रके पांचों वर्ग जब राजाको अनुकूल होते हैं तब वह राजा महाबलवान होता है। जिस राजाको राष्ट्रके पांचों प्रजाजनोंकी अनुकूलता प्राप्त होती है, उसका सामर्थ्य बढता है और वह राजा वैसा सामर्थ्य बढ जानेके कारण अपने सब शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हो जाता है। अर्थात् जिस राजाके विरुद्ध सब प्रजा होती है, उस राजाका बल कम होता है, इस कारण उसके शत्रु बढ जाते हैं और वह राजपदसे भ्रष्ट भी हो जाता है। जिस राजाको सब प्रजाकी अनुकूलता प्राप्त होती है वही विद्वानोंके

संमानका आश्रयस्थान होता है। पंचजनोंकी अनुकूल संमतिसे राजाका सामर्थ्य बढ जाता है। यह राजकीय शासनशास्त्रका एक बडा सिद्धान्त यहां कहा है। वह सबको सर्वदा मननीय होने योग्य है।

प्रत्येकका संरक्षण

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पांचजन्यस्य बहुधा यमिन्धते। विशो विशो प्रविशिवांसं ईमहे स नो मुञ्चत्वंहसः॥ अथर्व. ४।२३।१

'(प्रचेतसः प्रथमस्य पांचजन्यस्य) विशेष बुद्धिमान और पंचजनोंका हित करनेवालोंमें प्रथम स्थानमें रहने योग्य जो अग्निके समान तेजस्वी अग्रणी है, उसकी हम प्रशंसा गाते हैं। यह (विशः विशः प्रविशिवांसं) प्रत्येक प्रजाजनके साथ रहता है, वह हमें पापसे बचावे।'

पंचजनोंका हित करनेवाला (प्रचेताः) विशेष बुद्धिमान हो, (विशः विशः प्रविशिवान्) प्रत्येक प्रजाजनके साथ रहनेवाला पास रहकर प्रत्येक प्रजाजनका निरीक्षण करनेवाला, प्रत्येक प्रजाजनका निरीक्षणपूर्वक उत्तम हित करनेवाला जो शासक होता है वह प्रथम स्थानमें रहने योग्य और विशेष संमानके योग्य है। ऐसा जो शासक होगा उसका संमान सब प्रजा करे। यह शासक प्रजाजनोंको पापसे बचावे, लोगोंकी प्रवृत्ती पापकी ओर न हो ऐसा शासन करे, ऐसा राज्य चलावे कि जिससे लोगोंकी स्वाभाविक वृत्ती ही पाप करनेकी ओर न बढें, परंतु पुण्यकर्म करनेकी ओर बढे। जिसके राज्यमें पाप कम होते हैं वह उत्तम राज्य शासन है। और देखिये—

प्रभावी वक्तृत्व शक्ति

ससर्परीरभरत् तूयमेभ्योऽधि श्रवः पांचजन्यासु कृष्टिषु। सा पक्ष्या नव्यमायुर्दधाना यां मे पलस्तिजमदग्नयो ददुः॥ ऋ. ३।५३।१६

'(पांचजन्यासु कृष्टिषु) पंचजनोंकी सब प्रजाओंमें (ससर्परी) भाषणोंके प्रसरणशील प्रभावसे (श्रवः तूयं अधि अभरत्) अन्न यश आदिको त्वरासे भर दिया। यह विद्या (पक्ष्या) पक्ष बनाती और (नव्यं आयुः दधाना) नवीन जीवन निर्माण करती है, पलस्ति और जमदग्नि इन विद्वानोंने यह विद्या मुझे दी।'

'ससर्परी' यह एक प्रभावी भाषणशैली, या वक्तृत्व शैली है। यह भाषण पद्धति पंचजनोंमें प्रजाकी उन्नतिकी आयोजना करनेके पक्ष बनाती है। और प्रजामें नवीन जीवन उत्पन्न करती है। पञ्चजनोंमें इस वक्तृत्व शक्तिसे नवजीवन उत्पन्न होता है और इससे वह प्रजा नानाविध कार्योंको करने लगती है, जिससे अन्न धन और यश प्रजाको प्राप्त होता रहता है।

पंचजनोंमें जो विद्वान और निपुणतासे वक्तृत्व करते हैं, वे अपनी नानाविध योजनाएं जनताके सामने रखते हैं। इससे अनेक उन्नतिके कार्य राष्ट्रमें शुरू होते हैं। वक्तृत्व करनेवाले पुरुष अपने अपने कार्यक्रम पंचजनोंके सामने रखते हैं और अपने अपने पक्षके लोग अपने कार्यक्रमोंको करते हैं और अन्न, धन और यश राष्ट्रमें बढाते जाते हैं।

इस तरह पंचजनोंका हित करनेके विषयमें वेदके अनेक मंत्रोंमें विविध पहलुओंसे बहुत ज्ञान कहा है वह सब मनन करने योग्य है।

राष्ट्रमें ज्ञानियोंका हित होना चाहिये, शूरवीरोंका कल्याण होना चाहिये, व्यापारी कृषकों और गोपालकोंका लाभ होना चाहिये, कर्मचारी वर्गोंकी उन्नति होनी चाहिये तथा वन्य जातियोंका भी लाभ होना चाहिये। किसीकी अवनति नहीं होनी चाहिये। जो ऐसा करते हैं उनकी पदवी 'पांचजन्य' है और यह संमानकी पदवी है।

'पांचजन्य' के विषयमें यहांतक विचार किया है इसका संक्षेपसे तात्पर्य अब हम यहां लिखते हैं—

१ पंचजनोंका हित साधन करनेके लिये ऋषिलोग राज्यक्रान्ति भी करते थे और उत्तम स्वराज्यकी स्थापना करते थे।

२ लोगोंका अग्रेसर नेता पंचजनोंका सच्चा हित करनेवाला बडा विद्वान हो।

३ राष्ट्रमें धन ऐसा आ जाय कि जो पंचजनोंका सच्चा हित करनेवाला हो, ऐसा धन कभी राष्ट्रमें न आवे कि जिससे राष्ट्रके लोगोंका नाश हो सकता है।

४ शस्त्रधारी क्षत्रिय वीर सहस्रों आयोजनाओंसे और सेकडों मार्गोंसे पंचजनोंका हित करे।

५ शूरवीर सज्जनोंका पालन करे और शत्रुओंको दूर करे।

६ पंचजनोंकी अनुकूलता जिसको मिलती है वह राजा बलवान बनता है और उसीका संमान होता है।

७ पंचजनोंका हित करनेवाला नेता प्रत्येकका हित करनेके लिये तत्पर रहे। सब जनोंका हित होता रहे ऐसा उत्तम कार्यक्रम रचा जाय।

८ पंचजनोंकी उन्नति करनेके लिये विद्वान वक्तृत्वसे अपने कार्यक्रम लोगोंके सामने रखें और उनको कार्यान्वित करके जनताका हित करते रहे।

९ पंचजनोंमें जो निकृष्ट स्थानमें होंगे उनका भी हित अच्छी तरह होना चाहिये। यह बात कार्यकर्ता लोग ध्यानमें रखें।

१० कोई एक वर्ग दूसरे वर्गको न दबावे, परंतु सब प्रजाजन सब प्रकारसे ऊंचे उठें। ऐसा कार्यक्रम राष्ट्रमें करना योग्य है।

राष्ट्रमें पांचों वर्गोंके लोग आनन्दप्रसन्न रहने चाहिये यह इसका तात्पर्य है। इन पांचों वर्गोंके मानवोंकी सेवा करना हरएकका कर्तव्य है। राजा और राजपुरुषोंका यह भाग्य है, कि इनको राष्ट्रके इतने लोगोंकी सेवा करनेका- राष्ट्रपुरुषकी सेवा करनेका भाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिये राजा और राजपुरुष राष्ट्रके पंचजनोंकी सेवा करें, परंतु अधिकारके मदसे घमंड करके उन्मत्त न हों और कदापि अत्याचार न करें। मानवसमाज ईश्वरका रूप है और इसकी सेवा करनेसे मनुष्यका तारण होता है। मानव समाजरूपी नारायण सबके लिये संसेव्य है।

पंचजनभी मानव समाजरूपी समष्टिरूप नारायणकी ही सेवा अनन्यभावसे करें। ब्राह्मण ज्ञानदानसे, क्षत्रिय संरक्षण करनेसे, वैश्य व्यापारसे, कृषक खेती करके, कर्मचारी अपने कर्मोंसे तथा वन्य लोग वनके संरक्षण द्वारा जनतारूपी नारायणकी सेवा कर सकते हैं और इससे सब कृतकृत्य हो सकते हैं।

यहांतक पंचजनोंके हित करनेका विचार हुआ अब 'नर्य' का विचार करते हैं—

नरोंका हित करनेवाला 'नर्य'

नरोंका जो हित करता है। वह 'नर्य' (नरेभ्यः हितः) कहलाता है। यहां 'नर' शब्द है। 'नर' पद 'पुरुष' वाचक है, परंतु यहां पुरुषोंका ही हित करे और स्त्रियोंका हित न करें, यह भाव नहीं है। स्त्रीपुरुषोंका समानतया हित होना चाहिये। यही भाव यहां है। 'नर' पदका अर्थ ऐसा है—

(नयति इति नरः) जो नेतृत्व करता है वह नर है, जो दूसरोंको उत्तम मार्गसे ले जाता है, जो हीनमार्गसे नहीं ले जाता, वह नेता 'नर' पदसे बोधित होता है। (न रमते इति नरः) जो अपने ही स्वार्थके भोगोंमें रमता नहीं, परंतु सब पंचजनोंके हित करनेके कार्य करनेमें जो रमता है, वह 'न-र' है। अर्थात् नेता अर्थवाला 'न-र' पद है और भोगोंमें न फंसनेवालेके अर्थमें भी 'न-र' पद प्रयुक्त होता है। थोडे विचार करनेसे पाठकोंको विदित होगा कि, इस तरहके 'नर' समाजमें अथवा राष्ट्रमें थोडे ही होते हैं। इन नरोंका हित करनेसे वे स्वयं किसी तरह अपने भोगोंमें रमते नहीं और अपने पासके साधनोंसे अपने अनुयायियोंको सत्यमार्गसे चलाते हैं। इससे इन नरोंका हित तो होता ही है, परंतु इनके सहयोगसे राष्ट्रके अन्यान्य जनोंका भी हित होता है और इस रीतिसे सब राष्ट्रका कल्याण होता है। इसमें यह ध्यान रहे कि, 'एक नेता और उसके अनुयायियोंका मिलकर एक संघ' समझना चाहिये। ऐसे संघ राष्ट्रभरमें रहेंगे और नेताओंद्वारा उन सबका कल्याण होगा।

गांवमें विद्वानोंका संघ और उसका नेता, रक्षकोंका संघ और उसका नेता, व्यापारियोंका संघ और उसका नेता, कर्मचारियोंका संघ और उसका नेता इस तरह नेता लोग राष्ट्रमें होते हैं। उन सबका योग्य रीतिसे कल्याण होनेकी आयोजनाएं करनी चाहिये। यह एक राज्यशासनकी पद्धति है, जिसमें संघनेताओंके सहकार्यसे सब राष्ट्रका हित साधन करनेकी आयोजनाएं सिद्ध की जा सकती है। अब देखिये इसके विषयमें वेदमंत्र क्या कहते हैं—

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देवी एतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥
ऋ. १।४०।३

'(ब्रह्मणस्पतिः प्र एतु) ज्ञानका पति यहां हमारे समीप आवे। (सूनृता देवी प्र एतु) सत्ययुक्त वाग्देवी हमारे साथ रहे। (देवाः) सब विबुध मिलकर (नः पंक्तिराधसं यज्ञं) हमारे पंक्तियोंसे सिद्धि देनेवाले यज्ञको (नर्यं वीरं अच्छ नयन्तु) सीधे नरोंका हित करनेवाले वीरके पास पहुंचा देवें।'

जो विशेष ज्ञानी होता है, वह ब्रह्मणस्पति कहलाता है, यही ब्रह्मज्ञानी है। यह ब्रह्मज्ञानी हमारे पास आजाय, और

'सूनृतादेवी' अर्थात् सत्य भाषणकी वक्तृत्व शक्ति हमारे पास आवे। ज्ञान हमें प्राप्त हो और सत्यभाषण करनेकी शक्ति हमारेमें रहे। ज्ञान और सत्यभाषण ये दो शक्तियां हैं। तीसरी यज्ञशक्ति है। यज्ञमें (१) विबुधोंका सत्कार, (२) आन्तरिक संघटना और (३) दीनताको दूर करना ये तीन कार्य होते हैं। ज्ञान, वीरता, धन और कर्मशक्तिकी हीनताके कारण चार प्रकारकी दीनताएं राष्ट्रमें होती हैं। इनको दूर करना यज्ञसे होता है। ज्ञान प्रसार, वीर्यसंवर्धन, व्यापार वृद्धि और कर्मकी कुशलताकी वृद्धि करनेसे यह दीनता दूर होती है। यह यज्ञ 'पंक्ति-राधस' अर्थात् समूहकी सिद्धि देता है, समूहके समूह सिद्धितक पहुंचाये जाते हैं। ऐसे यज्ञ (नर्यं वीरं) नरोंका हित करनेवाला जो वीर है, उसके पास पहुंचे। अर्थात् हमारे इस यज्ञसे नरोंका हित करनेवालोंका हित हो और वे अपने संघतक यह कर्म पहुंचा देवें। यहांके 'नर्य' पदका अर्थ ऐसा देते हैं—

१ सायन - मनुष्येभ्यो हितं। नरेभ्यो हितं।
(ऋ. १।४०।३)

२ दयानंद - नरेषु साधुं हितकारिणं।

'मनुष्योंका हित जो करता है वह नर्य कहलाता है। मनुष्यको ज्ञान प्राप्त हो, उसकी वाणीमें सत्य हो, वह कर्म ऐसे करे कि जिनसे दीनोंकी दीनता दूर हो और जिनसे संघको सिद्धि प्राप्त हो। मनुष्योंका हित करनेवालोंके सहकार्यसे ये कर्म होते रहें और उन कर्मोंके द्वारा इन नेताओंसे जनता लाभ उठावे।

त्वं आविथ नर्यम्॥ ऋ. १।५४।६
त्वं सत्य इन्द्र धृष्णुः एतान् त्वं ऋभुक्षा नर्य-स्त्वं षाट्॥ ऋ. १।६३।३

'तू नरोंका हित करनेवालेका संरक्षण करता है।' क्योंकि उसका संरक्षण होनेसे सब लोगोंका संरक्षण होता है।'

'हे इन्द्र! तू सत्यपालक है, शत्रुका (धृष्णुः) नाश करनेवाला है! तू (ऋभु-क्षाः) कर्मचारियोंका सुखसे निवास करनेवाला है, तू (नर्यः) नेताओंका हित करनेवाला है, मानवोंका हित करनेवाला है और तू (षाट्) शत्रुका पराभव करनेवाला है।' इस मंत्रमें मानवोंके हितके साथ किन गुणोंका समावेश होता है, वे गुण कहे हैं। सत्यनिष्ठा, शत्रुका धर्षण करनेकी शक्ति, शिल्पियोंका प्रतिपालन करनेकी शक्ति, शत्रुका नाश करनेकी शक्ति और इनके साथ मानवोंका अथवा नरोंका हित करनेकी शक्ति वीरमें हो, तो इससे मानवोंका हित हो सकता है।

याभिः कुत्सं श्रुतर्यं नर्यं आवतम्। ऋ. १।११२।९
त्वं इन्द्र नर्यः याँ अवो नॄन्। ऋ. १।१२१।१२

'जिस शक्तिसे मानवोंका हित करनेवालेका रक्षण तू करता है।' 'हे इन्द्र! तू नरोंका हित करता है। और मानवोंका संरक्षण करता है।' मानवोंका हित करनेका आशय यही है कि, मानवोंका संरक्षण करना है। यही बात और देखिये—

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कः हस्ते दधानो
नर्या पुरूणि। अग्निर्भुवत् रयिपती रयीणां
सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा॥ ऋ. १।७२।१

'(शश्वतः वेधसः) शाश्वत ज्ञानको प्राप्त करनेवाले विद्वानके काव्य वह (निकः) करता है। ऐसे विद्वानके गुण गाता है। साथ साथ (नर्या पुरूणि हस्ते दधानः) मानवोंका हित करनेवाले धनोंको अपने हाथमें धारण करता है। यह (रयीणां रयिपतिः भुवत्) धनोंका स्वामी होता है और (सत्रा) साथ साथ (विश्वा अमृतानि चक्राणः) सब अमरतत्त्वोंको अपने पास रखता है।'

जिनका ज्ञान शाश्वततत्त्वकी पहचान कर देता है, वह उस ज्ञानके सामर्थ्यसे मानवी हित करनेवाले धनोंको हाथमें धारण करता है। यह इसलिये कि जिस मानवको जो चाहिये, वह धन तत्काल दिया जा सके। यह धनोंका स्वामी है और इनसे वह सब प्रकारके कल्याणके साधन, अमरत्वके साधन, प्राप्त करता है और लोगोंको भी देता है।

इस मंत्रमें (नर्या पुरूणि) नरोंका हित करनेवाले पर्याप्त धन हैं ऐसा कहा है। ये सब धन अपने पास रखने चाहिये और जिसको जो चाहिये वह धन उसको देना चाहिये। जिससे उसका उत्तम कल्याण हो सके। धन अनेक प्रकारके हैं, ज्ञान, बल, धान्य, घर, कुशलता, निपुणता आदि अनेक धन हैं। इनसे मनुष्य धन्य होता है इसलिये इनको धन कहते हैं। देखिये—

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु॥ ऋ० १।१६६।१०

'वीरोंके बाहु मानवोंका हित करनेवाले हैं और उन बाहुओंमें बहुत कल्याण करनेवाले सामर्थ्य हैं।' यहां बाहुओंको 'नर्य' अर्थात् नरोंका हित करनेवाले करके वर्णन

किया है। जनताका हित वीरोंके बाहु करें यह इसका तात्पर्य है।

उभा शंसा नर्या। ऋ० १।१८५।९

'दोनों द्यौ और पृथिवी (नर्या) मनुष्योंका हित करनेवाली हैं।' द्युलोक और भूलोक सब प्राणियोंका हित करते हैं यह तो प्रत्यक्ष अनुभवकी ही बात है। तथा और देखो—

तव त्यत् नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्। यद् देवस्य शवसा प्रारिणा असुं रिणन्नपः। भुवद् विश्वमभ्यादेवं ओजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम्॥ ऋ० २।२२।४

'हे इन्द्र! तुम्हारा वह कृत्य (नर्यं) सर्व नरोंका हित करनेवाला था, जो तुमने (प्रथमं पूर्व्यं) सबसे प्रथम और प्रारंभमें किया था। और जिसकी द्युलोकमें भी प्रशंसा हुई थी। दैवी सामर्थ्यसे जो तुमने शत्रुके प्राण हरण किये वह प्रशंसनीय कार्य है। सब (अदेवं) देवोंका द्वेष करनेवालोंका तुमने बलसे पराभव किया, सैकडों कर्म करके अन्नादि भी प्राप्त किया।'

देवका द्वेष करनेवाले दुष्टोंका पराभव करना, शत्रुका नाश करना और सैंकडों कर्म करके अन्नादिको प्राप्त करना ये सब वीरताके कर्म (नर्य) मानवोंका हित करनेवाले हैं इसलिये इनके करनेवालेकी बहुत प्रशंसा होती है।

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि। ऋ० ३।३४।५; अथर्व २०।११।५

'इन्द्रने अपने विशेष सामर्थ्यसे शत्रु सैन्यमें प्रवेश किया और मानवोंके साथ रहनेवाले तथा मनुष्योंका हित करनेवाले अनेक सामर्थ्योंका धारण किया।' इन्द्र अपनी वीरतासे शत्रुसेनामें प्रवेश करता है और मानवोंका हित करनेवाले अनेक सामर्थ्य धारण करता है। मनुष्योंके लिये यह आदर्श है। मनुष्य अपने सामर्थ्यसे शत्रुकी सेनामें प्रवेश करे, शत्रुका नाश करे और मानवोंका हित करनेके हेतुसे अनेक सामर्थ्य अपनेमें धारण करे।

निःस्वार्थी कर्मचारी

विश्वानि शक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभिर्निकामैः। अश्मानं चिद्येबिभिदुर्वचोभिः व्रजं गोमन्तं उशिजो विवव्रुः॥
ऋ० ४।१६।६, अथर्व० २०।७७।६

'इन्द्र (विश्वानि नर्याणि) मानवोंका हित करनेके लिये जो जो कर्म करने चाहिये, उन सब कर्मोंको (विद्वान्) जानता है और इसलिये (निकामैः सखिभिः) निःस्वार्थी या निष्कामभावसे कार्य करनेवाले अपने कार्यकर्ता मित्रोंके साथ प्रयत्न करके (अपः रिरेच) जल प्रवाहोंको बहाया इशारेके शब्दोंसे शत्रुके किलोंको तोड दिया और गौओंके वाडोंको प्राप्त किया।'

यहां कहा है कि इन्द्र इन सब कर्मोंको जानता है कि, जो मानवोंके हित करनेके लिये करने होते हैं। तथा निष्काम भावसे कार्य करनेवाले अपने मित्रगणोंसे सब मानवोंकी भलाई करनेके लिये जलप्रवाहोंको बहाया। क्योंकि मानवोंका हित जल मिलनेसे ही हो सकता है। जल वह है कि जो (ज+ल) जन्मसे लय पर्यंत मानवोंके उपयोगमें आता है। जन्मसे मृत्युतक जो उपयोगी है वह मानवोंको सबसे प्रथम देना चाहिये।

यहां कर्मचारी कैसे होने चाहिये इस विषयमें बडा महत्त्वका भाव बताया है (नि+कामैः सखिभिः) जिनमें निष्काम भावसे सेवा करनेकी इच्छा है, स्वार्थभावसे जो कार्यका नाश नहीं करते, जो निष्कामसेवाभावसे कार्य करते हैं, तथा जो (सखिभिः समानख्यानैः) समान विचार धारण करनेवाले, एक विचारसे जो कार्य करते हैं, ऐसे कार्यकर्ताओंसे जनताके हितके कार्य कराने चाहिये। क्योंकि ये अपने निजी स्वार्थके कारण जनताके हितके कार्य बिगाडते नहीं हैं। कार्यकर्ता ऐसे हों।

यहां 'नि-कामैः सखिभिः' ये पद बहुत ही महत्त्वके हैं। सार्वजनिक हितके (विश्वानि नर्याणि विद्वान्) सब कार्य कैसे करने चाहिये यह जो जानते हैं, उनको ही ऐसे कार्योंमें प्रयुक्त करना चाहिये। स्वार्थी लोग अपने लाभके लिये सर्वजन हितकारी कार्य बिगाड देंगे। इसलिये निष्काम भावसे कार्य करनेवाले इन कार्योंमें नियुक्त करने चाहिये। यह बडा ही महत्त्वका संदेश वेदने यहां दिया है। तथा और देखिये—

तमिद् व इन्द्रं सुहवं हुवेम यस्ता चकार नर्या पुरूणि। यो मावते जरित्रे गध्यं चिन् मक्षू वाजं भरति स्पार्हराधाः॥ ऋ० ४।१६।१६

' जिसने (पुरूणि नर्या चकार) बहुत सर्वजन हितकारी कार्य किये, उस इन्द्रकी हम प्रशंसा गाते हैं। जिसने मेरे जैसेको भी स्पृहणीय धन और अन्न दिया। ' इन्द्रकी महिमा इसलिये बढ गयी कि उसने (पुरूणि नर्या चकार) बहुत ही लोकोंके हित करनेके लिये उद्योग किये हैं।

इन्द्राय नरे नर्याय नृतमाय नृणाम्।

ऋ० ४।२५।४

' यह इन्द्र (नरे) नेता है, लोगोंको सन्मार्गसे ले चलता है, (नर्याय) मानवोंका हित करता है और (नृणां नृतमाय) मानवोंमें सबसे श्रेष्ठ है। ' लोगोंका हित जो करते हैं, वे मानवोंमें श्रेष्ठ समझे जाते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं और वे लोगोंको उच्च मार्गसे चलाते हैं। ये गुण मनन करने योग्य हैं। देखिये और—

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्राऽऽविद्वाँ आह विदुषे करांसि। यथायथा वृष्ण्यानि स्वगूर्ताऽ-पांसि राजन्नर्याविवेषीः॥ ऋ० ४।१९।१०

' हे विप्र राजन् हे ज्ञानी राजा! (वृष्ण्या स्वगूर्ता नर्या अपांसि) तुमने बलवान् प्रशंसा होने योग्य लोकहितकारी कार्य (यथायथा अविवेषीः) जैसे जैसे किये, वैसे वैसे (ते पूर्वाणि करणानि) तेरे पूर्व समयमें किये कर्म (आ विद्वान्) जानकर (विदुषे करांसि प्र आह) यह कवि विद्वानको तुम्हारे उन कर्मोंका वर्णन कहता है। ' अर्थात् यह ज्ञानी राजा लोगोंका हित करनेके लिये बडे बडे प्रशंसनीय आप ही आप जिसकी प्रशंसा सब करते हैं, ऐसे उत्तम कर्म करता है। इन शुभ कर्मोंकी सब लोग प्रशंसा गाते हैं। यहां ज्ञानी राजा ' लोक हितकारी कर्म करता है ' ऐसा इन्द्रका वर्णन करके सूचित किया है कि, राजाको सदा ही जनताके हित करनेके लिये बडे बडे कार्य करने चाहिये। ये कर्म कैसे हों इस विषयमें मन्त्रके पद मननीय हैं ' (वृष्ण्या) ये कर्म बलसे बननेवाले हों, (अपांसि) व्यापक सर्वजन हितकारी कार्य हों, (स्व-गूर्ता) आप ही आप कर्मोंको देखनेसे ही उन कर्मोंकी लोग प्रशंसा करें ऐसे आश्चर्यकारक कर्म हों, (नर्या) मानवोंका हित करनेवाले कर्म हों। ' ये विशेषण कर्मोंका स्वरूप बता रहे हैं। यद्यपि यहां राजा कर्म करे ऐसा कहा है, तथापि केवल राजा ही कर्म करे ऐसा भाव यहां नहीं है। राजा तो अवश्य ही ऐसे जनहितके कर्म करे, परंतु जो अन्य लोग कर सकते हैं वे भी कर्म करें ऐसा भाव यहां है।

पनित आप्त्यो यजतः सदा नो वर्धान्नः शंसं नर्यो अभिष्टौ॥ ऋ० ५।४१।९

' (पनितः) स्तुत्यः (आप्त्यः) सबको पास जाने योग्य, (यजतः) पूज्य (नर्यः) मानवोंका हित करनेवाले कर्म करनेवाला जो बडा महात्मा है, वह (नः शंसं सदा वर्धान्) हमारी कीर्ति बढा देवे। ' मानवोंका हित करनेवाला स्वयं पवित्र और पूजनीय हो, केवल जनताका हित करना ही अपना ध्येय है, ऐसा वह माने और वह (आप्त्यः) आप्त पुरुष हो, सब उसके पास जांय और विश्वाससे अपने कष्टोंको उसके पास वर्णन करके कहे। जन हितकारी कर्मोंको करनेवाला मनुष्य ऐसा हो कि जो जनोंकी बातें सुनें और उनकी सहायता करें।

कर्ता वीरं नर्यं सर्ववीरम्। ऋ० ६।२३।४

' सर्व जन हितकारी कर्म करनेवाला वीर हो, सब प्रकारके वीरोचित कार्य करनेवाला हो, ' डरनेवाला न हो।

तुरुर्वीरो नर्यो विचेताः श्रोता हवँ गृणत ऊर्व्यूतिः। वसुः शंसो नरां कारुधाया वाजी स्तुतो विदथे दाति वाजम्॥ ऋ० ६।२४।२

' (तुरुरिः) शत्रुका नाश करनेवाला (वीरः नर्यः) मानवोंका हित करनेवाला (विचेताः) विशेष बुद्धिमान (हवं श्रोता) पुकार सुननेवाला, (गृणतः उर्वि-ऊतिः) ज्ञानियोंका विशेष संरक्षण करनेवाला (वसुः) जनोंका उत्तम निवास करानेवाला अतएव (नरां शंसः) मनुष्योंके द्वारा प्रशंसाके योग्य (कारुधायाः) कारीगरों, शिल्पियोंका धारण पोषण करनेवाला (विदथे स्तुतः वाजी) युद्धमें प्रशंसा होने योग्य विशेष बलवान् ऐसा भद्र श्रेष्ठ वीर (वाजं दाति) अन्न बल और धन आदि देता है। ' यह मंत्र विशेष ही मननीय है। श्रेष्ठ पुरुषके अनेक लक्षण इस मंत्रमें दिये हैं। साधक अपने जीवनमें इन गुणोंको ढालनेका यत्न करें। जनताका हित करनेवालोंमें कौनसे गुण चाहिये उन गुणोंको इस मंत्रमें एक स्थानपर दर्शाया है। और देखो—

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्। वामं गृहपतिं नय॥ ऋ० ६।५३।२

'(वीरं प्रयत दक्षिणं) वीर दान देनेवाले (वामं) वन्दनीय (नर्यं वसु) मानवोंका हितकारी धन देनेवाले (गृहपतिं अभिनय) गृहस्थीके पास हमें पहुंचाओ।' यहां गृहस्थोंके कर्तव्य बताये हैं, गृहस्थी वीर हो, नरोंका हित करनेवाला हो, धन देनेवाला हो, सबके द्वारा वंदनीय हो। इसमें भी वह मानवोंका हित करनेवाला हो यह प्रमुखतया कहा है।

इन्द्रासोमा युवमंग तरुत्रमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथे।
युवं शुष्मं नर्यं चर्षणिभ्यः सं विव्यथुः पृतनाषा-
हमुग्रा ॥ ऋ० ६।७२।५

'हे इन्द्र और सोम! (युवं) तुम दोनों मिलकर (तरुत्रं) सबका तारण करनेवाला (श्रुत्यं) प्रशंसनीय और (अपत्य-साचं) सन्तानको भी साथसाथ देनेवाला धन (अंग रराथे) शीघ्र ही देते हैं। हे (उग्रा) शूर वीरो (युवं) तुम दोनों (पृतना-षाहं) शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला और (नर्यं शुष्मं) मानवोंका हित करनेवाला बल (चर्षणिभ्यः सं विव्यथुः) मानवोंको देते हैं।'

यहां 'अपत्य-साचं तरुत्रं श्रुत्यं' ये तीन विशेषण धनके वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त किये हैं। धन संतान देनेवाला हो। जगत्में हम देखते हैं कि, धनी लोगोंको संतान नहीं होता, और वे संतानके लिये तडफते रहते हैं। इसलिये धन ऐसे व्यवसायसे प्राप्त करना चाहिये कि, जिससे संतान होनेमें बाधा न हो। यह बात विशेष महत्त्वकी है। दूसरा पद 'तरुत्रं' है यह (तरु+त्रं) दुःखसे पार करके तारण करनेकी शक्ति बताता है। तैरकर पार होनेका भाव 'तरु' में है और 'त्र' का अर्थ रक्षण तथा तारण है। इसके साथ 'श्रुत्यं' पद भी मननीय है। चारों ओर जिससे प्रशंसा होती है, लोगोंद्वारा की गई प्रशंसा या स्तुति चारों ओरसे सुनाई देती है। धन ऐसा हो। जिससे निंदा होती है, ऐसा धन हमें नहीं चाहिये।

जनहितकारी वीर पुत्र

मा त्वे सचा तनये नित्य आ धङ्
मा वीरो अस्मन्नर्यो विदासीत् ॥ ऋ० ७।१।२१

'(नित्ये तनये) औरस पुत्रको (त्वे सचा) तू सहायक हो और (मा आ धङ्) हमारा नाश न कर, तथा (नर्यः वीरः) नरोंका हित करनेवाला पुत्र (अस्मत् मा विदासीत्) हमसे दूर न हो।' अर्थात् हमारा पुत्र जनताका, मानवोंका हित करनेके लिये प्रशंसनीय कर्म करता रहे और ऐसा पुत्र हमारे साथ रहे।

तीन कार्यकर्ता

एते द्युम्नेभिः विश्वं आतिरन्त मन्त्रं ये वारं
नर्या अतक्षन्। प्र ये विशस्तिरन्त श्रोषमाणा
आ ये मे अस्य दीधयन्नृतस्य ॥ ऋ० ७।७।६

'(ये नर्याः) जो मनुष्योंका हित करनेमें तत्पर रहनेवाले पुरुष (अरं मन्त्रं अतक्षन्) गुप्त आयोजनाको पर्याप्त रूपसे सिद्ध करते हैं, तथा (ये श्रोषमाणाः विशः) जो जनोंका आवाज सुननेवाले प्रजाजन (प्रतिरन्त) दुःखपार होनेका कार्य करते हैं और (मे ये अस्य ऋतस्य आ दीधयन्) मेरे जो मित्र इस सत्यभावको संवर्धित करते हैं, (एते) ये लोग (द्युम्नेभिः) तेजस्वी मार्गोंसे (विश्वं आतिरन्त) सब विश्वको सुखी करते हैं, दुःखसे पार करते हैं।

यहां तीन प्रकारके कार्य कर्ताओंका वर्णन है। (नर्याः मन्त्रं अतक्षन्) मानवोंका हित करनेवाले गुप्त अथवा मनन करने योग्य आयोजनाओंको सिद्ध करते हैं। विचार पूर्वक आयोजना मानवोंके हितके लिये तैयार करते हैं और उसको सिद्ध करते हैं। ये (१) एक प्रकारके लोग हैं। (२) दूसरे (श्रोषमाणाः विशः प्रतिरन्त) प्रजाकी पुकार सुननेवाले लोग दुःखसे पार होनेका यत्न करते हैं। प्रजाकी पुकार सुनते हैं और उनको दुःखसे पार ले जाते हैं। (३) तीसरे (ऋतस्य आदीधयन्) सत्य मार्गको प्रकाशित करते हैं। ये तीन प्रकारके लोग जनताका हित करनेवाले हैं और ये ही सब जगत्को दुःखसे पार करके सुखी करते हैं।

उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावान् चक्रिरपो नर्यो
यत्करिष्यन्। जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिः त्राता
न इन्द्र एनसो महश्चित् ॥ ऋ० ७।२०।१

'(स्व-धा-वान्) निज धारणा शक्तिसे युक्त (उग्रः) प्रचण्डवीर (वीर्याय जज्ञे) पराक्रम करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। यह (नर्यः) मानवोंका हित करनेके लिये (यत् करिष्यन्) जो करना चाहता है वह (अपः चक्रिः) कर्म करके छोडता है। यह (युवा) तरुण (अवोभिः नृषदनं जग्मिः) संरक्षण करनेके साधनोंके साथ मानवोंके घरोंके

पास जाता है, यह इन्द्र (महः एनसः नः त्राता) बडे पापसे हमारा तारण करता है। '

यह वीर अपनी शक्ति बढाता है, वीर्यके प्रचण्ड कार्य करता है। मानवोंका हित करनेके लिये जो कर्म करनेकी आवश्यकता उत्पन्न होती है, वे सब कर्म वह विना प्रमाद कर छोडता है। वह तरुण जैसा नित्य उत्साही वीर अपने साथ संरक्षणोंके साधन लेकर मानवोंके घरोंके समीप जाता है और उनका संरक्षण करता है। सार्वजनिक हितके कार्य करनेवालेको प्रथम अपनी निज शक्ति बढानी चाहिये। जिससे वह सर्वजन हितकारी कर्म कर सके। उसकी निज शक्ति बढनेपर वह (अवोभिः) अपने पास संरक्षण करनेके साधन एकत्रित करे और उन रक्षक साधनोंके साथ वह प्रजाजनोंके तथा अनुयायियोंके निवास स्थानोंमें भ्रमण करके उनकी अवस्था देखे और उनका संरक्षण करनेके लिये जो करना चाहिये वह योग्य रीतिसे करे।

वीर पुत्रका निर्माण

वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव। प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्तीनः सत्वा गवेषणः स धृष्णुः ॥ ऋ० ७।२०।५

' (वृषा) बलवान पिताने (रणाय) युद्ध करनेके लिये ही (वृषणं) बलवान् पुत्रको (जजान) निर्माण किया है। (नारी) माताने भी (तं उ चित् नर्यं) उसी मानवोंका हित करनेमें तत्पर रहनेवाले पुत्रको (ससूव) जन्म दिया। (अध) और (सः) वही वीर (सेनानीः) सेनाका संचालन करनेवाला (सत्वा) बलवान्, (गवेषणः) गौओंकी प्राप्ति करनेवाला (धृष्णुः) शत्रुका पराभव करनेवाला और (नृभ्यः इनः प्र अस्ति) मानवोंके लिये शासन कर्ता जैसा होता है। '

पिता और माता दोनों अपना पुत्र बलवान, युद्धमें विजयी, जनताका कल्याण करनेवाला, सेनापति, बलवान शूर शत्रुका पराभव करनेवाला और शत्रुने चुराई गौवोंको वापस लानेवाला हो ऐसा चाहती है। और दोनोंकी वैसी प्रबल इच्छा होनेके कारण ऐसे मातापिताओंको ऐसा ही वीर पुत्र उत्पन्न होता है।

यहां उत्तम सुसंतान उत्पन्न करनेकी विधि बताई है। पिता और माता दोनों ऐसा पुत्र निर्माण हो ऐसी इच्छा धारण करें, साल छ मास व्रत धारण करके रहें। पश्चात् सहवास होनेपर ऐसा ही पुत्र उत्पन्न होगा। यह मंत्र इस दृष्टिसे मननीय है। ' वृषा जजान ' बलवान् पिताने पुत्रको जन्म दिया। और ' नारी ससूव ' माताने पुत्रका प्रसव किया। ये दोनों वाक्य बताते हैं कि उत्तम पुत्र निर्माण करनेमें माता पिता दोनोंका भाग रहता है। मुझे इस तरहका पुत्र हो यह प्रबल इच्छा अधिक मास तक दोनोंमें रहना, दोनोंका व्रतस्थ रहना और एक ही इच्छासे मातापिता दोनोंका मन प्रभावित रहना यहां आवश्यक है।

इस मंत्रमें दिये (वृषणं) बलिष्ठ (रणाय) युद्ध करनेवाला, युद्धमें प्रवीण, (नर्यं) मानवोंका हित करनेवाला, (सेनानी) सैन्यका संचालन करनेमें प्रवीण, (सत्वा) बलवान्, सत्ववान्, (धृष्णुः) शत्रुको जीतनेवाला ये विशेषण मननीय हैं। पुत्र ऐसा हो।

आ ते मह इन्द्रोत्युग्र समन्यवो यत् समरन्त सेनाः। पताति दिद्युन्नर्यस्य बाह्वोर्मा ते मनो विश्वद्र्यग् विचारीत् ॥ ऋ० ७।२५।१

' हे (उग्र इन्द्र) वीर इन्द्र! (यत् स-मन्यवः सेनाः) जब समान उत्साहवाली सेनाएं (समरन्त) एक दूसरेपर हमला करती हैं, तब (नर्यस्य ते बाह्वोः) नरोंका हित करने वाले तेरे बाहुओंसे (दिद्युत् ऊती पताति) तेजस्वी शस्त्र संरक्षण करनेके लिये ही शत्रुपर गिरता है। (ते मनः) तेरा मन (विश्वद्र्यक् मा वि चारीत्) इधर उधर न भटकता रहे। '

यहां यह इन्द्र नरोंका हित करनेवाला है। और वह इसी लिये युद्ध करता है, ऐसा कहा है। बालकको मानवोंका हित करनेकी दीक्षा देनेके विषयमें अगले मंत्रमें देखिये—

मातापिताकी शरीरकी पवित्रता

स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो यज्ञियासु। स वाजिनं मघवद्भ्यो दधाति वि सातये तन्वं मामृजीत ॥ ऋ० ७।९५।३

' (नर्यः) नरोंका हित करनेवाला (वृषा वृषभः शिशुः) बलशाली समर्थ पुत्र अथवा वह बालक (यज्ञियासु योषणासु वव्रधे) पूज्य स्त्रियोंमें रहता हुआ बढता है। वह (मघवद्भ्यः वाजिनं दधाति) सत्कर्म करनेवालोंको बलवान् पुत्र देता है और सुसंतान होनेके (सातये तन्वं वि

भामृजीत) लाभके लिये उनके शरीरोंपर उत्तम विशेष रीतिके सुसंस्कार करता है।'

सुसंतति होनेके लिये मातापिताके शरीरोंपर शुभ संस्कार करने चाहिये, शरीरकी और मनकी परिशुद्धता करनी चाहिये। इससे बलवान पुत्र उत्पन्न होता है, जो पवित्र स्त्रियोंमें रहकर बढता है और वह युवा होनेपर मानवोंका हित करनेके कार्य करता है।

मानव हितकारी रथ

ऋभुओंका रथ मानवोंका हित करनेवाला है, इस विषयमें यह मंत्र देखिये-

आ वो अर्वाचः क्रतवो न यातां विभ्वो रथं नर्यं वर्तयन्तु ॥ ऋ. ७।४८।१

'(न) अब (यातां वः) आपके जानेके समय (विभ्वः क्रतवः) विशेष प्रभावी कर्म करनेवाले तुम्हारे घोडे (नर्यं रथं) मानवोंका हित करनेवाले रथको (आ वर्तयन्तु) हमारे पास ले आवें।'

अर्थात् तुम्हारा रथ सब मानवोंका हित करनेके लिये पृथ्वीपर भ्रमण कर रहा है, वह हमारे समीप आकर हमारा भी हित करे। मानवोंका हित करनेवाला रथ इसका भाव यह है कि, रथमें मानवोंके उपयोगके पदार्थ रहते हैं, जो लोगोंको मिलते हैं और सब लोगोंका कल्याण उनके उपयोग करनेसे होता रहता है।

हितकारी धन

आ देवो यातु सविता सुरत्नोऽन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः। हस्ते दधानो नर्या पुरूणि निवेशयञ्च प्रसुवञ्च भूम ॥ ऋ० ७।४५।१

'(सु-रत्नः) उत्तम रत्नोंका धारण करनेवाला (अन्तरिक्षप्राः) अन्तरिक्षको अपने प्रकाशसे भर देनेवाला और (अश्वैः वहमानः) अश्वोंद्वारा जिसका रथ चलाया जा रहा है, वह सविता देव (आ यातु) हमारे पास आ जावे। वह (पुरूणि नर्या) बहुत प्रकारके मानवहितकारी धनोंको (हस्ते दधानः) हाथमें धारण करनेवाला और (भूम) सब भूतोंको (निवेशयन्) योग्य स्थानपर रखनेवाला और (प्रसुवन्) कर्ममें सबको प्रेरणा करनेवाला है।'

यहां सूर्यको 'नर्य' अर्थात् मनुष्योंका हित करनेवाला कहा है। यह धन देता है, प्रकाश फैलाता है, दिनमें सबका उत्साह बढाता है और सबका कल्याण करता है। और देखिये—

भीमो विवेषायुधेभिरेषां अपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान्। इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वि दूधोद् वि वज्रहस्तो महिना जघान ॥ ऋ० ७।२१।४

'यह इन्द्र (नर्याणि विश्वा अपांसि विद्वान्) मानवोंका हित करनेवाले सब कर्मोंको जानता है और इस कारण (भीमः) भयानक वीर होकर (आयुधेभिः) शस्त्रोंसे (एषां) इन शत्रुओंको (विवेष) घेरकर मारता है, अन्दर घुसकर मारता है। उनके (पुरः विदूधोत्) नगरोंको हिला देता है और (जर्हृषाणः) आनन्दसे (महिना वज्रहस्तः जघान) अपनी शक्तिसे हाथमें शस्त्र लेकर शत्रुका वध करता है।'

यहां कहा है, कि यह वीर मानवोंके हित करनेवाले कर्मोंको कैसा करना चाहिये, यह सब यथावत् जानता है। अतः वह शस्त्रोंके साथ शत्रुकी सेनामें घुसता है और उनको मारता है, शत्रुके नगरोंको पादाक्रान्त करके उनपर अपना अधिकार जमाता है। इस तरह शत्रुका नाश करके लोगोंका हित करता है।

नू मर्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव उरुगायाय दाशत्। प्र यः सत्राचा मनसा यजात एतावन्तं नर्यं आविवासात् ॥ ऋ० ७।१००।१

वह (मर्तः सनिष्यन् दयते) मनुष्य धनकी इच्छा करता है और धन प्राप्त करता है। (यः उरुगायाय विष्णवे दाशत्) जो अनेकोंद्वारा प्रशंसित हुए विष्णुको अर्पण करता है। (यः सत्राचा मनसा प्र यजाते) जो एकाग्र मनसे उसका यजन करता है और जो (एतावन्तं नर्यं आविवासात्) इस तरहके मानवोंका हित करनेवाले देवका सत्कार करता है।'

जो व्यापक प्रभुकी मनसे उपासना करता है, उसकी पूजा करता है, उसको सब प्रकारका ऐश्वर्य मिलता है। यह प्रभु मानवोंका हित सदा सर्वदा करता रहता है।

ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय। भरा पिबन् नर्याय ॥ ऋ० ८।२।२३

'(वीराय शक्राय) वीर सामर्थ्यवान् (नर्याय इन्द्राय) नरोंका हित करनेवाले इन्द्रके लिये सोम दो।' यहां इन्द्रको

' नर्य ' अर्थात् मानवोंका हित करनेवाला करके कहा है। इन्द्र शत्रुका पराभव करके मानवोंका अधिकसे अधिक हित करता है। इस कारण उसकी प्रशंसा होती है।

उद्वेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्।
अस्तारमेषि सूर्य ॥ ऋ० ८।९३।१; अथर्व० २०।७।१

' हे सूर्य! तू ही (श्रुत-मघं) प्रशंसित धनसे युक्त (वृषभं) बलवान (अस्तारं) दाता और (नर्य-अपसं) मानवोंका हित करनेके लिये ही कर्म करनेवालेके समीप (उत् अभि एषि) पहुंचता है।'

यहां ' नर्य-अपसं ' यह पद मुख्य है। मानवों या नरोंका हित करनेके लिये जो कर्म करने आवश्यक हैं उन कर्मोंको करनेवाला, यह इसका अर्थ है। ' अपस् ' का अर्थ भी व्यापक लाभ करनेवाले कर्म ऐसा है। जिस कर्मका लाभ सर्व साधारण तक पहुंचता है, उस कर्मको 'अपस्' कहते हैं। ऐसे कर्म करनेवाला जनताका हित करनेके लिये ऐसे कर्म करने चाहिये, यह उपदेश यहां है। और देखिये-

स वृत्रहेन्द्र ऋभुक्षाः सद्यो जज्ञानो हव्यो बभूव।
कृण्वन्नपांसि नर्या पुरूणि सोमो न पीतो हव्यः सखिभ्यः ॥ ऋ० ८।९६।२१

(वृत्र-हा ऋभु-क्षाः स इन्द्रः) वृत्रादि असुरोंका नाश करनेवाला, शिल्पियोंका संरक्षण करनेवाला वह इन्द्र प्रकट होते ही तत्काल प्रार्थनीय होता है। (सखिभ्यः हव्यः) मित्रोंके लिये सहायक और (पुरूणि नर्या अपांसि कृण्वन्) बहुत लोगोंका हित करनेवाले अनेक कर्म करता है। जिस तरह पीया सोम आनंद देता है वैसा यह वीर सबको आनंद देता है।'

यहां बताया है कि जनहितके अनेक विध कर्म होते हैं। उनमें शत्रुका नाश करना, शिल्पियोंकी पालना करना, समान विचारवालोंका आदर करना और जो जनहितके लिये आवश्यक कर्म होंगे, उन कर्मोंको करना चाहिये। यह एक बडा भारी कार्यक्रम इस मंत्रने बताया है।

सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव।
ऋ० ९।१०५।५

' मित्र जिस तरह मित्रका सहायक होता है वैसा तू सब मानवोंका हित करनेवाला बन और उनका तेज बढाओ।' लोकोंका हित करना और उनका तेज बढाना चाहिये।

मानवोंमें श्रेष्ठ

नृणां नर्यो नृतमः।
ऋ० १०।२९।१; अथर्व० २०।७६।१

' (नृणां) मानवोंमें (नृतमः) श्रेष्ठ नेता, श्रेष्ठ मनुष्य (नर्यः) मानवोंका हित करता है।' जो मानवोंका हित करनेमें अपना जीवन अर्पण करता है, वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ समझा जाता है।

स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैः ॥ ऋ० १०।२९।७; अथर्व २०।७६।७

' वह (पृथिव्याः वरिमन्) पृथिवीके ऊपर (क्रत्वा) अपने कर्मसे और (पौंस्यैः) पराक्रमोंसे (नर्यः) मानवोंका हित करनेवाला (अभि आ वावृधे) बढ रहा है।' पृथ्वीपर जो वीर विशेष सार्वजनिक हित करनेके कार्य करता है और विशेष पराक्रम करता है, उसका यश चारों ओर फैलता है और इस कारण उसको श्रेष्ठपद प्राप्त होता है।

सो चिन्नु सख्या नर्य इनः स्तुतः। ऋ० १०।५०।२

' वह वीर सबके साथ मित्रवत् व्यवहार करनेसे सर्वत्र प्रशंसित होता है और सब मानवोंका (नर्यः) हित करनेके कारण वही (इनः) सबका शासक होता है।' अर्थात् जो सबका हित करता है, उसीको राज्यके शासकके स्थानपर सर्व संमतिसे सब लोक चुनते हैं। नरोंका हित करनेवाला ही राज्यका शासक होता है क्योंकि वह सबके साथ (सख्या) मित्रके समान आचरण करता है।

जनिष्टो···नर्यः सुजातः। ऋ० १०।९५।१०

' उत्तम कुलमें यह उत्पन्न हुआ जो (नर्यः) मानवोंका हित करता है।' उत्तम श्रेष्ठ कुलमें जो उत्पन्न हुआ है उसको मानवोंका हित करनेका कार्य अवश्य करना चाहिये। नहीं तो श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेसे कौनसा लाभ है?

भर्ता यो वज्रं नर्यं पुरुक्षुः। ऋ० १०।७४।५

' जो बहुत प्रशंसित इन्द्र वीर है, वह (नर्यं वज्रं) मानवोंका हित करनेवाला वज्र धारण करता है।' यहां वज्रको भी मानव हितकारी करके वर्णन किया है। शूरके बाहु, शस्त्र अस्त्र, बल ये सबके सब मानवोंका हित करनेवाले हैं। अर्थात् ये युद्धके साधन मानवी हित करनेमें प्रयुक्त होने चाहिये।

अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥ अथर्व १९।४९।३

' हमारा संरक्षण कर, वहां (नर्याणि) मानवोंका हित करनेके कार्य किये हैं और (गव्यानि) गौओंका हित करनेके कार्य किये हैं और (पुष्ट्या) सबकी पुष्टी करनेके कार्य किये गये हैं । '

इस मन्त्रमें ' नर्य ' पद मानवोंका हित करनेके कार्य दर्शाता है और ' गव्यानि ' पद गौओंका हित करनेके कार्य बताता है । अर्थात् मानवोंका हित जैसा करना चाहिये वैसा ही गौओंका भी हित करना चाहिये । मानवोंके कर्तव्योंमें ये दोनों कर्तव्य हैं । गौओंका हित भी मानवोंका हित करनेके लिये आवश्यक है ।

मर्य शब्दका प्रयोग

' मर्य ' शब्दके प्रयोगसे मरण धर्मवाले मानवोंका हित करनेका भाव जिन मंत्रोंमें बताया है, वे मंत्र अब देखेंगे ' मर्य ' शब्दका अर्थ ' मरनेवाला, मरण धर्मा ' है । ऐसे मरनेवाले मानवोंका हित करनेके कार्यमें जो तत्पर रहता है, उसको भी ' मर्यः ' (मर्येभ्यः हितः) मरनेवालोंका हित करनेवाला कहा जाता है । रोगियोंकी सेवा, दुर्बलोंकी सहायता, दीनोंका उद्धार करनेका कार्य करनेका भाव इस शब्दमें होता है । देखिये—

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुः मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः । तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उपब्रुवते दस्ममारीः ऋ० १।७७।३

' (सः क्रतुः) वह पुरुषार्थके कर्म करता है, (सः मर्यः) वह मानवोंका हित करनेके कार्य करता है, (सः साधुः) वह सदाचारी है, (मित्रः न) वह मित्रके समान सहायक होता है, (अद्भुतस्य रथीः) अपूर्व धनको रथमें रखकर लानेवाला है । (आरीः) प्रगतिशील (देवयन्तीः विशः) देवत्व प्राप्त करनेवाली प्रजा (तं मेधेषु प्रथमं दस्मं) उस यज्ञोंमें प्रथम वंदनीय सुन्दर देवकी (उप ब्रुवते) प्रशंसा करती है । 'यहां इस मंत्रमें ' क्रतुः, मर्यः साधुः ' ये पद हैं । (क्रतु) पुरुषार्थी हैं, साधना करनेवाले साधक ' साधु ' कहलाते हैं और मरनेवाली प्रजाका हित करनेमें जो तत्पर रहते हैं, वे ' मर्य ' कहलाते हैं । ' क्रतु ' और ' साधु ' के मध्यमें ' मर्य ' पद है । इसलिये इसका अर्थ ' क्रतु और साधु ' के साथ सुसंगत होना चाहिये ।

निर्दोष कार्यकर्ता

नरो मर्या अरेपसः । ऋ० ५।५३।३

' (अ-रेपसः) निष्पाप (नरः) मानव (मर्याः) मरण धर्मा मनुष्योंका हित करते हैं । ' अर्थात् पापी लोग मनुष्योंका हित नहीं कर सकते । इस कारण सार्वजनिक कार्य करनेवालोंको उचित है कि वे अपना जीवन निष्पाप करें और सार्वजनिक हितके कार्य करें । जहां पापी लोग सार्वजनिक हितका कार्य करने लगेंगे, वहां उनकी पापी प्रवृत्तिके कारण उनका कार्य सदोष होगा और कार्यकी हानि होगी। इसलिये सार्वजनिक हित करनेके कार्य करनेवाले निष्पाप रहने चाहिये । और देखिये—

आयुभर सर्वजनहित करे

अग्निं विश्वायुवेपसं मर्यं न वाजिनं हितम् । सप्तिं न वाजयामसि । ऋ० ८।४३।२५

' (विश्व-आयु-वेपसं) संपूर्ण आयु पर्यंत बलके कर्म करनेवाले (मर्यं) मानवोंका हित करनेवाले और (हितं वाजिनं) हितकारी सामर्थ्यशाली पुरुषको (सप्तिं न) घोडेको जिस तरह शक्तिशाली बनाते हैं उस तरह अग्निको हम प्रदीप्त करते हैं । ' आयुभर जो सार्वजनिक हितके कार्य करता है, उसको बलवान बनकर रहना चाहिये । यदि वह निर्बल हुआ तो उससे सार्वजनिक कार्य नहीं होंगे ।

' विश्व-आयु-वेपसं हितं वाजिनं मर्यं वाजयामसि '

' सब आयुभर बलवर्धक कार्य करनेवाले हितकारी सामर्थ्यसे युक्त सार्वजनिक हितकर्ताका सामर्थ्य हम बढाते हैं । ' मनुष्य आयुभर बडे बडे कार्य करे, उनसे सार्वजनिक हित करे, उन कर्मोंको करनेके लिये सामर्थ्यवान बने और जो ऐसा सार्वजनिक हित करता है उसका सामर्थ्य लोग बढावें । उनका सामर्थ्य कम होने योग्य कोई कार्य न करे । और देखिये-

पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवो रिशादसो न मर्या अभिद्यवः । ऋ० १०।७७।३

' (पाजस्वन्तः वीराः) बलवान् वीर और (रिशादसः मर्याः) शत्रुका नाश करनेवाले सार्वजनिक हित करनेवाले

मनुष्य (अभिद्यवः) तेजस्वी होते हैं और (पनस्यवः) प्रशंसनीय होते हैं । ' वीर बलवान हों, शत्रुनाश करनेवाले हों, सार्वजनिक हित करनेवाले हों, तेजस्वी हों ईश्वरकी स्तुति उपासना करनेवाले हों । '

राजानो न चित्राः सुसंदृशः क्षितीनां न मर्या अरेपसः ॥ ऋ० १०।७८।१

' जैसे (अ-रेपसः मर्याः) जिस तरह निष्पाप लोग सार्वजनिक हितके कार्य करके शोभते हैं, वैसे ही (क्षितीनां राजानः) प्रजाजनोंके राजा लोग (चित्राः सुसंदृशः) सुन्दर दीखते हैं, शोभायमान होते हैं । ' निष्पाप लोग सर्वजन-हितकारी कार्यमें लग जानेसे शोभते हैं ।

मर्यादाके अर्थकी व्याप्ति

' मर्यादा ' पद बडा महत्वका भाव बताता है। (मर्य-आदा) मानवोंका हित करनेवाले पुरुषोंने जिसका स्वीकार किया है, वह ' मर्यादा ' है । धर्मकी मर्यादा, जनमर्यादा, आचारकी मर्यादा वह है कि जो सार्वजनिक हितके कार्य करनेवाले भद्र पुरुषोंने निश्चित की होती है ।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यं-हुरो गात् । ऋ० १०।५।६; अथर्व ५।१।६

ज्ञानियोंने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं । इनमेंसे एकका भी उल्लंघन करनेवाला पापी होता है । ' (१) चोरी, (२) गुरुकी पत्नीके साथ अत्याचार करना, (३) ब्रह्महत्या, (४) भ्रूणहत्या, (५) सुरापान, (६) पापको पुनः पुनः करना, (७) पाप करनेपर उसको छिपानेके लिये असत्य भाषण करना ये सात मर्यादाएं हैं । ऐसा निरुक्त ६।२७ में कहा है । मनुस्मृतिमें सप्त पातकोंकी गणना इस तरह की है-

पानं अक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्यात् चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा॥५१॥

मनु० ७।५०-५१

कामज गणके चार पातक— (१) मद्यपान, (२) द्यूत, (३) व्यभिचार, स्त्रीविषयक अत्याचार, (४) मृगया ये हैं । क्रोधज गणके तीन पातक हैं- (१) कठोर दण्ड देना, (२) कठोर भाषण करना, गाली प्रदान, (३) पर द्रव्यका अपहार करना ये हैं । मिलकर ये सात पातक होते हैं : तथा पुनः—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः तत्संसर्गश्च पञ्चमम् ॥

मनु० ११।५४

' (१) ब्रह्महत्या, (२) सुरापान, (३) स्तेय, (४) गुरुकी स्त्रीके साथ गमन, और (५) इन पापियोंके साथ संसर्ग करना ये पांच महापातक हैं । ' गौतम धर्म सूत्रके अन्दर ये पातक गिने हैं—

ब्रह्मह-सुराप-गुरुतल्पग-मातृपितृयोनिसंब-न्धग-स्तेन-नास्तिक-निन्दितकर्माभ्यासि-अपतितत्यागिनः पतिताः । गौतम धर्मसूत्र २१-१

(१) ब्रह्महत्या, (२) मद्यपान, (३) गुरुपत्नी गमनं, (४) मातृपितृ संबंधियोंसे व्यभिचार, (५) चोरी, (६) नास्तिक मत स्वीकार, (७) निन्दित कर्मको वारंवार करना, (८) पतितको अपने आश्रयमें रखना, (९) शुद्ध पुण्यात्माको त्याग देना, ये पतित कहे जाते हैं। वसिष्ठ स्मृतिमें कहा है ।

गुरुतल्पं सुरापानं भ्रूणहत्या ब्राह्मणसुवर्णाप-हरणं पतितसंयोगश्च । वसिष्ठस्मृति २।१८।१९

(१) गुरुकी पत्नीके साथ गमन, (२) मद्यपान, (३) भ्रूणहत्या, (४) ब्राह्मणके धन या सुवर्णका अपहरण करना और (५) पतितके साथ संबंध करना । ये पातक हैं ।

इस तरह अनेक पातक कहे हैं। मनुस्मृति अ. ११ में अधिक वर्णन देखने योग्य है । इनका नाम ' मर्यादा ' है । ' मर्यैः या आदीयते ' मानवोंने अथवा मानवोंका हित करनेवालोंने जो स्वीकार की है वह मर्यादा है। यहांका ' मर्य ' शब्द मानववाचक माननेकी अपेक्षा ' सार्वजनिक हित करनेमें तत्पर रहनेवाले ज्ञानी पुरुष ' ऐसा मानना अधिक उचित है क्योंकि जो हीन पुरुष हैं, वे तो वे पातक करते ही हैं । मर्यादा तो वे लोग करते हैं कि जो इन पापोंसे दूर रहते हैं और जो मानवोंका सच्चा हित चाहते हैं ।

मर्यका अर्थ ।

(१) नरः नेतारः मर्याः मनुष्येभ्यो हिताः ॥

सायनभाष्य ५।५३।३

(२) मर्त्यासः मर्त्येभ्यो हिताः । सायन ५।६।१४

इस तरह 'मर्य' का अर्थ 'मानवोंके लिये हितकारक' कर्म करनेवाला ऐसा अर्थ भाष्यकार समय समय पर करते हैं।

पांचजन्य, नर्य और मर्य

यहां तक 'पांचजन्य, नर्य और मर्य' इन तीन पदोंका विचार हुआ। और वेदमंत्रोंमें इनके विषयमें जो कहा है, वह हमने देखा। ऊपर ऊपरसे देखा जाय, तो इन तीनों पदोंका अर्थ 'सर्वजनहित, या सार्वजनिक हित करनेवाला' ऐसा ही है। परंतु–

(१) 'पांचजन्य' पदमें 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद' अर्थात् 'ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कर्मचारी और वन्य' वर्गोंका बोध होता है, इसलिये इन वर्गोंका हित पृथक् पृथक् देखनेका भाव इस 'पाञ्चजन्य' पदमें है। पांचजन्यके कर्तव्यमें सर्वजनहित है, परंतु उसमें उसने पांचों वर्गोंका हित ठीक तरह हो रहा है या नहीं यह मनन पूर्वक देखना चाहिये। यह कर्तव्यका भार कार्यकर्तापर रहता है। जो पञ्चजनोंका हित करता है वह तो सब लोगोंका हित करता ही है, परंतु प्रत्येक वर्गकी ओर वह विशेष रीतिसे देखता है और प्रत्येक वर्गकी आवश्यकताओंकी ओर देखना उसका कर्तव्य होता है। यह पाञ्चजन्यकी विशेषता है। यहां सर्व साधारण जनहित करनेकी दृष्टि गौण है और प्रत्येक वर्गका हित करनेकी दृष्टि विशेष है।

(२) दूसरा पद 'नर्य' है। नरका विशेष अर्थ नेता है। जो मुख्य है, प्रमुख है। वर्गका जो प्रमुख है, जिसके आधीन बहुतसे लोग रहते हैं वह नर है। यह नर स्वार्थी भोगोंमें रमता नहीं (न-रमते) और अपने अनुयायियोंका हित करनेमें तत्पर रहता है। ऐसे नेताओंका हितसाधन करना यहां विशेष है। यह एक राज्य शासनकी व्यवस्था है। जो सुख साधन इन नेताओंको मिलेंगे, वे सब मानवोंतक निःसंदेह पहुंच जांयगे और इससे सब जनोंका हित होगा ही। यहां संघ और संघनेता ऐसी समाज व्यवस्थाकी कल्पना है। संघनेताके द्वारा यहां सब सुखसाधन संघबन्धुओंको पहुंचने हैं।

'नर' पदका अर्थ मनुष्य ऐसा भी है और इस अर्थको लेनेसे 'नर्य' का अर्थ 'सब मानवोंका हित करनेवाला, ऐसा भी होता है, परंतु ऊपरका अर्थ यहां विशेष आदरणीय है।

कैसा भी हो यह पद भी सब मानवोंका हित करनेका भार कार्यकर्ताओंपर रखता है। 'पाञ्चजन्य' और 'मर्य' इन दो पदोंसे जो भाव व्यक्त होता है वह यह है।

(३) अब 'मर्य' पद है। इसका वास्तविक अर्थ 'मरनेवाला' है। मरनेवालोंका हित करनेवाला यह इस पदका भाव है। मरनेवाले, रोगी, दीन, कृश, अपंग, दुर्बल जो हैं, उनका हित करना यहां मुख्य है। इनको ही मुख्यतः सहायता मिलनी चाहिये। क्योंकि वे स्वयं अपनी उन्नति करनेमें असमर्थ होते हैं। समाज सेवा करनेकी जो इच्छा करते हैं, वे इस पदका विचार करें। समाजसेवा तो इन दीनोंकी ही सेवा है। यदि सेवा करनी है और यदि समाजसेवा करनेका व्रत किसीने अपने जीवनमें ढालना है, तो वह समाजसेवा इन दीन दुर्बल अपंग रोगियोंकी ही सेवा है।

इस तरह 'पांचजन्य, नर्य और मर्य' इन पदोंसे वेदने जो सर्वजन हित करनेका व्रत अपने जीवनमें ढालनेका उपदेश किया है, वह इस व्याख्यानमें बताया है। केवल 'सार्वजनिक हित' इतना ही न कहते हुए वेदने कहा है कि 'पञ्चजनोंका हित करो, नरोंका हित करो, मर्त्योंका हित करो।' बात एक ही है, सब मानवोंका हित करनेका ही उद्देश्य है, परंतु उसमें कितनी बारीकी वेदमें कही है यह विचारकी दृष्टिसे देखनेका यत्न यहां करनेकी आवश्यकता है। इस दृष्टिसे वेदका एक एक पद विशेष महत्त्वका प्रतीत होते हैं।

करोडों मानवोंका मिलकर जो एक विराट संघ है वही मानो परमेश्वरका विराट् देह है, वही 'सहस्रशीर्षा सहस्र नेत्र, सहस्रबाहु, सहस्रोदर, सहस्रजंघ और सहस्रपाद पुरुष है' करोडों प्राणियोंके जो सिर बाहु उदर और पांव हैं वे ही मानो उसके सिर बाहु उदर और पांव है। यह एक आलंकारिक पुरुष मानव समाजरूपी ही पुरुष है। यही सब मनुष्योंके लिये संसेव्य है।

सेवा किसकी होती है ?

पुत्र पिताकी सेवा करता है, उस समय पुत्र पिताके दुखी अवयवकी ही सेवा करता है। जिस अवयवमें दर्द है

उसकी मालिश की जाती है। जहां दुःख है, वहीं सेवाकी जरूरी रहती है। जो शरीरका अवयव ठीक कार्यक्षम है उसकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो निर्बल है, रोगी है उसीकी सेवा करनी चाहिये।

इसी विचारसरणीसे पता चल सकता है, कि मानव समाज रूपी विराट् पुरुषके शरीरमें जहां दुःख होता होगा, वहीं सेवा करनेकी आवश्यकता है। जो मानव दीन, दुखी, रोगी, कृश, अपंग, निराधार, बेकार, हीन, क्षीण हैं उनकी सेवा करनी चाहिये। जो धनवान्, सामर्थ्यवान्, अधिकार संपन्न, ऐश्वर्यके शिखरपर विराजमान हैं वे अपने सामर्थ्यसे ही जितने चाहिये उतने नौकर चाकर प्राप्त कर सकते हैं। परंतु जो गरीब हैं, रोगी हैं, उनको बिना मूल्य औषध देना चाहिये, जो निरक्षर हैं उनको साक्षर बनाना चाहिये। जो बेकार हैं उनको काम देना चाहिये। यह सेवाका क्षेत्र है।

सर्वजन हितका कार्य किस तरह करना चाहिये, उसके कर्ताकी योग्यता कैसी होनी चाहिये, उसके साधन क्या हैं, उसके सहायक कौन हो सकते हैं, इत्यादि सभी बातोंके अनेक निर्देश इस व्याख्यानमें दिये मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। इनका मनन करनेसे सर्वजन हितका कार्य कौनसा किस तरह करना चाहिये इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है। आशा है कि पाठक इस महत्त्वपूर्ण विषयका अच्छी तरह मनन करेंगे और आवश्यक बोध प्राप्त करेंगे। और सर्वजन हित करनेका व्रत अपने जीवनमें ढालकर अपनेको कृतकृत्य बनायेंगे।

अनुक्रमणिका

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।

छप रहा है।

२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — बीसवाँ व्याख्यान

मानवके दिव्य देहकी
सार्थकता

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष-स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

मानवके दिव्य देहकी सार्थकता

पवित्र नर देह

मनुष्यको जो देह प्राप्त हुआ है, उसका वर्णन आज कलके लोग 'पीप विष्ठा मूतका गोला' ऐसा करते हैं और इसके विषयमें मनुष्यके मनमें घृणा उत्पन्न हो जाय, ऐसी दृष्टिसे इस नरदेहके विषयमें बोलते हैं। परन्तु वेदोपनिषदोंमें जो इसकी दिव्यताका वर्णन किया है, वह सचमुच मननीय है। देखिये ऐतरेय उपनिषदमें कहा है कि, जिस समय देवताओंके सामने परमेश्वरने अनेक देह लाये, उस समय मनुष्यदेह ही सबसे उत्तम है, ऐसा उन देवोंने कहा और उन देवताओंने उसमें प्रवेश किया। यह वर्णन वहां इस तरह लिखा है—

> ताभ्यो गामानयत्, ता अब्रुवन्, न वै नोऽयमलमिति। ताभ्यो अश्वमानयत्, ता अब्रुवन्, न वै नोऽयमलमिति। ताभ्यः पुरुषमानयत्, ता अब्रुवन्, सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीत्, यथायतनं प्रविशतेति।
>
> ऐ० उ० १।२

'उन देवताओंके सामने ईश्वरने गौको लाया, उन्होंने उस गौके देहको देखा और कहा कि, यह गौका देह जैसा चाहिये वैसा नहीं है। तब ईश्वरने उनके सामने घोडेका देह लाया, उन देवताओंने उस घोडेके देहको देखा और कहा कि, यह भी जैसा चाहिये वैसा नहीं है।' तब ईश्वरने उनके सामने मनुष्य देह लाकर रखा, उन देवोंने इस देहको देखा और कहा कि 'वाह वाह! यह उत्तम है, जैसा चाहिये वैसा यह है। निःसंदेह यह उत्तम बना है।' जब देवताओंको यह देह पसंद आया, तब ईश्वरने कहा कि 'हे देवताओ! तुम अपने अपने योग्य स्थानपर प्रविष्ट होकर वहां रहो।'

इसके बाद सब देवताएँ इस देहमें प्रविष्ट हुईं और अपने अपने स्थानपर रहने लगीं। आंखमें सूर्य, नासिकामें वायु, कानोंमें दिशाएं, मुखमें अग्नि, इस तरह सब तैत्तीस देवताएं इस शरीरमें अंशरूपसे रहने लगीं। अर्थात् यह शरीर 'देवताओंका मन्दिर है' पीप विष्ठा मूत्रका गोला इसको कहना योग्य नहीं है। ऐसा कहना अवैदिक होनेसे त्याज्य है।

वेदका कहना है कि, यह शरीर 'देवताओंका मन्दिर' है। परंतु जैन बौद्धोंने इसी शरीरको पीप-विष्ठा-मूत्रका गोला माना और इस मतके प्रचारकोंने इस शरीरका वर्णन इस तरह घृणा होने योग्य निंदनीय शब्दोंसे किया है और इनके पश्चात् सब साधुसंतोंने भी इस शरीरकी निंदा ही की है!!!

पुरुषार्थका साधन

संतोंमें समर्थ रामदास स्वामी जो छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु थे। वे इस शरीरके विषयमें ऐसा लिखते हैं—

> धन्य धन्य हा नर देहो। येथील अपूर्वता पहा हो।
> जो जो कीजे परमार्थलाहो। तो तो पावे सिद्धितें॥

"यह नर देह धन्य है, इस शरीरमें रहकर जो पुरुषार्थ किया जाय, वह पुरुषार्थ यहां सिद्ध होता है।" अर्थात् ऐसा यह नर देह पुरुषार्थ साधन होनेकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है।

मनुष्य इस देहमें रहकर जो जो पुरुषार्थ करना चाहता है, वह यहां तपस्या करनेसे सिद्ध होता है। 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' ये चारों पुरुषार्थ इस नरदेहके आश्रयसे ही सिद्ध होते हैं। इस कारण नरदेह श्रेष्ठ है, यह श्रेष्ठता साधनकी दृष्टीसे है।

पुरुषार्थ करनेका मुख्यसाधन यह मानवी शरीर है। मनुष्य शरीर न मिला अथवा निर्बल रहा, तो कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसीलिये इस शरीरका संरक्षण करना चाहिये और इसको कार्यक्षम भी बनाना चाहिये। यह

शरीर रोगी निर्बल दीन क्षीण रहा, तो कोई पुरुषार्थ इस शरीरसे होनेकी संभावना ही नहीं है। इसलिये इस शरीरको सामर्थ्यशाली बनानेका यत्न करना अत्यंत आवश्यक है। शरीरको कार्यक्षम बनाना मनुष्यका एक अत्यंत आवश्यक कार्य है। वेदने यह इस तरह बताया है। इस उपदेशके मंत्र अब देखिये—

(ब्रह्माऋषिः । अंगानि देवताः)

वाङ् म आसन्, नसोः प्राणः, चक्षुरक्ष्णोः।
श्रोत्रं कर्णयोः, अपलिताः केशाः, अशोणा दन्ताः।
बहु बाह्वोर्बलं, ऊर्वोरोजः, जंघयोर्जवः
पादयोः प्रतिष्ठा, अरिष्टानि मे सर्वा, आत्माऽनिभृष्टः॥
तनूस्तन्वा मे, सहे दतः, सर्वमायुरशीय।
स्योनं मे सीद, पुरुः पृणस्व, पवमानः स्वर्गे॥

अथर्व० १९।६०;६१

"(मे आसन् वाक्) मेरे मुखमें उत्तम वक्तृत्व शक्ति रहे, (नसोः प्राणः) मेरे नाकमें बलवान् प्राण संचार करता रहे, (अक्ष्णोः चक्षुः) मेरे आंखोंमें उत्तम दर्शन शक्ति रहे, (कर्णयोः श्रोत्रं) मेरे कानोंमें उत्तम श्रवण शक्ति रहे, (केशाः अपलिताः) मेरे बाल श्वेत न हों, (दन्ताः अशोणाः) मेरे दांत मलिन न हों, (बाह्वोः बहु बलं) मेरे बाहुओंमें बहुत बल रहे, (ऊर्वोः ओजः) मेरी जांघोंमें बडी शक्ति रहे, (जंघयोः जवः) मेरी पिंडरियोंमें बडा वेग रहे, (पादयोः प्रतिष्ठा) मेरे पांवोंमें स्थिरता रहे, पांव कभी कांपने न लगें, (मे सर्वा अरिष्टानि) मेरे सर्व अवयव अच्छी अवस्थामें रहें, रोगी न हों, (मे आत्मा अनिभृष्टः) मेरा आत्मा निरुत्साही न हो, (मे तन्वा तनूः) मेरे शरीरके साथ शरीरकी स्वस्थता रहे (दतः सहे) मेरा दमन करनेवाले शत्रुका पराभव करनेमें मैं समर्थ हो जाऊं, (सर्वं आयुः अशीय) संपूर्ण आयुको मैं प्राप्त होऊं, मेरी अकालमें मृत्यु न हो, (मे स्योनं सीद) सुखदायी आसन पर बैठ, अर्थात् मैं सुखदायक स्थानपर बैठूंगा, (पुरुः पृणस्व) भरपूर भर दो, हमारे स्थान, या पात्र भरपूर भरे हों, खाली न हों, (पवमानः स्वर्गे) तू पवित्र होता हुआ स्वर्गमें विराजमान हो, तू स्वयं पवित्र बन और सुखपूर्ण स्थानमें विराजमान हो, तुम्हारी जितनी पवित्रता होगी, उतना सुख तुम्हें प्राप्त होता रहेगा।"

इस सूक्तमें शरीरके अनेक अवयवोंका उल्लेख करके उनमें कौन कौनसी शक्ति रहनी चाहिये, उसका निर्देश किया है। शरीरमें अन्यान्य अवयव भी हैं। उनका नामनिर्देश यहां किया नहीं है, तथापि उनके विषयका ज्ञान हम अनुमानसे जान सकते हैं। इस शरीरमें ३३ देवताओंके ३३ केन्द्र हैं। उनमें रहनेवाली शक्ति वहां रहनी चाहिये और वह पवित्र स्थितिमें रहनी चाहिये। इस मंत्रके 'पवमानः स्वर्गे' इन पदोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, पवित्र बननेसे स्वर्ग सुख प्राप्त होता है। शक्ति बढनी चाहिये और वह पवित्र कार्यमें पवित्र पद्धतिसे प्रयुक्त होनी चाहिये। कोई भी शक्ति यदि पवित्र नहीं बनी, तो उससे स्वर्ग सुख नहीं मिलेगा। स्वर्गसुख पवित्रताके साथ संबंध रखता है।

स्वर्ग सुवर्ग है

स्वर्ग सुवर्ग है। उत्तम वर्गके लोगोंका स्थान सुवर्ग लोक है। यह (पवमानः) पवित्र बननेसे ही मिलता है। लोग शक्तिमान बनें और साथ साथ पवित्र भी बनें, तो उनका 'सुवर्ग लोक' होता है और वहां सुख मिलता है। अपवित्रताके साथ बल रहा तो वह असुरलोक होता है और वह दुःखका आगर होगा। इस दृष्टिसे 'पवमानः स्वर्गे' ये पद बडे महत्त्वके हैं। मनुष्य सुख चाहता है, तो वह सुख उसको पवित्र होनेसे ही मिल सकता है, पवित्रताके साथ बल भी रहना चाहिये। अपवित्रताके साथ बल रहा, तो वहां असुरत्व उत्पन्न होगा और सुखात्मक स्वर्ग मिलनेके स्थानपर दुःख उसको मिलेगा। यह भाव यहां ध्यानमें रखना चाहिये।

शरीरका प्रत्येक अवयव अपने बलसे युक्त हो, वह पवित्र रहे, पवित्र कार्यमें लगा रहे, पवित्र कार्य ही करता रहे। यह इस मंत्रने बताया है। शरीरको निर्बल करना नहीं है। इंद्रियोंको अशक्त बनाना नहीं है। इन्द्रियोंको और शरीरको बलवान बनाना है और साथ साथ सत्प्रवृत्त और पवित्र करना है और पवित्रतम श्रेष्ठ कर्ममें उनको सतत लगाना है। इसीका नाम यज्ञीय जीवन है। यज्ञसे स्वर्ग मिलनेका यही तात्पर्य है।

दीर्घायुकी प्राप्ति

मनुष्यको शरीर प्राप्त हुआ है, उसके अवयव भी सुदृढ और बलवान बने हैं। अब इस शरीरसे कार्य लेनेके लिये

इसको दीर्घायु प्राप्त करनी चाहिये। दीर्घायु प्राप्त होनेके बिना मनुष्यकी अन्य शक्तियां निकम्मी हो जाती हैं। मनुष्यने विद्या प्राप्त की, बल प्राप्त किया ऐश्वर्य प्राप्त किया और जो आवश्यक था वह प्राप्त किया और यदि उसको दीर्घायु न मिली, तो उन ऐश्वर्यों और उन ज्ञानोंका उपयोग क्या है? इसलिये वेदने कहा है—

पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्।
ऋ० ७।६६।१६

पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्॥
वा० यजु० ३६।२४

पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतं, रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतं, भवेम शरदः शतम्।
भूयेम शरदः शतं, भूयसीः शरदः शतात्।
अथर्व० १९।६७

पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्।
नन्दाम शरदः शतं, मोदाम शरदः शतम्।
भवाम शरदः शतं, शृणवाम शरदः शतम्।
प्रब्रवाम शरदः शतं, अजीताः स्याम शरदः शतम्॥
तै० आ० ४।४२।५

इस तरह शतायु होनेकी इच्छा प्रकट हुई है। ऋग्वेदमें दो मांगें थी, वा० यजुर्वेदमें छः दीखती हैं और अथर्व तथा तै० आरण्यकमें आठ दीखती हैं। सबका विचार एकदम ही करना योग्य है। ऋग्वेदके दोनों वचन चारों स्थानोंमें समान ही हैं। (१) हम (जीवेम) सौ वर्ष जीवित रहें, (२) हम सौ वर्षतक (पश्येम) देखें, अर्थात् हमारी दृष्टि सौ वर्षतक अच्छी अवस्थामें रहें, मलीन वा क्षीण न हो। हमारे नेत्र सौ वर्षतक देखनेका कार्य उत्तम रीतिसे करनेमें समर्थ हों। (३) हम सौ वर्षतक (शृणुयाम, शृणवाम) उपदेश सुनते रहें, अच्छे वचन सुनते रहें, हमारे कान निर्बल न हों, सुननेका कार्य करनेमें समर्थ हों। (४) हम सौ वर्षतक (बुध्येम) ज्ञान प्राप्त करते रहें, हमारी बुद्धि सौ वर्षतक ज्ञान ग्रहणका कार्य करती रहे। (५) हम सौ वर्षतक (रोहेम) बढते रहें, हमारी शक्ति क्षीण न हो, प्रत्युत हमारी शक्तिका विकास होता रहे। (६) हम सौ वर्षतक (पूषेम) हृष्टपुष्ट होते रहें, क्षीण न हों, दुर्बल न हों, प्रत्युत पुष्ट होकर सौ वर्षतक रहें। (७) हम सौ वर्षतक (भवेम) रहें, प्रभावी बनकर रहें, शत्रुका पराभव करते रहें, उन्नत होते रहें। (८) हम सौ वर्षतक (भवाम) प्रगति करते रहें। (९) हम सौ वर्षतक (नन्दाम) आनंदित होते रहें, हम सौ वर्षतक दुःखी न हों। (१०) हम सौ वर्षतक (मोदाम) सुखसे रहें, हमारे समीप कष्टके समय न आजांय। (११) हम सौ वर्षतक (भूयेम) उन्नत होते रहें, प्रगति करते रहें। (१२) हम सौ वर्षतक (प्र ब्रवाम) प्रवचन करते रहें, ज्ञानका प्रचार करते रहें, ज्ञानदानद्वारा लोगोंको सज्ञान करते रहें। (१३) हम सौ वर्षतक (अजीताः) पराभूत न हों, कोई शत्रु हमारा पराभव न कर सके ऐसी हमारी शक्ति सौ वर्षतक रहे। (१४) हम सौ वर्षतक (अदीनाः स्याम) दीन क्षीण निर्बल न बनें, परंतु हृष्टपुष्ट और कार्यक्षम रहें, रोगी न बनें परंतु नीरोग रहें और कार्य करते रहें। (१५) हम सौ वर्षसे भी (भूयसीः भूयः) अधिक ज्ञान प्राप्त करते रहें, उपदेश करते रहें, उन्नत होते रहें।

अर्थात् हम सौ वर्ष तो रहें, परंतु उससे भी अधिक हम जीवित रहें, दीन क्षीण और निर्बल न हों, परंतु हृष्टपुष्ट नीरोग बलवान रहकर ज्ञानग्रहण और ज्ञानोपदेश करते रहें। ज्ञानदान द्वारा जनताका उद्धार करते रहें।

इन मंत्रोंमें सौ वर्षकी पूर्ण आयुके साथ जो कार्य कहे हैं, वे मननीय हैं। देखिये इनका विचार ऐसा है—

(जीवेम) जीवन शक्ति प्राणशक्ति ही है, प्राणायामादि अनुष्ठानसे इस प्राणका बल बढाकर जीवन शक्ति बढानी चाहिये। (पश्येम) दर्शन शक्ति आंखोंमें रहती है, नेत्र-व्यायाम तथा त्राटकादिसे दर्शनकी शक्ति सुरक्षित रखनेका अनुष्ठान करना योग्य है। (शृणुयाम, शृणवाम) श्रवण शक्ति कानोंमें रहती है, सूक्ष्मध्वनिपर चित्त एकाग्र करनेसे तथा कानोंको ठीक रखनेसे यह श्रवणेन्द्रियकी शक्ति कानोंमें ठीक तरह रहती है, (बुध्येम) बुद्धिकी शक्ति बढानेके लिये उत्तम ग्रंथ पठन करना और स्मरण आदि शक्तियोंको बढाना योग्य है। (रोहेम, पूषेम) हृष्टपुष्ट रहनेके लिये सूर्यनमस्कार, आसन आदि व्यायाम तथा उत्तम अन्नका सेवन करना योग्य है। (भवाम, भूयेम) होना, प्रभाव-

*

शाली जीवन व्यतीत करना यह वीरत्वके भावसे होता है, अतः यह भाव अपने अन्दर बढाना। (नन्दाम, मोदाम) आनन्दित रहना, प्रसन्नचित्त रहना। कभी दुःखी दुर्मुख न रहना। यह अभ्याससे सिद्ध होता है। (प्रब्रवाम) प्रवचन करना, उपदेश करना, ज्ञान देकर दूसरोंको सज्ञान करना, जो स्वयं जानते हैं वह दूसरोंको सिखाना। (अजीताः) विजयी होना, शत्रुका पराजय करना। (अदीनाः) दीन दुर्बल रोगी न होना और (भूयसीः) सौसे भी अधिक वर्षतक जीवित रहना और यही करना। यह सब आयुभर करनेका कार्यक्रम है। जो करना चाहते हैं वे यह अपने जीवनमें ढालें और लाभ उठावें।

और भी देखिये पूर्णायुके विषयमें क्या कहा है—

जीवाःस्थ, जीव्यासं, सर्वमायुर्जीव्यासम्।
उपजीवाःस्थ, उपजीव्यासं, सर्वमायुर्जीव्यासम्।
संजीवाःस्थ, सं जीव्यासं, सर्वमायुर्जीव्यासम्।
जीवलाःस्थ, जीव्यासं, सर्वमायुर्जीव्यासम्।
इन्द्र जीव, सूर्य जीव, देवा जीवा, जीव्यासमहम्।
सर्वमायुर्जीव्यासम् अथर्व० १९।६९-७०

'तुम (जीवाः) जीवनरूप हो। मैं जीऊं और संपूर्ण आयुतक जीवित रहूँ। तुम (उपजीवाः) समीपमें जीवन रूप हो। मैं समीपमें रहकर जीऊं और संपूर्ण आयुतक जीवित-रहूं। तुम (संजीवाः) सब मिलकर जीवित रहनेवाले हो, मैं सबके साथ मिलकर जीवित रहूं, मैं संपूर्ण आयुतक जीवित रहूं। तुम (जीवलाः) चैतन्यरूप हो, मैं चैतन्यरूप होकर रहूं और संपूर्ण आयुतक जीवित रहूं। हे इन्द्र ! तू जीवित रह, हे सूर्य ! तू जीवित रह, हे देवो ! तुम जीवित रहो। (अहं जीव्यासं) मैं जीवित रहूं और मैं संपूर्ण आयु तक जीवित रहूं।'

इन मंत्रोंमें कहा है कि संपूर्ण आयुतक जीवित रहना है, बीचमें अल्प आयुमें मरना नहीं है। व्यक्तिके रूपमें जीवित रहना चाहिये, श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके समीप रहकर जीवित रहना चाहिये, सब समाजके लोगोंके साथ मिलकर जीवित रहना चाहिये और आत्मस्वरूप जानकर उस शक्तिसे जीवित रहना चाहिये। जीवनके ये विभेद हैं। वैयक्तिक अकेला ही रहकर जीवन व्यतीत करना यह एक साधारणसा जीवन है। दूसरा जीवन श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके साथ रहकर जीना यह श्रेष्ठ जीवन है। इससे श्रेष्ठ बनकर सामाजिक, अथवा सामुदायिक हितसंवर्धन करनेके लिये जीवित रहना, यह उससे भी श्रेष्ठ जीवन है, क्योंकि इसमें जीवनका यज्ञ होता है। जो जीवनको पवित्र बनाता है। अपना चैतन्यस्वरूप जानकर, उस प्रेरक आत्मशक्तिको अनुष्ठानसे बढाकर, लोगोंको सन्मार्गमें प्रेरित करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना, यह उच्चजीवनकी रीति सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें अनेक लोगोंको सन्मार्गमें प्रेरित करना होता है। जिस जीवनमें अनेक पुरुषोंको श्रेष्ठसत्कार्यमें प्रेरित करना होता है, उस जीवनको श्रेष्ठ होनेमें संदेह ही क्या है ?

अपने शरीरमें इन्द्र है जो जीवात्मा है, अपने शरीरमें सूर्य नेत्रस्थानमें रहा है, अपने शरीरमें ३३ देव सब इंद्रियोंमें रहे हैं, ये यहां मेरे अधीन रहकर अपना अपना कार्य उत्तम रीतिसे करते रहें, पूर्ण आयुतक कोई देव अपना कार्य करनेमें असमर्थ न हो, सब देव इस शरीरके इंद्रियोंके स्थानोंमें रहकर अपना कार्य उत्तम रीतिसे करें और उनका अधिष्ठाता मैं उनका संचालन करता रहूं और इस तरह मैं पूर्ण आयुतक जीवित रहूं यह यहां कहा है। यहां केवल दीर्घजीवन प्राप्त करना ही नहीं है, परंतु अपना प्रभुत्व शरीर स्थानीय देवगणोंपर स्थापन करना और मानव समुदायोंको सन्मार्गमें संचालन करना यह मुख्य कर्तव्य बताया है।

मनुष्यकी आयु ८ वर्ष बालपन, २४ वर्ष विद्याध्ययन, ३६ वर्षका गृहस्थधर्मसे रहना, ४८ वर्ष विद्याका अध्यापन करना। (देखो छांदोग्य उपनिषद् २।२२) यहांतक ११६ वर्ष होते हैं, इसके पश्चात् के ८ वर्ष क्षीणताके हैं। इस तरह १२४ या १२५ वर्षोंकी आयु है। इस आयुतक जो कार्य करना और जैसा जीवित रहना है, वह इन मंत्रोंमें दिया है। और देखिये इस जीवनमें किन किन शक्तियोंका साधन करना चाहिये—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च

श्रोत्रं च पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च
सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥
अथर्व० १२।५।७-१०

मनुष्यको अपने जीवनमें ये ३४ शक्तियां प्राप्त करनी चाहिये। मनुष्यकी ये शक्तियाँ हैं। इनसे मनुष्य समर्थ बनता है, श्रेष्ठ होता है, पूर्ण पुरुष होता है। अब देखिये इनसे किनका बोध होता है—

१ ओजः— शरीरकी स्थूलशक्ति, जिस शक्तिसे मनुष्यको शक्तिमान कहा जाता है,

२ तेजः— तेज, स्फूर्ति, तेजस्विता, देखते ही जिसका दूसरोंपर प्रभुत्व स्थापन होता है,

३ सहः— शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति,

४ बलं— सामर्थ्य, बल, शक्ति,

५ वाक्— वक्तृत्व, वक्तृत्व करनेकी शक्ति, वक्तृत्वसे दूसरोंपर प्रभाव डालनेकी शक्ति,

६ इन्द्रियं- इन्द्रका अर्थ आत्मा है, उसका सामर्थ्य, आत्मिक सामर्थ्य,

७ श्रीः- शोभा, धन, ऐश्वर्य,

८ धर्म- धर्म, मानव धर्म, चतुर्विध पुरुषार्थका साधन जिससे होता है,

९ ब्रह्म- ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, शुद्ध सत्यज्ञान,

१० क्षत्रं- शौर्य, क्षात्रबल, शत्रुसे अपना संरक्षण करनेका सामर्थ्य, युद्ध करनेकी शक्ति,

११ राष्ट्रं- राष्ट्र, जिसमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कर्मचारी तथा अन्य ये लोग सामंजस्यसे रहते हैं, राष्ट्रीयत्वसे बंधा हुआ मानवोंका समाज,

१२ विशः- प्रजाजन, जनता, व्यापार करनेवाले वैश्य लोग, दूर दूरके देशमें जाकर व्यापार करनेवाले व्यापारी आदि,

१३ त्विषिः- सौंदर्य बढानेवाला तेज, चमक,

१४ यशः- यश, यशस्विता, हाथमें लिया कार्य उत्तम रीतिसे समाप्त करनेसे जो कृतकारिता प्राप्त होती है,

१५ वर्चः- आध्यात्मिक तेज,

१६ द्रविणं- धन, द्रव्य, पदार्थोंकी विपुलता,

१७ आयुः- पूर्ण दीर्घ आयु, दीर्घ जीवन

१८ रूपं- सुरूपता, सौंदर्य, उत्तम रूपसे युक्त होना,

१९ नाम— चारों दिशाओंमें नामका प्रभाव होना,

२० कीर्ति— चारों ओर कीर्तिका प्रसार होना,

२१ प्राणः— प्राणका बल शरीरमें रहना,

२२ अपानः— अपानका कार्य ठीक रीतिसे शरीरमें होना,

२३ चक्षुः— आंखकी दृष्टि अच्छी अवस्थामें शरीरमें रहनी,

२४ श्रोत्रं— कानोंकी श्रवण शक्ति अच्छी अवस्थामें रहनी,

२५ पयः— गौका दूध, दही, मक्खन; घी आदि पदार्थ विपुल प्रमाणमें अपने पास रहने,

२६ रसः— फल आदिकोंके रसोंका अपने पास होना,

२७ अन्नं-अन्न, खाने योग्य पदार्थोंका अपने पास होना,

२८ अन्नाद्यं— खानपानकी वस्तुओंका अपने पास होना,

२९ ऋतं- सरल स्वभाव, जिसमें छलकपट नहीं ऐसा सीधा स्वभाव और सीधा वर्ताव,

३० सत्यं- सत्यका पालन,

३१ इष्टं- इष्ट, इष्ट श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त करनेका अनुष्ठान योग्य पद्धतिसे होना, यज्ञ आदिको करना,

३२ पूर्तं- तालाब, कूप, घाट, मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला आदिका लोकोपकारके लिये निर्माण करना,

३३ प्रजा— संतति, पुत्रपौत्र आदिका होना,

३४ पशवः- गौवें, घोडे आदिका अपने पास होना,

यह मनुष्य प्राप्त करके अपने आपको धन्य मानता है। मनुष्यको इसलिये इनको प्राप्त करना उचित है। इनको प्राप्त करना और जो अपनी शक्ति बनेगी उस शक्तिका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्योंमें करना चाहिये। इष्ट और पूर्त ये दो अनुष्ठान जनताकी भलाईके लिये हैं। तालाब, कूंए, धर्मशाला, मंदिर, नदीके घाट आदिका बनाना जनताके उपयोगी है यह तो सब जानते ही हैं, परंतु यज्ञ यागके विषयमें लोगोंमें संदेह रहता है। यज्ञके विषयमें गोपथ ब्राह्मणमें कहा है कि-

ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते ।
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते । गो. ब्रा.

' ऋतुओंके संधिकालमें रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिये ऋतु संधिमें यज्ञ किये जाते हैं। ' अर्थात् रोग दूर करना

यह यज्ञका एक कार्य जनताके उपयोगके लिये है। वायु शुद्ध करके यज्ञ रोगोंको दूर करता है। इसके अतिरिक्त लोगोंका संगठन करना, जनतामें ज्ञानका प्रसार करना आदि कार्य यज्ञसे होते हैं। मनुष्यको ये यज्ञ करने ही चाहिये, अर्थात् सर्वजनोंके हितके कार्य करने ही चाहिये। इस दृष्टिसे यह ३४ श्लोकोंका यह कार्यक्रम किस तरह व्यक्ति और समाजका हित करता है, यह देखने योग्य है। इस तरहसे मानवी उन्नतिकी बारीकसे बारीक बातोंका दिग्दर्शन वेद करता है। और देखिये-

सर्वांगपूर्ण होना

अयुतोऽहं, अयुतो म आत्मा, अयुतं मे चक्षुः, अयुतं मे श्रोत्रं, अयुतो मे प्राणः, अयुतो मे अपानः, अयुतो मे व्यानः, अयुतोऽहं सर्वः ॥

अथर्व० १९।५१

(अहं अयुतः) मैं सर्वांगसे संपूर्ण हूं अर्थात् मैं अटूट, अखंडित, दोष रहित, पूर्ण हूं, (मे आत्मा अयुतः) मेरा आत्मा पूर्ण है, इसमें किसी तरह न्यूनता हीनता आदि दोष नहीं हैं, मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान परिपूर्ण जैसे चाहिये वैसे गुणसंपन्न हैं, उनमें हीनत्व आदि दोष बिलकुल नहीं हैं।

(अहं सर्व अयुतः) मैं सबका सब पूर्ण हूं, निर्दोष हूं, सर्वांग संपूर्ण हूं। यहां ' अयुत ' पद बडा महत्वका है, ' पूर्ण, निर्दोष, अहिंसित, अविभक्त, उपद्रवरहित ' ऐसा इसका भाव है। मनुष्यकी जो शक्तियां हैं वे सबकी सब शक्तियां पूर्णताको प्राप्त हों, किसी तरह दूसरेसे उपद्रव न होने योग्य अवस्थामें हों। हमारी सब शक्तियां ऐसी हों कि जिनको किसी तरहसे दूसरोंसे उपद्रव न पहुंचे। वे हमारे पास अक्षुण्ण स्थितिमें रहें, उपद्रवरहित अवस्थामें रहें। पूर्ण विकसित उन्नत रूपसे रहें।

तैंतीस वीर्योंकी प्राप्ति

पूर्व स्थानमें ३४ वीर्योंका वर्णन एक मंत्रद्वारा किया है। उसीमें ३३ वीर्य हैं और ३४ वां वीर्य जीवात्मा हैं। इस विषयमें एक सूक्त देखिये-

इदं वर्चो अग्निना दत्तं आगन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्। त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्रददातु मे ॥ १ ॥ वर्च आधेहि मे तन्वाँ सह ओजो वयो बलम्। इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥२॥ ऊर्जे त्वा बलाय त्वा ओजसे सहसे त्वा। अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥ ३ ॥ अथर्व० १९।३७

' (इदं वर्चः) यह तेज अग्निसे प्राप्त हुआ है, वह मेरे पास आगया है, यह (भर्गः) तेजस्विता बढाता है, (यशः) यश अथवा कीर्ति देता है, (सहः) शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य बढाता है, (ओजः) सामर्थ्य, शक्ति, बल और (वयः) दीर्घ आयु देता है। जो तैंतीस (वीर्याणि) वीर्य हैं, शक्तियां हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं, मिलते हैं ॥ (मे तन्वां वर्चः आधेहि) मेरे शरीरमें तेज स्थापित हो, इसके साथ दीर्घायु, बल, सामर्थ्य और शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति मेरे शरीरमें रहे। (इन्द्राय) आत्माके लिये (कर्मणे) कर्म शक्तिके लिये, (वीर्याय) पराक्रम करनेकी शक्ति बढानेके लिये, (शतशारदाय) और सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये मैं इसका धारण करता हूं ॥ (ऊर्जे) तेजस्विताकी शक्ति, (बलाय) शारीरिक शक्ति, (ओजसे) ओजः सामर्थ्य, (सहसे) शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य (अभिभूयाय) दुष्टोंका दमन करनेका सामर्थ्य बढानेके लिये, (राष्ट्र भृत्याय) राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये और सौ वर्षोंकी दीर्घायुके लिये (पर्यूहामि) मैं इस पदार्थका धारण करता हूं। '

राष्ट्र सेवाके लिये जीवनसमर्पण

किसी पदार्थका धारण करनेके लिये, शरीरपर वस्त्र, आभूषण आदिको धारण करनेके लिये ये मंत्र बोले जाते हैं। इनमें दीर्घ जीवनका उल्लेख है, राष्ट्रसेवा (राष्ट्रभृत्य)का स्पष्ट उल्लेख है। बाकी अनेक गुण हैं और तैंतीस वीर्य स्पष्ट शब्दोंमें कहे हैं। इन तैंतीस वीर्योंको इससे पूर्व बताया ही है। राष्ट्रसेवा करनेके लिये ही मेरे भोग, मेरे ऐश्वर्य और सामर्थ्य हैं, यह इन मंत्रोंका कथन सबको देखने योग्य है। राष्ट्रकी सेवामें जनसेवा आगयी है। वेदमें राष्ट्र सेवाका उपदेश इस तरह स्पष्ट रीतिसे कहा है। व्यक्तिके शरीरमें जो तैंतीस वीर्योंको बढाना है, वह राष्ट्रसेवाके लिये है, यह उपदेश यहां स्पष्ट रीतिसे ध्यानमें आने योग्य रीतिसे कहा है।

राष्ट्र सेवाके लिये जीवन समर्पण करनेका यहां उपदेश है। मैं अपने (तन्वां) शरीरमें जो सामर्थ्य बढा रहा हूं वह किस लिये बढा रहा हूं ? अपने भोग वढानेके लिये मैं अपने सामर्थ्य नहीं बढा रहा हूं, इतना ही नहीं, परन्तु अन्न वस्त्र आदि जो भोग मैं अपने पास रखता हूं वे भी इसीलिये हैं कि उनसे सामर्थ्यवान बनकर मैं राष्ट्रकी सेवा अच्छी तरह कर सकूं। अर्थात् मनुष्यके पास भोग इसलिये होने चाहिये, कि जिनसे वह मनुष्य अपने अन्दर तैंतीस वीर्य बढावे और राष्ट्र सेवाके लिये उनका उपयोग करे। राष्ट्रसेवा, सर्वजनहित, जनताका कल्याण आदिका भाव एक जैसा समान ही है। व्यक्तिके जीवनका यज्ञ समष्टिकी भलाईके लिये होना चाहिये इस व्यक्तिकी कृतकृत्यता है।

मनका छिद्र बुझाओ

यहांतक व्यक्तिमें गुणोंका उत्कर्ष करनेके विषयमें वेदके आदेश हमने देखे अब मन आदिकी आन्तरिक शक्तियोंके उत्कर्षके विषयमें वेदके आदेश देखिये—

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम। विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः संदधातु बृहस्पतिः॥ १॥ मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्रमथिष्टन। सुष्यदा यूयं स्यन्दध्वं उपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी॥ २॥ मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः। शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः॥३॥ या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासतामिषम्॥ ४॥ अथर्व० १९।४०

'(मनसः छिद्रं) जो मेरे मनका छिद्र है, जो दोष मेरे मनमें है, जो मेरी (वाचः) वाणीमें छिद्र है, जो मेरी वाणीमें दोष है। और जो दोष (सरस्वती मन्युमन्तं जगाम) सरस्वती विद्यादेवी क्रोधवालेके साथ मिलनेसे उत्पन्न होता है, ये सब दोष सब देवोंके साथ मिलकर रहनेवाला (बृहस्पतिः) ज्ञानपति ज्ञानी (संदधातु) दूर करे, मिटा देवे। ज्ञानी अपने ज्ञानके द्वारा इन दोषोंको दूर करे॥ हे जलो! (नः मेधां मा) मेरी मेधाको विनष्ट न करो और (नः ब्रह्म) हमारे ज्ञानको भी (मा प्रमथिष्टन) क्षीण न करो। (सुष्यदा) सुख देती हुई तुम (स्यन्दध्वं) बहती हुई आओ, इससे (अहं सुमेधा वर्चसी) मैं उत्तम मेधावाला और तेजस्वी हो जाऊं॥ (नः मेधां) हमारी मेधाको हमारी (दीक्षां) दक्षताको और हमारा जो तप है उस तपको (मा हिंसिष्टं) हानि न पहुंचाओ। ये जलरूपी माताएं हमारे लिये कल्याण करनेवाली बनें, और ये जलरूपी माताएं हमारी आयुका कल्याण करें। हे अश्विदेवो! (अस्मे) हमारे लिये (तां इषं रासतां) उस अन्नको देदो कि जो (ज्योतिष्मती पीपरत्) तेजस्वितासे पूर्ण कर दे और (तमः तिरः) अन्धकारको दूर करे।'

अपने अन्दरके दोषोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेका उपदेश यहां इस सूक्तके मंत्रोंने दिया है। मेरे मनमें और वाणीमें कोई छिद्र न हों, कोई दोष न हों। मेरा मन निर्दोष हो और मेरी वाणी भी दोषरहित हो। इसी तरह मेरी अन्यान्य इन्द्रियां दोषरहित हों, निर्दोष और पवित्र हों। प्रत्येक इन्द्रियमें दोष होते हैं। यहां इस मंत्रमें मन और वाणी इन दोनोंका ही उल्लेख है। परंतु अन्य सब इन्द्रियों और अवयवोंमें किसी तरहसे दोष न हो यही यहां सूचित किया है।

ये दोष क्यों होते हैं ? सरस्वती क्रोधवालेके पास जाती है। विद्या क्रोधसे युक्त होती है। यह भी उपलक्षण ही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छः शत्रु हैं, प्रत्येक शत्रु मनपर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है, और प्रमाद कराता है। सरस्वती विद्या है, ज्ञान है। यह ज्ञान एक बडी शक्ति है। इस ज्ञानरूप शक्तिके साथ काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सरका संबंध हुआ तो हमारे इंद्रियोंमें छिद्र होते हैं; दोष होते हैं। इससे अनेक प्रकारके प्रमाद होते हैं।

यहां मंत्रमें 'मन्यु' पद है यह क्रोधका वाचक है, यह अति उत्साहका भी वाचक होता है। अत्यंत प्रबल उत्साहसे भी प्रमाद होते हैं, इसलिये सदा सावध और दक्ष रहना चाहिये।

मनुष्यकी पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, पांच कर्मेन्द्रियां हैं, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये आन्तरिक इंद्रियां हैं। इनके साथ काम, क्रोध आदि छ शत्रु मिलकर जो अनर्थ करते हैं, उनकी कल्पना पाठक करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि यह शत्रुदल कितना बडा है। इन सबके साथ हमारा संबंध है। इनका आक्रमण हो जानेपर इनको पराभूत करके अपना विजय प्राप्त करना चाहिये। यह किस तरह हो सकेगा ?

*

'देवैः संविदानः बृहस्पतिः' सब दिव्य शक्तियोंके साथ मिला हुआ ज्ञानपति इस युद्धमें अपनेको विजय प्राप्त करके देता है। सब दिव्य भावोंके साथ ज्ञानी रहे, ज्ञानी अपने अन्दर दिव्यभाव बढावे, आसुर भावको दूर करे, तो ही इसका विजय हो सकता है। अपनी मेधा, अपना ज्ञान यह सब दिव्यभावसे युक्त होना चाहिये। शत्रु-भावके अधीन नहीं होना चाहिये।

यहां एक बडा भारी आत्मशुद्धिके अनुष्ठानका संकेत है। जिस तरह जल प्रवाह निर्मल रहा, तो वह सुखदायी होता है, और वह मलिन हुआ तो वही रोग उत्पन्न करता है, इसी तरह हमारे मन और हमारी वाणीके प्रवाह शुद्ध स्वच्छ और निर्मल रूपसें बहते रहें, उनको कामक्रोधके दोष न मिलें। यह है अपनी पवित्रताका अनुष्ठान, जो साधकोंको करना चाहिये।

कामक्रोध सर्वथा बुरे नहीं हैं। उनके उपयोगसे वे बुरे या भले हो जाते हैं। मै ईश्वरका भजन करूंगा यह कामना अच्छी है, दुष्ट भावोंपर क्रोध करके उनको दूर करना योग्य है, मुझे उत्तम ज्ञान प्राप्त हो इस विषयका लोभ लाभदायक है। परम श्रेष्ठ ज्ञानका गर्व हुआ तो वह तापदायक नहीं होगा। इस रीतिसे ये छः शत्रु भी मित्रवत् व्यवहार करते हैं। स्वयं दक्षतासे अपने आचार व्यवहारका निरीक्षण करनेसे अपना सुधार करनेके लिये क्या करना चाहिये इसका ज्ञान हो जाता है। इस तरहके अनुष्ठानसे मन आदिके छिद्र दूर हो सकते हैं और साधक पवित्र हो सकता है।

हिरण्य धारणसे बलकी वृद्धि

अपने बल और ओजकी वृद्धि करनेके लिये कई उपाय वेदमें कहे हैं। उनमें शरीरपर सुवर्णका धारण करना यह भी एक उपाय है देखिये-

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यं अमृतं दध्रे अधि मर्त्येषु। य एनद्वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ॥ १ ॥ यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे। तत् त्वा चन्द्रं वर्चसा संसृजत्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति ॥२॥ आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च। यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥ ३ ॥
यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् त आयुष्यं भुवत्
तत् ते वर्चस्यं भुवत् ॥ ४ ॥ अथर्व० १९।२६

'(अग्नेः प्रजातं हिरण्यं) अग्निसे शुद्ध हुआ सुवर्ण (मर्त्येषु अमृतं अधि दध्रे) मनुष्योंमें अमृतको धारण करता है अर्थात् अमरपन देता है, आयुको बढाता है। जो इस तत्वको जानता है वह इस सोनेका अपने शरीरपर धारण करनेके लिये योग्य होता है। (यः बिभर्ति) जो इस सोनेको अपने शरीरपर धारण करता है वह (जरा मृत्युः भवति) जीर्ण अवस्थाके पश्चात् मृत्युको प्राप्त करता है। अर्थात् जराके पूर्व वह मरता नहीं ॥ जो (हिरण्यं) सोना है वह (सूर्येण सुवर्णं) सूर्यसे प्राप्त हुआ सुवर्ण है। इसको प्रजावाले मानवोंने पहिले प्राप्त किया था। वह (चन्द्रं) चमकनेवाला सुवर्ण (त्वा वर्चसा सृजतु) तुझे तेजस्वी बनावे। जो इस सुवर्णको (बिभर्ति) धारण करता है वह दीर्घायु होता है॥ आयु, तेज, ओज और बलके लिये सुवर्णके आभूषणको धारण करता है, इससे लोगोंमें तू सुवर्णके समान तेजस्वी बन ॥ वरुण राजा, (बृहस्पतिः) ज्ञानी गुरु तथा (इन्द्र वृत्रहा वेद) वृत्रका नाश करनेवाला इन्द्र भी इस तत्वको जानता है। यह सुवर्णका आभूषण तेरी आयु बढानेवाला और तेज बढानेवाला होवे।'

यहां इस सूक्तमें कहा है कि, सुवर्ण अग्निमें शुद्ध करनेके पश्चात शरीरपर उसके आभूषण करके धारण किये जांय तो आयु बढती है। यह सुवर्ण (अ-मृतं) मृत्युको दूर करनेवाला है। (जरा-मृत्युः) जराके पश्चात् मृत्युको लानेवाला है। १६ वर्षसे ७० वर्षतक तारुण्य है।

आषोडशात् सप्ततिवर्षपर्यंतं यौवनम्।

वात्स्यायन सूत्र

सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक यौवन अर्थात् तारुण्य है। उसके पश्चात् ३० वर्षकी परिहाणी अवस्था है उसके पश्चात् जरा अवस्था आती है और जराके पश्चात् मृत्युका समय आना योग्य है। जैसा सूर्य सुवर्णका गोला ही है। वैसा तेजस्वी सुवर्ण चाहिये। यह शुद्ध सुवर्ण ही होना चाहिये। अग्निमें तपकर शुद्ध किया हुआ यह सुवर्ण शरीरपर धारण करनेके लिये योग्य है।

शरीरपर सुवर्णका धारण करनेसे शरीरमें रुधिरका प्रवाह अच्छी तरह चलने लगता है। यह तो कोई करके भी देख सकता है। रत्नोंका धारण करनेसे भी शरीरपर इष्ट परिणाम होता है। जो आयुष्य वृद्धिके लिये हितकारी होता है।

इस सूक्तमें 'आयुषे, वर्चसे, ओजसे, बलाय' ये शब्द हैं। सुवर्णका धारण करनेसे ये प्राप्त होते हैं। ये सब रक्तका प्रवाह शरीरमें उत्तम रीतिसे होनेके कारण प्राप्त होते हैं। सुवर्णका धारण करनेमें सुवर्ण शरीरकी चमडीके साथ लगना चाहिये। गलेमें जो माला होती है वैसी माला रही तो अच्छा है। वह हिलती रहनेसे अधिक अच्छा परिणाम शरीरपर होता है। स्त्रियां आभूषण धारण करती हैं, उनसे उनको लाभ होता है। इनमें मणिरत्न रहे तो लाभका प्रमाण अधिक रहता है।

जन्मसे ही स्त्रियोंमें जीवन शक्ति अधिक रहती है इसकी योजना ईश्वरने ही अपनी अद्भुत आयोजनासे की है। जन्मके समयकी मृत्युमें अथवा बालमृत्युमें पुरुषके मृत्युका प्रमाण अधिक होता है। इसका कारण यही है कि पुरुष शरीरमें जीवनतत्व कम और स्त्री शरीरमें जीवनतत्व अधिक होता है। क्योंकि स्त्रीको प्रसूति करनी होती है और प्रसूतिके समय रक्त प्रवाह अधिक होनेपर भी स्त्रीका देहान्त नहीं हो सकता। इतना रुधिर पुरुषके शरीरसे चला जाय, तो पुरुष जीवित नहीं रहेगा। और प्रसूतिके अवसर स्त्रीके जीवनमें दस पांच तो होते ही हैं। स्त्रियोंके शरीरपर सुवर्णके आभूषण रखनेका कारण इस सूक्तमें कहा है कि 'अमृतं हिरण्यं' सुवर्ण अमृतत्व देता है। दीर्घायु करता है। तेज, ओज, बल और आयु बढाता है। शरीरके साथ सुवर्ण रहा और शरीरसे लगता रहा तो अल्प प्रमाणमें वह शरीरमें जाता है, वह भी लाभकारक है।

इस तरह शरीरका सत्व बढानेके लिये सुवर्ण धारण शरीरपर करनेका आदेश वेद देता है।

शरीरकी पुष्टि और दीर्घायु

शरीर हृष्टपुष्ट और दीर्घजीवनवाला करनेके विषयमें निम्न स्थानमें लिखा सूक्त कुछ विशेष निर्देश करता है वे निर्देश अब देखिये-

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्। तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ॥ १ ॥ परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन। यथैनं जरसे नयाँ ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत् ॥ २ ॥ परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन। यथैनं जरसे नयां ज्योक् च श्रोत्रेऽधि जागरत् ॥ ३ ॥ परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः। बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ ४ ॥ जरां सु गच्छ परि धत्स्व वासो भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उ। शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ५ ॥ परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ। शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन् ॥ ६ ॥ योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखायमिन्द्रमूतये ॥ ७ ॥ हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व। तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ॥ ८ ॥ अथर्व० १९।२४

'जिससे सब देवोंने सविता देवको वस्त्र पहनाया था, हे ब्रह्मणस्पते! उसी वस्त्रसे इस पुरुषको (राष्ट्राय) राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये ढांपो।' अर्थात् यह मनुष्य अच्छी तरह राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये योग्य हो जाय, सामर्थ्यवान हो जाय, इसलिये यह मनुष्य इस वस्त्रको पहने। इस वस्त्रका धारण करे। वस्त्रका धारण करनेके लिये मनुष्यके मनमें राष्ट्रकी सेवा करनेका भाव रहना योग्य है। मैं इस वस्त्रको पहनूं और अपने राष्ट्रकी सेवा करूं।

(इमं इन्द्रं) इस राजाको, इस राष्ट्रके शासकको, आयुके लिये, शत्रुका (महे) पराभव करनेके लिये, क्षात्रबल अर्थात् शौर्य वीर्यके लिये यह वस्त्र पहनाओ। इस वस्त्रको पहनकर यह वस्त्र इसको (जरसे नयान्) बुढापेतक पहुंचावे, बडी देरतक (क्षत्रे अधिजागरत्) यह पुरुष क्षात्रसामर्थ्यमें रहता हुआ सावधान रहे। प्रमाद न करे। सावध रहकर राष्ट्रकी सेवा करता रहे॥ यह राजा या राष्ट्रका सेवक इस वस्त्रको पहने अथवा इस भोगको प्राप्त करे और इससे इसको दीर्घायु प्राप्त हो, शत्रुका पराभव करनेका बल इसमें बढे, वृद्धावस्थातक यह उत्तम राष्ट्रसेवाके कार्य दक्षताके साथ करता रहे और शौर्यवीर्य युक्त क्षात्रबल बढाकर राष्ट्रकी सेवा करता रहे।

इस (सोम) सोम सदृश, चन्द्रमाके समान, आनन्द-दायक राजाको दीर्घायु प्राप्त हो, और (महे श्रोत्राय) बडे श्रवण करनेके सामर्थ्यको यह प्राप्त हो, यह वृद्धावस्थातक जीवित रहे और इसकी श्रवण करनेकी शक्तिके साथ यह सावधान रहे। राजा, राष्ट्रके बडे पुरुष अथवा महात्माको लोगोंकी बातें श्रवण करनेका अभ्यास रहना चाहिये। लोग विश्वासके साथ यहां इसके समीप; आजांय और इसको अपने कष्ट की बातें सुनावें। यह उन सब बातोंको सुनकर उनके कष्ट दूर करे और इस रीतिसे राष्ट्रकी सेवा आयुभर करता रहे।

बृहस्पतिने यह वस्त्र सोम राजाको पहनाया था और सोमराजाने राष्ट्रकी सेवा की थी। वही यह वस्त्र है, यह इस पुरुषको ज्ञानी पहनावे, वह पुरुष जराके पश्चात् मृत्युको अर्थात् दीर्घ आयुको प्राप्त करे और अपनी आयुभर यह राष्ट्रकी सेवा सावधानतांके साथ करे ॥

यह (वासः परिधत्स्व) वस्त्र पहने, (जरां सुगच्छ) वृद्ध अवस्थातक प्राप्त हो, (गृष्टीनां अभिशस्तिपा भव) गौवोंका उत्तम रीतिसे संरक्षण करनेवाला हो जाए। सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त करे और धन तथा पुष्टि प्राप्त करे।

(स्वस्तये) कल्याण होनेके लिये इस वस्त्रको पहनो, (वापीनां अभिशस्तिपा) दूधसे भरपूर भरे हुए कूओंके समान जो उत्तम दुधारू गौवें हैं उनका संरक्षण करो। सौ वर्षका दीर्घ जीवन प्राप्त करो, और (जीवन्) दीर्घजीवनको प्राप्त करके उत्तम धनोंका बटवारा करो अर्थात् अपने धनको राष्ट्रके हित करनेके लिये बांट दो ॥

(योगे योगे) प्रत्येक उद्योगमें और (वाजे वाजे) प्रत्येक युद्धमें (तवस्-तरं) बडे शक्तिमान वीरको हम अपने सहायतार्थ बुलाते हैं। वह आये और हमारा संरक्षण करें ॥ जहां कोई बडा कार्य करना हो अथवा बडे शत्रुके साथ युद्ध छिड गया हो तो वहां सहायतार्थ ऐसे वीरोंको बुलाना चाहिये कि जो बडे शक्तिशाली हैं और मित्रवत् आचरण करनेवाले हों।

हे राष्ट्रकी सेवा करनेवाले वीर! तू (हिरण्यवर्णः) सुवर्णके समान तेजस्वी, (अजरः) जरारहित, (सुवीरः) उत्तम वीर, (जरा-मृत्युः) जराके पश्चात् मृत्युको प्राप्त होनेवाला होकर (प्रजया सं विशस्व) प्रजाके साथ मिल-जुलकर रह। प्रजाका हित करनेके कार्य कर। यही तत्त्व अग्नि सोम बृहस्पति सविता और इन्द्रने कहा है। अपने आचरणसे यही तत्त्व दिखाया है।

इस सूक्तमें यह कहा है कि राष्ट्रके स्वयंसेवक गण अथवा राष्ट्रसेवा करनेवाले वीर वस्त्र आदि पहने और अपने अन्दरकी शक्तियोंको बढावें, दीर्घायु प्राप्त करें, शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य प्राप्त करें, क्षात्रबल बढावें, अपनी दर्शन श्रवण आदिकी शक्ति बढावें, अपने पास धन, पोषण शक्ति आदि बढावे और इन सब सामर्थ्योंसे वह अपने राष्ट्रकी सेवा करे। राष्ट्रमें गौओंका संरक्षण करें, अपने धनको राष्ट्रमें बांट दे, राष्ट्रहितके कार्यके लिये अपने पासके धनको और अपनी शक्तियोंको समर्पण करे। प्रजाकी बातें सुने, प्रजाके साथ मिलकर रहे, प्रजामें अपने विषयमें विश्वास उत्पन्न करे और प्रजाका सब प्रकारसे जो हित करना आवश्यक है वह सब करता रहे। सदा सावधान रहकर राष्ट्रका हित करनेके लिये तत्पर रहे।

यहांतक हमने मानवी देहकी अपूर्वता देखी और उसकी सार्थकता होनेके लिये उसका अर्पण राष्ट्रसेवामें होना चाहिये यह वेदका आशय यहां स्पष्ट हुआ। अब हम शरीरके मुख्य मुख्य अवयवोंके विषयमें वेदका कहना क्या है वह देखना चाहते हैं। प्रथम सिरके विषयमें देखिये, क्योंकि 'सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानं' सब अंगोंमें सिर मुख्य है अतः उस सिरके विषयमें वेदमें क्या कहा है सो देखिये–

सिर देवोंका कोश है

सिरको वेदने 'देवताओंका कोश' अर्थात् खजाना कहा है, इतना इस सिरका महत्व माना है–

तत् वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥
अथर्व० १०।२।२७

'अथर्वा योगीका जो सिर है, वह अच्छी तरह बंद किया हुआ देवोंका कोश है, उसका संरक्षण प्राण शिर अन्न और मन करते हैं।' अ-थर्वा नाम योगीका है, जो अ-चंचल हुआ है, जिसका मन स्थिर हुआ है वह अथर्वा है। ऐसे योगीका सिर देवोंका कोश है। प्रत्येक मनुष्यका शिर ऐसा ही देवकोश है, योगीने उसको अपने स्वाधीन किया होता है और अन्य लोग उसको इतस्ततः फेंक देते हैं, इसलिये अन्योंका यह कोश बिखरा रहता है।

अन्न, सिर, प्राण और मन इस देवकोशका संरक्षण करते हैं। योग्य अन्न खानेसे सिर सामर्थ्यशाली होता है, प्राणायाम करनेसे सिर ठीक कार्य करता है और मनके उत्तम विचार होनेसे सिर सामर्थ्ययुक्त बनता है। और देखो–

मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥
अथर्व० १०।२।२६

'मस्तिष्क और हृदय इन दोनोंको अथर्वा योगीने इकट्ठा सीया और मस्तिष्कके तथा सिरके ऊपर पवमान प्राणको भेज दिया।' यहां एक बडा भारी योग कहा है वह है मस्तिष्क और हृदयको एक कार्यमें प्रेरित करना। सामंजस्य योग इसको कह सकते हैं। मस्तिष्क ज्ञानग्रहण करके तर्क करता है और हृदय भक्ति करता है। तर्क प्रधान होनेसे तार्किक नास्तिक बनते हैं और भक्तिप्रधान होनेसे भक्त भोले होते हैं। मस्तिष्कका तर्क और हृदयकी भक्ति एक कार्यमें मिलकर कार्य करने लग जाय, तो वही दिव्यभाव प्रकट हो सकता है। इसलिये इस मंत्रने कहा है कि मस्तक और हृदयको सी दो और प्राणको प्राणायामके अभ्याससे स्वाधीन करके सिरके भी ऊपर भेजो। तर्क और भक्तिका सामंजस्य करनेका यह योग मानवोंकी सच्ची आध्यात्मिक उन्नति करनेवाला है।

यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
अथर्व० १०।७।१८

'जिसका सिर वैश्वानर है, अंगिरस आंख हुए हैं, जिसके सब अंग गतियुक्त हैं, वही सर्वाधार है और वही सुखदायी है।' यहां सिर वैश्वानर कहा है, विश्वका नेता सिर है। सिरसे ही सब शरीरका नेतृत्व होता है। अंगिरस भी तेजः पदार्थ ही हैं, वे नेत्र बने हैं, इस विषयमें यह मंत्र देखिये...

बृहस्पतिः शिरः, ब्रह्ममुखं, द्यावापृथिवी श्रोत्रे,
सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी, सप्त ऋषयः प्राणापानाः।
अथर्व० ११।३।१

'बृहस्पति सिर है, ब्रह्म मुख है, द्यावापृथिवी अर्थात् दिशाएं कान हैं, सूर्यचन्द्र आंख हैं और प्राण सप्तऋषि हैं।'

इस तरह यह सिर सब देवोंका कोश है, यहां देव ही रहे हैं। देवोंने अपनी दिव्य शक्तियां यहां रखी हैं। यह मनुष्यके सिरका महत्त्व है। और यह भी देखिये–

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान् त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥१३॥
ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम्।
पृष्ठीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः॥ १४॥
शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही॥१५॥
अथर्व० ११।८।१३-१५

'सबको जीवनसे सींचनेवाले वे देव हैं, जो सब प्रकारके शरीर बनानेके संभारोंको जीवनके जलसे सींचते हैं। सब मर्त्य पदार्थोंको जीवनके जलसे सींचकर देव इस मानवी शरीरमें घुसे हैं। जांघें, पांव, गोडोंके जोड, सिर, हाथ, मुख, पीठकी हड्डियाँ, चूचुक और पासे इन सबको किस ऋषिने एकत्रित किया? सिर, हाथ, मुख, जिह्वा, गर्दन और हड्डियां इन सबको चमडेसे ढककर किस मेल करनेवाली बडी शक्तिने इनका इस शरीरमें मेल किया?'

यहां कहा है कि 'संधा' अर्थात् सम्यक् रीतिसे धारण करनेवाली बडी शक्ति है जो शरीरमें विविध दैवीशक्तियोंको एकत्रित करके धारण करती है, जिससे यह शरीर बनता है। यह शरीर अनेक दैवी शक्तियोंका एक उत्तम संमेलन ही है। शरीरके एक एक इन्द्रियोंमें एक एक दैवी शक्ति है, शक्तिका अंश है। इन विभिन्न दैवी शक्तियोंको इस शरीरमें एकत्र बांधकर रखनेवाली 'संधा' महाशक्ति है, इसने यह शरीर धारण किया है। इस शरीरमें सब पदार्थ मरण धर्मवाले हैं, इसी शक्तिने जीवनरससे उनको सिंचित किया है और इससे वे सब मिलकर जीवन युक्त हुए हैं। ऐसी प्रभावशाली वह शक्ति है। और भी एक विचार है–

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ
नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य
मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम्॥
अथर्व. १०।२।६

'सिरमें किसने सात सुराख खोदकर बनाये हैं? दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख ये सात सुराख किसने इस सिरमें किये हैं। जिनकी विजयकी महिमामें

चतुष्पाद और द्विपाद अपने अपने मार्गसे चल रहे हैं। ' सिरमें ये सात सुराख करनेवाला कितना चतुर कारीगर होगा, इसकी कारीगरीकी महिमाका वर्णन किस तरह किया जाय। इन सात सुराखोंद्वारा जो अद्भुत कार्य हो रहे हैं, उनके विजयकी जो महिमा है उसीसे द्विपाद और चतुष्पाद अपने अपने कार्य कर रहे हैं।

मनुष्य जो अद्भुत और आश्चर्यकारक कर्म कर रहा है वह इनकी महिमासे ही है। ऐसी सुव्यवस्था इस शरीरमें और विशेषतः मानवके सिरमें की गयी है यह एक अत्यंत उत्कृष्ट कारीगरी है। और भी इस विषयमें वेद कहता है–

ब्रह्म अस्य शीर्षम्। अथर्व० ४।३४।१

ब्रह्मणा शिरः। ऋ० ३।५१।१२

सत्यं च ऋतं च चक्षुषी, विश्वं सत्यं, श्रद्धा प्राणः विराट् शिरः। एष वा अपरिमितो यज्ञः।

अथर्व० ९।५।२१

शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

ऋ० १०।९०।१४; अथर्व. १९।६।७

' ब्रह्म अर्थात् ज्ञान इसका सिर है, द्युलोक ही सिर है। सत्य और ऋत ये आंख हैं, इसका सब जीवन ही सत्य है, श्रद्धा प्राण है, विराट् इसका सिर है। यह शरीररूपी अपरिमित यज्ञ है। ' इस यज्ञकी महिमाका वर्णन कोई कर नहीं सकता ऐसा यज्ञ यहां इस शरीरमें चल रहा है। इस शरीरमें यह सौ वर्षोंतक चलनेवाला यज्ञ है। ' शतक्रतु ' यही मानव है। सौ वर्षतक जीवित रहकर सौ यज्ञ यह करता है। इन्द्र भी यही है। इन्द्र देवोंका राजा यही है, इसकी देवसभा इसी शरीरमें है और प्रत्येक इंद्रियमें देव बैठे हैं जिनका सम्राट् इन्द्र जीवात्मरूपमें इस शरीरमें कार्य कर रहा है।

विश्वान्यस्मिन्त्संभृताधि वीर्या।
तन्वी सहो महो हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम्॥

ऋ० २।१६।२

' इसमें सब प्रकारके वीर्य भरे रहते हैं। शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, सहस्वका प्रभाव, हाथमें वज्र और सिरमें बुद्धि तथा कर्म करवानेकी शक्ति इसमें रहती है। ' सिरमें यह क्रतुकी शक्ति रहती है। मनुष्य इसी शक्तिसे बडे बडे कार्य करता है, इसमें अनेक पराक्रम करनेकी महती शक्ति है जिससे इसका महत्त्व बढता है, यह युद्ध करके शत्रुको परास्त करता है और विजय प्राप्त करता है। इन्द्रके सब पौरुष इस मनुष्यके पौरुष बनते हैं जब इसकी शक्ति विशेष प्रभावशाली बनती है।

यह सिरका वर्णन है और इन मंत्रोंमें मनुष्यके अन्यान्य अवयवोंका भी वर्णन आ गया है। अब सिरका वर्णन करते हुए वेदने सिरपर पगडी रखनेका भी वर्णन किया है–

शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥ ऋ. ५।५४।११

विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः।

ऋ० ८।७।२५

' सिरपर जरतारीका साफा बंधा रहता है। ' ऐसे मंत्रोंमें सिरपर पगडी, साफा अथवा शिरोवेष्टनका उल्लेख है। यह साफा ' हिरण्ययी ' जरतारीका होता था, सुन्दर होता था। ऐसा भी यहां कहा है। यहांतक सिरकी दिव्य शक्तियोंका वर्णन हुआ। यह वर्णन देखने योग्य है। और अपने सिरकी शक्ति इस वर्णनसे जाननी चाहिये। मनुष्यमें मुख्य सिर ही है। वेद तो इसको देवकोश कहता है, देवमंदिर और सप्त-ऋषियोंका आश्रम कहता है। यह महिमा अपने सिरकी है। मनुष्यको उचित है कि वह इस महिमाकी सुरक्षा करे अथवा यह महिमा बढावे। '

शरीरके रोग

शरीरका तथा सिरका यह वर्णन हुआ। परंतु यदि यह मानवी शरीर है, तब तो उसमें दोष भी हो सकते हैं उन दोषों और रोगोंका भी वर्णन वेद कर रहा है देखिये–

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जंभयामसि॥

अथर्व० २।३१।४

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते॥

अथर्व० २।३३।१

शीर्षामयमुपहत्यां अक्ष्योस्तन्वोरपः।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करत् दैवं समह वृष्ण्यम्॥

अथर्व० ५।४।१०

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम्॥ २१।

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्ग-
भेदमशीशमः ॥ २२ ॥ अथर्व० ९।८
शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे
अथर्व० ९।८।१

(१) आन्तडियोंमें होनेवाले, सिरमें होनेवाले और पसलियोंमें होनेवाले क्रिमियोंको, (अवस्कवं) नीचेकी ओर जानेवाले और (वि-अध्वरं) विविध मार्गोंसे पीडा देनेवाले कृमियोंको (दषसा) बचासे हम विनष्ट कर देते हैं।

(२) तेरी आंखोंसे, नासिकाओंसे, कानोंसे, ठोडीसे, सिरसे, मस्तिष्कसे और जिह्वासे तेरे यक्ष्मरोगको मैं दूर करता हूँ।

(३) सिरके रोगको, आंखोंकी दुर्बलताको, शरीरके हर-एक रोगको यह कुष्ट औषधि दूर करती है, निश्चयसे यह दैवीबल देनेवाली कुष्ठ औषधि है।

(४) तेरे पांवोंसे, गोडोंसे, चूतडोंसे, गुह्यभागसे, रीढसे, गर्दनसे और सिरसे तुम्हारे अन्दरके सब रोगोंको मैंने दूर किया है। तेरे सिरके जो कपाल हैं और हृदयको जो दधुक् है और तेरे सिरमें जो पीडा है और अंगों तथा अवयवोंमें जो पीडा है, उस सब प्रकारकी पीडाको मैं दूर करता हूँ।

(५) सिरकी पीडा, सिरका दर्द, कर्णोंकी पीडा, रक्तका कम होना, तथा सब अन्य प्रकारके शिरोरोगोंको हम दूर करते हैं।

इस तरह शिरकी पीडा तथा शरीरके अन्यान्य अवयवोंके दर्दों और दुःखोंको दूर करनेके विषयमें वेदमें अनेक मंत्रोंमें नाना उपाय बताये हैं। वचा वनस्पतिका उपयोग कृमिरोग दूर करनेके लिये किया जाता है, कुष्ठ वनस्पति शरीरको अनेक रोगोंसे बचाती है। सूर्य किरण, जल, तथा अन्यान्य प्रकारकी औषधियां उपयोगमें लाकर शरीर नीरोग और स्वस्थ रखना चाहिये। शरीरसे ही मनुष्यकी उन्नतिका अनुष्ठान होना है, इसलिये शरीरको नीरोग रखना जैसा आवश्यक है वैसा ही शरीरको बलवान तथा कार्यक्षम बनाना भी आवश्यक है। यहांतक हमने देखा कि शरीरको नीरोग बनानेके विषयमें जैसा वेदमंत्रोंने मार्गदर्शन किया है उसी तरह शरीरकी शक्तियां बढानेका और उन शक्तियोंको राष्ट्रसेवामें लगानेका भी उत्तम उपदेश वेदमें हैं।

काले बाल बढें

सिरपर काले बाल बढें इस विषयमें एक मंत्रमें स्पष्ट कहा है—

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि।
अथर्व० ६।१३७।२-३

'जैसा घास बढता है, उस तरह सिरपर काले बाल बढें।' 'अपलिताः केशाः' (अथर्व० १९।६०) बाल सफेद न हों। काले ही हों ऐसा कहा है। इसीकी पुष्टि इस मंत्रने की है और कहा है कि 'ते शीर्ष्णः परि असिताः केशा वर्धन्तां' तुम्हारे सिरपर काले बाल बढें। श्वेत बाल नहीं चाहिये, परंतु काले बाल सिरपर हों और वे 'नृडा इव' नडोंके समान बढें। काले बालोंसे शरीरका सौंदर्य बढता है वैसा श्वेत बालोंसे नहीं बढता। और शरीरमें सुंदरता रहनी चाहिये यह आवश्यक ही है; इसलिये काले बाल सिरपर रहें और बढें ऐसा कहा है।

सिरके विषयमें वेदमंत्रमें एक उत्तम उपमा दी है वह अब देखिये—

तिरछे मुखवाला लोटा

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो
निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त
साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ अथर्व. १०।८।९

'तिरछे मुखवाला और जिसकी बुंधा ऊपरकी ओर है ऐसा एक लोटा है, उसमें सब प्रकारका यश रखा है। वहां सात ऋषि साथ साथ बैठते हैं जो इस महान शक्तिशालीके रक्षक हैं।'

मनुष्यका सिर ठीक लोटेके समान है, पर इसका मुख जरासा तेढा है। इस लोटेका नीचला भाग ऊपरकी ओर है। जैसा उलटे लोटेका रहता है, परंतु इसका मुख ठीक नीचेकी ओर नहीं है, परंतु जरा तिरछा है। विश्वरूपी यश इसमें है। संपूर्ण जो विश्व है उसका सब ज्ञान इस लोटेमें अर्थात् मस्तिष्कमें रहता है। कितना भी ज्ञान हो, वह सब इतनेसे लोटेमें रहता है। जितना चाहिये उतना ज्ञान इस लोटेमें- इस सिरमें-डालते जाओ उसमें वह रहेगा। इसमें नहीं रह सकता ऐसा ज्ञान ही इस विश्वमें नहीं है।

यह सिररूपी लोटा छोटासा ही दीखता है, छोटेसे लोटेके समान ही यह स्थान है, परंतु इसमें संपूर्ण विश्वका संपूर्ण ज्ञान रहा है।

इसी लोटेमें और सात सुराख हैं, वे दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात इन्द्रिय हैं, ये इस लोटेमें सुराख जैसे हैं। इन सात सुराखोंमें सात ऋषि रहते हैं। ये ही इन सप्तऋषियोंके आश्रम हैं, यहां रहकर ये सप्त ऋषि तपस्या करते हैं। ये सात ऋषि इस लोटेके अथवा इस शरीरके संरक्षक हैं। ये इसकी रखवाली करते हैं। सिरमें सात ऋषि रहते हैं ऐसा और भी एक मंत्रमें है—

सप्त ऋषियोंका आश्रम

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

वा. य. ३४।५५

'(प्रति शरीरे) प्रत्येक शरीरमें सप्त ऋषि (हिताः) रखे हैं। ये सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें रहते हैं। प्रमाद न करते हुए ये सप्तऋषि इस (सदं) शरीररूपी घरका उत्तम संरक्षण करते हैं। जब (स्वपतः लोकं) सोनेवाले आत्माके स्थानको ये सात (आपः) जीवन प्रवाह जाते हैं, (तत्र) उस समय (अ-स्वप्नजौ) न सोते हुए (सत्र-सदौ देवौ जागृतः) इस यज्ञ भूमिके रक्षणके लिये सतत जागृत रहनेवाले प्राण और अपान ये दो देव जागते रहते हैं। ये इस शरीरका रक्षण करते हैं।

दो नेत्र, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात इंद्रिय यहां सप्तऋषि हैं। कईयोंके मतसे यहां वर्णन किये सप्तऋषि त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि ये हैं। ये सात ऋषि कौनसे हैं ऐसी शंका यहां हो सकती है। इससे पूर्व 'उल्टे लोटे' का वर्णन आया है। उस वर्णनमें बताया है कि इस तिरछे मुखवाले लोटेमें सात ऋषि बैठे हैं। ये दो नेत्र, दो कान, दो नाक और एक मुख ये ही हैं, अतः येही सप्तऋषि यहां भी लेना उचित है। ये सात ऋषि इस सिरमें हैं।

ये ही सात नदियां हैं। ये नदियां जाग्रतिमें बाहर की ओर जाती हैं और निद्राके समय येही नदियां पुनः अन्दर आत्माकी ओर प्रवाहित होती हैं। जाग्रतिमें आत्मासे निकल कर बाहर विश्वमें जाना और निद्राके समय बाह्य विश्वसे निवृत्त होकर अन्दर आत्माकी ओर वापस आना, यह इनका कार्य सतत चल रहा है। ये सात नदियां इस तरह अन्दरसे बाहर और बाहरसे अन्दर प्रवाहित होती है। जाग्रति और निद्राका यह प्रवाह ऐसा सतत चालू है। यही जीवनका रहस्य है। यही अपनी शक्तिका माहात्म्य है। यही देखना और समझना चाहिये।

जिस समय ये सात प्रवाह बाह्य विश्वसे वापस होकर अपने आत्मामें विलीन होते हैं उस समय ये सातों विलीन होनेके कारण इस समय ये संरक्षणका कार्य कर नहीं सकते। इस समय इसका कौन रक्षण कर सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इस मंत्रने दिया है वह यह है कि—

तत्र जागृतः अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।

उस समय दो देव जागते हैं, ये दो देव पहारा करते हुए सतत इस शरीरका संरक्षण करते हैं। यहां स्मरण रखना चाहिये वह यह कि ये दो देव सोते हुए और जागते हुए दोनों समयोंमें इस शरीरका संरक्षण करते हैं। जन्मसे लेकर मृत्यु तक इन दोनों देवोंका सतत, अखंड और प्रमाद न करते हुए पहारा चालू है। इनका संरक्षण बंद हुआ तो मृत्यु ही है ऐसा समझना चाहिये। अन्य सात ऋषि अपना कार्य करते रहें और इन दो देवोंने अपना यज्ञ रक्षणका कार्य बंद किया, तो राक्षस उस यज्ञका नाश तत्काल करेंगे। प्राण और अपान ही ये दो देव हैं। प्राणने अपना कार्य बंद करनेपर शरीरके मरनेमें कोई संदेह ही नहीं है। और शरीरकी मृत्यु होनेपर आंख, नाक, कान, आदि ऋषि भी मर जायंगे इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है।

विश्वामित्रका यज्ञ

विश्वामित्रके यज्ञका रामलक्ष्मण संरक्षण करते थे इस कथाका भाव भी यही है। विश्वामित्र ऋषि यज्ञ करता था। उसके साथी और ऋषि थे। परंतु उस यज्ञपर राक्षसोंका आक्रमण होता था। इन राक्षसोंका नाश करके यज्ञका रक्षण करनेके लिये दशरथपुत्र राम और लक्ष्मण अयोध्यासे लाये गये। और इन दोनों कुमारोंने विश्वामित्रके यज्ञका रक्षण किया और इस कारण वह यज्ञ योग्य रीतिसे समाप्त हो सका।

इस यज्ञका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि यहां इस शरीरमें ही विश्वामित्रका यज्ञ चल रहा है। यहां प्राण

अपान रूपी रामलक्ष्मण इस शरीररूपी यज्ञका संरक्षण कर रहे हैं। इनसे योग्यरीतिसे संरक्षण होनेपर यह शरीर १२५ वर्ष जीवित रहता है, यहां २४ वर्षोंका प्रातःसवन है, ३६ वर्षोंका माध्यंदिन सवन है और ४८ वर्षोंका तृतीयसवन होता है। १०८ वर्ष इस तरह यज्ञके तीन सवनोंके होते हैं। इसमें बालपनके ८ वर्ष मिलाये जांय तो ११६ वर्षोंका जीवन होता है। यह ११६ वर्षोंतक मनुष्य कार्यक्षम रहना चाहिये। इस आयुके पूर्व मनुष्य क्षीण, जीर्ण अथवा दीन नहीं होना चाहिये। इससे अधिक आयु प्राप्त करे, पर इससे पूर्व मृत्यु नहीं होनी चाहिये। इसीलिये यह सब मंत्रोंका उपदेश है।

बाहुओंमें बल चाहिये

अबतक सिरका विचार हुआ। इस विचारके साथ मंत्रमें आये कई अन्य अंगोंका भी विचार हुआ। अब हम बाहुओंका विचार करेंगे।

" बाह्वोर्बलम्। " बाहुओंमें बल रहना चाहिये यह वेदका आदेश है। ' इन्द्रादयो बाहव आहुरुक्ताः ' इन्द्र आदि देवताएं परमात्माके बाहु हैं। अर्थात् इन्द्रादि देवताओंका वर्णन परमेश्वरके बाहुओंका वर्णन है। बाहु कैसे होने चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर इन्द्रके जैसे होने चाहिये यह है। इसका वर्णन करनेवाले ये मन्त्र हैं-

१ भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु ॥ ऋ० १।१६६।१०
२ सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः ॥ ऋ० २।३६।५
३ सह ओजो बाह्वोर्वां बलं हितम् ॥ ऋ० ५।५७।६
४ ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू ॥ ऋ० ६।४७।८
५ उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता ॥ ऋ० ७।४५।२
६ उभा ते बाहू वृषणा ॥ ऋ० ८।६१।१८
७ बाह्वोर्भूयिष्ठमोजः ॥ ऋ० ८।९६।३
८ उग्रा वः सन्तु बाहवः ॥ ऋ० १०।१०३।१३
९ बाहू राजन्यः कृतः ॥ ऋ० १०।९०।१२

" (१) मानवोंका हित करनेवाले बाहुओंमें बहुत ही कल्याण करनेवाले बल हैं। (२) तुम्हारे बाहुओंमें सामर्थ्य और शत्रुका पराभव करनेका बल है। (३) तुम्हारे बाहुओंमें बल, ओज और विजय प्राप्त करनेकी शक्ति है। (४) तुम्ह बडे वीरके बाहू बलवान् हैं। (५) इसके बाहू बडे हृष्टपुष्ट हैं। (६) तुम्हारे दोनों बाहू बडे बलिष्ठ हैं। (७) तुम्हारे बाहुओंमें विशेष ओज है। (८) तुम्हारे बाहु उग्र हैं। (९) बाहु ही (शरीरमें) क्षत्रिय हैं। "

इस तरह बाहुओंका वर्णन है। यह वर्णन इन्द्रके बाहुओंका हो अथवा मारुतोंके बाहुओंका हो; परंतु यह वर्णन आदर्श बाहुओंका है इसमें संदेह नहीं है। बाहु ऐसे होने चाहिये। बाहुओंमें बल हो और वह बल निर्बलोंकी सुरक्षाके लिये लगे। (भूरीणि भद्रा) बहुत कल्याण करनेवाले बल होने चाहिये। शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, ओज, बल, आदि सब प्रकारके सामर्थ्य बाहुओंमें होने चाहिये। शरीरमें सिर ब्राह्मण है और बाहु क्षत्रिय है। तो क्षत्रियका कार्य कष्टोंसे बचाना है। बाहू बलवान बनाये जांय और उनके बलसे निर्बलोंका संरक्षण हो जाय। बाहु उग्र हों, अर्थात् दीखनेमें बडे शक्तिशाली और सामर्थ्यवान् दीखें और कार्य भी वैसा ही करें।

महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितम् ॥
ऋ० १।८०।८

' इन्द्रका वीर्य बडा है और बाहुओंमें बल रखा है। ' अर्थात् शरीरमें बडा वीर्य चाहिये और बाहुओंमें बडा बल चाहिये। शूरके बाहु शस्त्रोंको चलाते और शत्रुओंको परास्त करते हैं इस विषयमें ये मंत्र देखिये—

बाह्वोर्वज्रमायसम् ॥ ऋ० १।५२।८
शुभ्रं वज्रं बाह्वोर्दधानाः। ऋ० २।११।४
दधानो वज्रं बाह्वोरुशन्तम्। ऋ० ४।२२।३
नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा।
ऋ० ८।९३।२

प्र बाहवः पृथुपाणिः सिसर्ति। ऋ० २।३८।२
उग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान्। ऋ० ४।२२।२

" बाहुपर लोहेका (फौलादका) वज्र धारण किया है। तेजस्वी वज्र बाहुओंपर धारण किया है। चमकनेवाला वज्र बाहुओं द्वारा धारण किया है। शत्रुके निन्यानवे नगर बाहुओंके सामर्थ्यसे उस वीरने तोड दिये। बाहु और हाथ विशाल हैं। वह वीर बाहुओंके सामर्थ्यसे उग्र दीखता है अतएव वह नेताओंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। "

यह सब बाहुओंका वर्णन वीरता, उग्रता और शूरताको बतानेवाला है।

पांवोंके विषयमें

पांवोंके विषयमें वेदमंत्रोंमें क्या कहा है सो अब देखिये–

ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगासि । ऋ० १०।७३।३

'जिनसे तुम चलते हो वे तुम्हारे पांव पुष्ट हैं, शक्तिवाले हैं।' पांवमें शक्ति चाहिये यह इसका भाव है और देखिये–

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् । अथर्व. १४।१।६०

'भग देवने ये तुम्हारे पांव बनाये हैं।' अर्थात् ये पांव भाग्य लानेवाले हैं। इसीलिये–

श्रिये ते पादा दुव आ मिमिक्षुः । ऋ० ६।२९।३

'जो भक्त तुम्हारा आशीर्वाद और ऐश्वर्य चाहते हैं, वे तुम्हारे पांवका आश्रय लेते हैं।' यहां पांवका आश्रय करनेसे श्रेष्ठोंका आशीर्वाद मिलता है और उससे ऐश्वर्य प्राप्त होता है ऐसा कहा है। यह पांवका आश्रय श्रेष्ठ पुरुषके पांवका आश्रय है। तथा–

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
अथर्व. १।२७।४

'पांव चलें, स्फुरण उत्पन्न करें, याजकोंके घरोंतक पहुंचावें।'

यहां पांवोंका कार्य बताया है। पांवमें गति चाहिये, स्फुरण चाहिये अर्थात् गतिमें शीघ्रता चाहिये। चलना हो तो शीघ्र गतिसे चलना चाहिये यह इसका तात्पर्य है। अब एक मंत्र पांवोंके विषयमें देखिये–

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां... बलिं हरन्ति ।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
अथर्व. १०।७।३९

'हाथों और पांवोंसे जिस आत्माको अर्पण करनेके लिये देव बलि लाते हैं वह सबका आधारस्तंभ है।' यहां कहा है पांव जो गमनागमनका कार्य करते हैं वह आत्माके लिये समर्पण करनेके लिये हैं। सभी इंद्रियां इसी आत्माके लिये कार्य करती हैं, उनमें ये पांव भी आत्माके लिये ही अपना कार्य अर्पण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि आत्माके लिये ही सब इंद्रियोंका कार्य होना चाहिये। पांवका चलना भी आत्माके लिये ही होना चाहिये। आत्माका अहित हो ऐसा कोई कार्य पांवोंसे नहीं होना चाहिये। कितनी दक्षता वेद दे रहा है वह देखिये। अस्तु।

यहां बताया है कि पांवका गमनका कर्म आत्माके हितके लिये होना चाहिये और इसीके लिये पांवमें बल और पुष्टी आदि गुण होने चाहिये।

यहांतक मनुष्यके दिव्य शरीरको परम उच्च अवस्थातक पहुंचनेके लिये क्या करना चाहिये इसका वर्णन किया है। मनुष्य यहां आया है, मनुष्यने जो जन्म लिया है वह अपने जीवनका सार्थक करनेके लिये ही है। मानव जन्ममें ही यह सार्थकताका अनुष्ठान किया जा सकता है। दूसरे किसी देहमें यह शक्ति नहीं है। इसीलिये वेदने इस देहको '**ऋषि आश्रम**' तथा '**देवमंदिर**' कहा है। बौद्धोंने इसी शरीरको 'पीप-विष्ठाका गोला' मानकर जो निंदा की है वह सर्वथा अयोग्य है और वेदविरुद्ध होनेसे यह कल्पना ही दूर फेंकने योग्य है।

इस शरीरकी ईश्वरकी आयोजनाके अनुसार बनावट हुई है। इसलिये यह निंदनीय वस्तु नहीं हो सकती। "**आत्मानं न निंद्यात्**" आत्मनिंदा नहीं करनी चाहिये। यह आर्योंकी पद्धति थी। जो विचार हम मनमें रखते हैं वैसा मन बनता है। इसलिये कभी हीन विचार मनमें रखने नहीं चाहिये। इसीलिये शरीरको ऋषि आश्रम मानकर इसको पवित्र बनानेकी पराकाष्ठा करनी चाहिये।

यह मानवी शरीर उत्तमसे उत्तम पुरुषार्थको सिद्ध करनेका परमश्रेष्ठ साधन है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारों पुरुषार्थ यहां इस शरीरके उपयोगसे सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये शरीरको सुरक्षित तथा कार्यक्षम रखना अत्यंत आवश्यक है। यह शरीर एक अद्भुत यंत्र है और सब यंत्रोंसे यह यंत्र सुकोमल है, इस कारण जैसा इससे उत्तम कार्य लेना चाहिये उसी तरह इसके हरएक अंग अवयव और इंद्रियको सुरक्षित सबल तथा दीर्घजीवी रखना चाहिये। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये कि जिससे इस शरीरका नाश हो अथवा इसमें क्षीणता उत्पन्न हो सके। इसकी सूचना देनेके लिये ही '**अ-दीनाः स्याम शरदः शतं**' हम सौ वर्ष पर्यंत अदीन अर्थात् सामर्थ्यवान होकर रहें ऐसा कहा है।

मनुष्यकी आयुमें आठ वर्ष बालपनके हैं और कमसे कम १२ वर्ष विद्याध्ययनके होते हैं। इस तरह २० वर्ष मानवकी तैयारीमें चले जाते हैं। इसके पश्चात् इस मानवने सौ वर्ष दीन न होते हुए रहना है। ऐसा यह १२० वर्षोंका मान-

बीय जीवनका कार्यक्रम है। सौ वर्ष सौ क्रतु इसने करने हैं और शतक्रतु होना है। अपनी आयुमें सौ ऐसे कार्य करने की जिनसे शिष्टोंका संमान हो, आपसकी संघटना हो और दीनोंकी दीनता दूर की जाय। ये कार्य इसने १०० वर्षतक करने हैं। इस यज्ञमें रोग अपमृत्यु आदिका उपद्रव बीचमें नहीं होना चाहिये। रोग ही इस यज्ञपर राक्षसोंका आक्रमण हैं। यह न होते हुए इस साधकने सौ वर्षोंमें सौ यज्ञ करने हैं। दक्षतासे मनुष्य रहेगा, खान पान विहार भोग आदिके संबंधके अत्याचार यह न करेगा तो ही यह अदीन बनकर इतनी पूर्ण आयुतक जीवित रह सकेगा।

इसीलिये वेदमें सीरसे पांवतक एक एक अंग और अवयवका नाम लेकर उस अवयवको पुष्ट तथा कार्यक्षम रखनेका निर्देश तथा उपदेश किया है। इतना बारीकीके साथ दक्षताका उपदेश देनेका प्रयोजन यही है कि मनुष्य प्रमाद न करे, दुर्लक्ष्य न करे, सदा सावध रहकर अपने अवयवोंको पवित्र बलिष्ठ और कार्य करनेमें समर्थ बनावे।

वेद वारंवार कहता है कि " सर्वमायुः जीव्यासं " संपूर्ण आयुतक हम जीवित रहें। यही उपदेश वेदने वार बार किया है। यह ' पुनरुक्ति ' नहीं है, परंतु यह ' अभ्यास ' है। जो इस तरह वारंवार उपदेश किया जाता है वह उस ज्ञानके दृढ होनेके लिये कहा जाता है। इस ओर किसीका दुर्लक्ष्य न हो।

आगे ३४ धन्यताके साधन अपने पास करनेका उपदेश है। इनमें कई वैयक्तिक उन्नतिके लिये और कई राष्ट्रीय उन्नतिके लिये हैं।

' ब्रह्म, क्षत्रं, राष्ट्रं, विशः ' ऐसा क्रम है। राष्ट्रकी एक ओर ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं और दूसरी ओर वैश्य शूद्र अपने धनधान्यके साथ हैं। ऐसा यह राष्ट्र है। ज्ञानी वीर और धनी मिलकर जिस राष्ट्रकी सहायतार्थ दक्ष रहते हैं वह राष्ट्र बलवान होनेमें कोई संदेह नहीं है। राष्ट्र न रहे तो अकेली व्यक्ति कुछ भी कर नहीं सकती। राष्ट्र पीछे सहायतार्थ रहेगा तो अकेली व्यक्ति भी बहुत कुछ कर सकती है। इसलिये राष्ट्रकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिये। मनुष्य अपनी शक्ति बढावे, अपने अन्दर सामर्थ्य लावे और उससे राष्ट्रकी सेवा करे। प्रत्येक मनुष्य मरणधर्मा है परंतु मानवोंका संघ अमर है। इसलिये व्यक्तिको अपनी शक्तियोंका समर्पण राष्ट्रके यशके लिये करना उचित है।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

वा. यजु. २०।२५

' जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर कार्य करते हैं वह राष्ट्र पुण्यकारक है और वही बुद्धिसे स्वीकारने योग्य है।'

इस तरह वेदमंत्र द्वारा ब्राह्मणक्षत्रियकी परस्पर मित्रता होगी तो वह राष्ट्र सुखी हो सकता है ऐसा कहा है वह राष्ट्रीय दृष्टिका बडा भारी महत्त्वका आदेश है। ज्ञानी और वीरोंमें राष्ट्रमें वैमनस्य नहीं होना चाहिये। जहां ज्ञानी और शूरोंमें वैमनस्य होता है वह राष्ट्र पतित हो जाता है, वह उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

जहां जिस आदेशकी आवश्यकता होती है वहां वह आदेश वेद देता है। यहां देखिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शूद्रोंने अपनी वैयक्तिक उन्नति की, ये उच्च अवस्थामें पहुंचे, ये सबल, प्रभावी तथा सामर्थ्यवान बने। पश्चात् ये आपसमें झगडने लगे तो राष्ट्रपर आपत्ति आ जायगी, इसलिये चारों वर्णोंमें एकता रहनी चाहिये इस हेतुसे ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकता हो ऐसा यहां कहा है।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नः कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

वा० यजु० १८।४०

" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अर्थात् हमारे राष्ट्रके सब लोगोंमें तेजस्विता रखो। " सब लोग तेजस्वी बनें। सब लोग ज्ञानी और बलवान बनें और सब संगठित होकर सबका उद्धार करें।

यह है व्यक्तिकी उन्नति और राष्ट्रके लिये सबकी सेवाका समर्पण। ऐसा होनेसे ही राष्ट्रका तेज फैलेगा।

व्यक्तिकी उन्नति होनेके लिये योगसाधन प्राणायाम आदि साधन हैं। साथ साथ औषधिसेवन तथा हिरण्य धारण ऐसे भी साधन हैं। शरीरपर सुवर्ण रत्नमणि आदिका धारण करनेसे शरीरके रुधिर प्रवाह पर इष्ट परिणाम होता है और शरीर स्वास्थ्य अच्छी तरह सुधरता है। इसलिये ये उपाय भी वेदने बताये हैं।

" राष्ट्राय परिधत्तन " राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये पदार्थोंका धारण करो यह आदेश है। अपने भोग भोगनेके लिये किसी वस्तुका धारण करना नहीं है, परंतु राष्ट्रसेवा अच्छी तरह करनेकी शक्ति अपनेमें बढे इसलिये स्वयं

किसी वस्तुका धारण करना चाहिये। कितना बहुमूल्य यह उपदेश है?

मनुष्यका मस्तिष्क देवकोश है। सब देव और देवोंकी शक्तियां इस कोशमें रहती हैं। यह सबको ध्यानमें धारण करनेकी आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्य अपने मस्तिष्कका यह महत्त्व जानें और अपने मस्तिष्कका संरक्षण उत्तम रीतिसे करता रहे। मस्तिष्कका संरक्षण करनेका यह अर्थ है कि देवोंकी अनंत शक्तियोंका संरक्षण। यह जितना उत्तम होगा उतना मनुष्यका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध हो सकता है।

हृदय और मनको एकत्र सीनेका उपदेश यहां दिया है। यदि यह न किया तो हृदयकी भक्ति अत्यधिक बढनेसे तर्क-शून्यता उत्पन्न होकर मनुष्यमें भोलापन बढेगा। अथवा मनकी तर्कशक्ति बढानेसे वह तर्क ही करके नास्तिकताको पहुंचेगा। इसलिये हृदय और मस्तिष्क एक कार्यमें समभावसे लगाये जांय तो ही मनुष्यका समविकास होगा। मानवी उन्नतिमें इस उपदेशका महत्त्व अत्यंत है। प्रत्येक मनुष्य वेदके इस उपदेशको ध्यानमें रखे और ऐसा अवश्य करे।

'मेरा सिर ब्रह्मका स्थान है।' ब्रह्मका ज्ञानस्वरूप है वह सिरमें रहता है। प्रत्येक मनुष्यको इसका पता है। परंतु प्रत्यक्ष ब्रह्म तथा विराट्का स्थान सिर है यह बहुत ही थोडे लोग जानते हैं। इसलिये वेदमंत्रने यहां कहा है कि सिर ब्रह्म है। सिर विराट् है। इससे अपने सिरके महत्त्वका पता लग जाता है। इसलिये सिरका अच्छीतरह संभाल करना चाहिये। सिरका बचाव किया जावे। सिरको सुरक्षित रखा जाय यह उपदेश यहां है।

शरीरके हरएक अवयवके विषयमें वेदने इस तरह ज्ञान दिया है। मनुष्य इसको जाने, अपने शरीरके बल सामर्थ्य और ओजको बढावे, अपना ज्ञान बढावे और शक्तिसामर्थ्यको राष्ट्रके हित करनेमें समर्पण करे और अपने जीवनका सार्थक करे। समष्टि जीवनसे ही अमरत्व प्राप्त होता है।

विषय-सूची

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)